वास्तविक स्वतन्त्रता
अर्थात्
असली आज़ादी

लेखक—

पं० रुलियाराम 'कालिया'

पैंशनर हैड पोस्ट मास्टर

जालन्धर शहर।

* हरिः ॐ तत्सत् *

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः ॥
मनु० ४।१६०

—: वास्तविक स्वतन्त्रता :—

अर्थात्

॥ असली आज़ादी ॥

लेखक—
पं० रुलियाराम 'कालिया'
पैंशनर हैड पोस्टमास्टर
जालन्धर शहर ।

संवत् २००८

प्रथमावृत्ति २०००] — [मूल्य २ रुपये

लेखक—
पं० रुलियाराम कालिया
पैंशनर हैड पोस्टमास्टर
जालन्धर शहर

प्रथम संस्करण
अक्तूबर १९५१

मुद्रक—
हाँडा इलैक्ट्रिक प्रेस, जालन्धर शहर में
ला० केशव चन्द्र हाँडा बी० ए० मैनेजिङ्ग प्रोप्राइटर
के अधिकार में छपी।

॥ भूमिका ॥

अध्यायों में अविभक्त, शीर्षों से शून्य, शृङ्खलावद्ध इस गाथा में भिन्न २ धर्म और राजनैतिक मतों के संक्षेप से गुण दोष दिखाने से मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु स्वतन्त्र भारत में भारत-वासियों को एक दूसरे को समझने और विचारों की भिन्नता अशान्ति का कारण न बने और असली आज़ादी से परिचय कराने के लिये यह जरूरी है कि वह अपने से विरोधी विचार सुन सहन-शील बन अपने मन, मत और नीति का स्वयं निरीक्षण करें, तभी इन्हें ज्ञात होगा कि मन मानी स्वतन्त्रता दुःखदाई और वास्तविक स्वतन्त्रता सुख मूलक है। स्वतन्त्रता और दुःख दो विरोधी बातें हैं जो परस्पर एक मनुष्य में नहीं रह सकतीं।

कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो शरीर मन और बुद्धि आदि को स्वः और अपने आप को इन का स्वामी न मानता हो। सच पूछो तो यह झूठा अभिमान है, क्योंकि इतिहास साक्षी है, कि जो भी इन का असली मालिक बन गया, उस को ही स्वराज्य प्राप्त हुआ और उसी ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। वह अभय पूर्णकाम, परम सुखी और साधारण मनुष्यों से विलक्षण शक्ति का स्वामी देखा गया है। इन महापुरुषों की ऐसी अवस्था देख सुन कर ही जनता उन की अनुयायी कहलाने में गौरव मान रही है।

ऐसे महापुरुषों ने ईश्वर के नाम से अथवा अपनी ओर से हमारे लिये ऐसे उपदेश छोड़े, जिन पर चलने से हम भी उसी पद की प्राप्ति कर सकते हैं। हम में और उन में इतना अन्तर है, कि वह अपने मन के स्वामी थे और हम स्वामीपन के झूठे अभिमानी हैं। हम भी यदि अपने मन पर काबू पा लें तो संसारी वासनाओं से मुक्त होने में कोई कसर नहीं रह सकती और कोई कामना हो भी तो वह शुभ ही होगी और उस की पूर्ति में कोई बाधा नहीं डाल सकता। आज भी हम देखते हैं कि हिपनाटिज़म और मैसमरेज़म करने वाले दीवार की ओट में धरी हुई वस्तु देख लेते हैं, और हमारी तुम्हारी जेबों में पड़ी हुई अज्ञात चीजें भी बता देते हैं, फिर योगी और ज्ञानी के मानसिक संकल्प में रुकावट कैसी ?

मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह अपनी प्रसन्नता के लिए जो चाहे सो करे, उसे रोकने और टोकने वाला कोई ना हो, पर स्नेह-वश माता जैसे अबोध बालक को अग्नि में हाथ डालने की चेष्टा नहीं करने देती, वैसे ही कानून मनुष्य को सावधान करता है, कि यदि तुम ने मेरी आज्ञा का उलङ्घन किया, तो सुख के स्थान में दुःख पाओगे। मेरा कर्तव्य है तुम्हारे जान, माल और स्वतन्त्रता की रक्षा करनी और यदि तुम ने मन, धन और राज्य मद के अभिमान में किसी को भी सताया, तो तुम भी दण्ड से बच न सकोगे। वास्तव में विधान की आशा तो ऐसी ही है पर आज कई अपराधी बच भी जाते हैं और कई मनुष्यों के साहस को बढ़ाने का कारण बनते हैं, जिन को सच्ची घटना का ज्ञान था और जो तनिक संदेह के हेतु

झूठ तुल्य बन गई अथवा घूस खोरी और सफारिश काम आई। यह सिलसिला तब तक बन्द भी होने से रहा, जब तक कि हम स्वयं सदाचारी नहीं बनेंगे और सदाचारी को अपने वोट का पात्र न समझेंगे। सदाचार के विषय में दृष्टि कोणों की भिन्नता है इस लिए भारत अथवा सकल संसार इस विषय में एक बात पर सहमत कैसे हो तो मैं कहूंगा कि धर्म के आधार पर एकता होने में कोई कठिनाई नहीं। अड़चन है तो इतनी कि जिन को धर्म के नाम से भी चिड़ है वह विरोध अवश्य करेंगे। धर्म विरोधी धर्म का बाहरी रूप देख कर ही इस का विरोध करते हैं. क्योंकि उन को ज्ञात है कि धम के नाम पर निरापराधी मनुष्य भी कई वार मारे गये, धम के नाम पर ही मनुष्य, मनुष्य से घृणा करता है। धर्म ही मनुष्य की स्वतन्त्रता का बाधक है, क्योंकि कई मत मतान्तर विशेष प्रकार के वस्त्रों को धारण करने, बाल बढ़ाने अथवा मुण्डवाने, कई प्रकार के खाद्य पदार्थों के न खाने में और इत्यादि कई ऐसी ही बातों में जकड़े रहने को धम समझ रहे हैं। सच पूछो तो धर्म के बाहरी रूप को देख धर्म के नाम से चिड़ने वालों ने धर्म को समझा ही नहीं। मैं तो यही कहूंगा कि संसार का कोई मनुष्य भी धर्म से बचा हुआ नहीं। जन्म से मरण पर्यन्त जिस में जो स्वाभाविक गुण एक समान बने रहें. उस को उस वस्तु का धर्म कहते हैं, जैसे दाह और प्रकाश अग्नि का धर्म है और वह हर समय हर स्थान में उस के संग रहता है तभी तक अग्नि है और तभी तक सिंह, सर्प आदि हिंसक जीव भी उसके निकट नहीं आते, राख होने पर तो कीड़ियां भी उसके ऊपर चलती हैं।

सदा बने रहने, सर्व ज्ञाता होने, सदैव परमानन्द की प्राप्ति की कामना, स्वयं स्वतन्त्रता चाहते हुए अन्य सभी को अपने आधीन देखने की तृष्णा हर एक मनुष्य में विद्यमान है अर्थात् मानव धर्म है, अमर, अविनाशी, ज्ञान और आनन्द स्वरूप, स्वतंत्र और सब का स्वामी होने की भावना। सच्चिदानन्द स्वयंभु और सकल संसार का अधिपति नारायण के गुण हैं न कि नर के, पर कोई नर नारी ऐसा नहीं जिस में ये न झलक रहे हों और वह येन केन प्रकार से अपने ऐसे स्वराज्य की प्राप्ति का यत्न न कर रहा हो। उदाहरण अर्थ कंगाल खर्वपति भी बन जाए तब भी उसे संतोष नहीं, क्योंकि वह सभी संसार का सकल धन अपने वशी भूत नहीं कर सका और ऐसा हुये विना उसे शांति कहां ? पार्थिव गोला आकाश की ओर फैंका हुआ जब तक अपने अशी पृथिवी से न मिले, तब तक इधर उधर लुड़कता रहता है। जैसे पानी अपने केन्द्र समुद्र की ओर दौड़ता है और अग्नि की लाट अपने अंशी सूर्य को मिलने के लिए ऊपर को सिर उठाए रहती है, वैसे ही हमारा जीवात्मा अपने अंशी परमात्मा से एकमेक हुये विना परम शान्ति का मुंह नहीं देखता। आत्म ज्ञान से अतिरिक्त इस का और कोई उपाय नहीं, इसी को Know Thyself "तू अपने आप को जान" (किरानी)। "तहकीक जान लिया उस ने खुदा को जिस ने पहचान लिया अपने आप को' (कुरानी), "आप पहचाने ज्ञानी सोइ" सोहम भेद न कोई जीओ' (ग्रन्थ साहिब)।

दह दिश ढूंढत हम फिरे कहीं न पायो ठौर।
कबीरा फिर सो तू भया जा को कहता और॥

ऐसे ही और भी मत इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। व्यवहार में जिन नियमों के पालने से हमारी उन्नति और कल्याण हो और परलोक भी सुधरे और हम दूसरों की अवनति और हानि का कारण न बनें अपने कर्तव्य को इस प्रकार पूरा करना धर्म कहा जाता है। मैं नहीं चाहता कोई मुझे शारीरिक कष्ट दे, अथवा प्राण दण्ड दे, या मेरे सुख के साधन धन, भूमि, मकान, पशु, स्त्री आदि छीन ले, मुझे धोखा दे, मेरे सङ्ग झूठी प्रतिज्ञा करे, मुझे अपशब्द कहे या मेरी बहू बेटी को छेड़े इत्यादि और भी बातें जिस से मेरा मन दुःखी हो, फिर मैं दूसरों से वह वर्ताव क्यों करूँ, जो मैं चाहता हूँ कि वह मेरे साथ न करें। ऐसी आत्म-उपमेन-वृत्ति से बरतने का नाम धर्म है और मैं विश्वास पूर्वक कहता हूँ कि उस धर्म का कोई मूढ़ ही विरोध कर सकता है। इस को छोड़ संसार में शान्ति का इस से बढ़िया और कोई उपाय भी नहीं हो सकता। हमें चाहिये कि उस का अनुकरण करें, और इस नियम के भंग करने वाले को राज्य-दण्ड दिलाने के लिये सत्य और अहिंसा को अपनाते हुये पक्षपात रहित हो कर अग्रसर बनें। सदाचार का यह सब से उत्तम और श्रेष्ठ लक्षण है, जिस का प्रतिवाद होने से रहा।

आंख को अपना सुरमा देखने के लिये दर्पण की जरूरत है और दर्पण भी मल रहित हो। निर्मल दर्पण के होते हुये भी अन्धेरी रात में मुख नहीं दिखाई देता। प्रकाश और साफ़ शीशे में भी आंख भली-भान्ति दर्पण के स्थिर न होने की अवस्था में सुरमे को ठीक तरह से नहीं देख सकती।

वास्तविक स्वतन्त्रता आत्म-ज्ञान का दूसरा नाम है, जिस के स्वरूप को जानने के लिये शुद्ध और स्थिर मन की आवश्यकता है। मन को शुद्ध करने के लिये निष्काम कम की ज़रूरत है। वैदिक कर्म-काण्ड तो आज एक पहेली बन गया है। हमें अपने खाने को काफ़ी अन्न नहीं मिलता, शुद्ध घी तो लोप सा हो रहा है। इन दोनों पदार्थों की बहुलता बिना वैदिक-यज्ञ हर कोई कैसे कर सकता है। तैल से हवन करने का तो कोई विधान ही नहीं। प्राचीन हिन्दु-संस्कृति और भारतीय-सभ्यता को फिर से संसार को कल्याण-पथ दर्शक बनाने वालों का कर्तव्य है कि वह चुनाव में ऐसे मनुष्यों को वोट दें, जो गौ रक्षा के पक्षपाती हों, ताकि कृषि के लिये सस्ते बैल मिलें, दूध की भी बहुलता हो। यह तभी हो सकता है, जब राज्य की ओर से चर भूमि छोड़ी जाये, इसी में सभी भारत-वासियों का भला है। चमड़े के व्यापार से धन कमाने के पक्षपाती राज्य अधिकारी हमारा बल और आयु घटाने पर तुले हुये हैं. बलहीन को तो आत्म-ज्ञान भी नहीं हो सकता। विदेशी भी जिन का यह अनुकरण कर रहे हैं, इस बात को मान चुके हैं कि जिस देश के वासी दूध और दूध-से बनी हुई वस्तुओं का अधिक प्रयोग करते हैं. वही दीर्घ और आरोग्य आयु भोगते हैं और उन्हीं का कथन है 'Sound Mind in a Sound Body' आरोग्य शरीर में ही आरोग्यमन रहता है। दूध में सभी प्रकार के विटेमैन भी पाये जाते हैं और दूध पूर्ण खुराक का काम देता है, दूध - घी मिलने से अन्न की खपत भी घट जाती है

और मक्खन निकाली हुई लस्सी पेट के रोगों के सभी प्रकार के कृमियों की नाशक है। शोक है कि हम उन की अच्छी बातें तो अपनाते नहीं और मनुष्य जीवन को केवल भोग योनि मानने में उन से सहमत हो रहे हैं। जब तक अन्न और घी की बहुलता न कर पाओ, तब तक मन को शुद्ध करने के लिये यमों से बढ़ कर कोई साधन नहीं। स्थिरता के लिये जैसी चाहो उपासना करो। उपासना हमें यह सिखाती है कि बिना किसी सामग्री के भी एकाग्र हुआ चित्त विषय आनन्द से अधिक सुख दिखलाता है और ऐसा अनुभव होने पर हम विषयों में सुख ढूण्ढना छोड़ कते हैं और इन की उपलब्धी के लिये पाप करने से बच सकते हैं। ऐसा अनुभवी मनुष्य उदार-चित्त और आत्म-उपमेन-वृत्ति से संसार में वर्तता है और जिस उपासक का मन ऐसे रङ्ग में रङ्गा नहीं गया, वह अभी कच्चा है। ज्ञानी-ध्यानी कोई भी हो, जिस का व्यवहार शुद्ध नहीं जान लो कि उसका मन तो कुत्ते की पूंछ की नाईं है, जब नलकी से बाहर निकली टेढ़ी की टेढ़ी। मन को बस करने तक ही खेल हैं, वरना आत्मा में दुःख कहां? सुषुप्ति में हमारा रोज़ का अनुभव है कि शारीरिक रोग से पीड़ित, मानसिक चिन्ता से दुःखी कङ्गाल भी महाराजाओं जैसा सुख भोगता है। शूरवीर और परम विजयी बन कर ही स्वराज्य की प्राप्ति होती है, इस के लिये मन मानी मनोकामना और अंनगल स्वतन्त्रता की बलि देनी होगी वरना सफलता नहीं हो सकती। हम देखते हैं कि खेल कूद से मुंह मोड़े बिना विद्यार्थी बालक भी कुछ नहीं सीख

सकता, उस को भी अपनी संथा याद करने के लिये तप करना पड़ता है, तभी उस का मन एकाग्र होकर पढ़ने लिखने में लगता है और उसके सुख का हेतु बनता है।

बड़े मूज़ी को मारा जो नफ़से अमारा को मारा।
नहंगों अज़दहाओ शेरे नर मारा तो क्या मारा।
न मारा आप को जो खाक हो अकसीर बन जाता।
पारे को एकिमियागर मारा तो क्या मारा॥

'मन जीते जग जीत'

याद रखो और अपने मत और मन का निरीक्षण करो, वरना तुम्हारी भी वही बात है कि अपने मन का तो कुफर टूटा नहीं, अपने ही मतावलम्बियों के भेद भाव मिटा कर उन को एकता सिखाई नहीं और दूसरों को वैदिक-धर्म, इसलाम, इसाईयत, सिख, बुद्ध जैन, कबीर और राधा-स्वामी आदिक धर्म पन्थों का सत्य उपदेश करने वालों की नाईं,

पर उपदेश को हैं कुशल बहुतेरे।
ये आचर ही सों नर न घनेरे॥

इस से बचो और अपने जीवन को सुधारो, इसी में कल्याण है, वाद-विवाद में नहीं।

'आप भले जग भला।'

जैसा उपनेत्र लगाओगे, वैसा ही संसार को देखोगे।
दुःख दिये दुःख होत है, सुख दिये सुख होत।

असली आजादी का यह सीधा मार्ग है, इस पर चल कर तुम मंजिल पर पहुंच जाओगे, जहां का वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। इस यात्रा के लिये स्वस्थ शरीर, मन और बुद्धि की जरूरत है। हमारे खाये हुये अन्न से शरीर, उसी के सूक्ष्म भाग से मन, बुद्धि बनते हैं. इस लिये हमारी शुद्ध कमाई से कमाया हुआ और सात्विक अन्न होना चाहिये। ऐसे अन्न से बना हुआ माता पिता और आचार्य की शिक्षा से संस्कृत हुआ मन ही ऋत और सत्य को धारने वाला आत्म-उपमेन-वृत्ति के व्यवहार के योग्य हुआ करता है न कि भोग विलास में फंसा हुआ, जो कि नाना उपद्रवों का कारण देखा गया है। मनमाना सुख चाहने वाले नर, नारी देशद्रोही और धर्मघाती भी बन सकते है। विवाह समय की प्रतिज्ञा को पूरा न करने वाले पुरुष से यह आशा कैसे की जाय कि वह अपने स्वाथ के लिये अवसर मिलने पर देश की ओर अपने कर्तव्य को पालनार्थ विश्वास-घात नहीं करेंगे। कर्तव्य-पालन ही धर्म है। वाचक ज्ञान तो इतना ही है कि जागृत के व्यवहार में जो वस्तु भी दिखाई दे, उस के नाम और रूप को बाध्य करके उस के अधिष्ठान को देखो जोकि अस्ति, भाति और प्रिय रूप है। अर्थात् 'सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है' जहां मैं—तू का परिच्छेद नहीं, जीव—ब्रह्म का भेद नहीं, यही मुख्य आत्मा है। पुत्र, कलत्र तो गौण आत्मा और तीनों शरीर मिथ्या आत्मा हैं, इन में तो अज्ञान से मैं मैं का अभिमान कर रहा है,

इन से वृत्ति को हटा कूटस्थ साक्षी चेता नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अपने स्वरूप में समा, यही कैवल्य है, इसी के आसरे सारा माया का खेल हो रहा है और इस का खेल से कोई सम्बन्ध नहीं जैसे सिनेमे में (Screen) चादर जिसके होने से सब खेल दिखाई देता है और चादर पर इस खेल का कोई चिन्ह नहीं, वह कोरी की कोरी है। कहने को तो यह बात सहज है, पर जिन भी वस्तुओं पर मैं अपनी 'मैं' जमाये बैठा हूँ, यह मानता हुआ भी कि मुझे छोड़ अन्य सभी मेरी के संकेत में आने वाली चीज़ें बढ़ती-घटती और उत्पत्ति नाश वाली हैं, फिर भी मन उन से उपराम नहीं होता। पशु भी पेट भरने पर शेष चारा छोड़ कर चल देता है, परन्तु मनुष्य थोड़े जीवन के लिये इतनी भोग सामग्री इकट्ठे करने में लगा रहता है कि जिस से सहस्रों मनुष्यों का निर्वाह हो सके और उसका ऐसा कर्म ईर्षा और द्वेष का कारण बनता है विशेष कर जब ऐसा करने में छल और कपट भी किया गया हो और तुम जानते भी हो कि इन में से कोई भी तुम्हारा अन्तिम साथी नहीं फिर पाप को छोड़ कर धर्म क्यों नहीं कमाते। जिस सुख को तुम ढूण्ढते फिरते हो वह तो आत्म-ज्ञान से ही मिलेगा, इस के लिये विचार का आसरा लो।

स्त्री पशु, गुरु पशु, वेद पशु, संसार।
कबीरा मानस सोई जानिय जां के हिये विचार॥

ज्ञान के लिये मन का शुद्ध होना जरूरी है, सत्य को छोड़ मन की शुद्धि का और कोई उपाय नहीं, सत्य का ही दूसरा नाम

ब्रह्म है, सत्य ही धर्म है और सत्य समान कोई पुण्य नहीं और जहां सत्य नहीं वहां ब्रह्मविद्या भी नहीं ठहरती। ऐसा वेद का भी आदेश है और कोई भी मत सत्य का विरोध भी नहीं करता, यही सदाचार का बीज है। इसी को अपनाने से तुम अपना और संसार का कल्याण कर सकते हो यही शान्ति की कुञ्जी है और परमार्थ की पूञ्जी और वास्तविक स्वतन्त्रता का सीधा रास्ता, जिस से भटकने का भय ही नहीं। सत्य पालन से ही तुम अपनी सत्ता का यथार्थ ज्ञान लाभ करोगे, और यही असली आजादी है, इसी को मुक्ति कहते हैं और यही परम सुख है। और यह तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि हम छोटे २ दुःखों से मुक्त नहीं होते। आज देश में अन्न और कपड़े का संकट है, इस को दूर करने के लिये हमें राज्य की ओर अपने कर्तव्य को निबाहना चाहिये।

हम में यह दोष है कि हम दूसरों के दोष ढूंढते रहते हैं और अपने दोषों पर दृष्टि नहीं डालते। यदि हमें आजकल की शिक्षा से विरोध है तो हमें ऐसे स्कूल और कालिज खोलने चाहिये जहाँ हमारे बालक आजीविका का ढंग भी सीख सकें और पढ़ें भी। यह तो अब होने से रहा कि हम फिर से सोहलवीं सदि को वापस ला सकें, हमें भी समय के साथ चलना होगा। हाँ इतना कर सकते हैं कि सिनिमे में ऐसी शिक्षा प्रकटीकल में लाने का प्रबन्ध करें, जो हमारे आचार और विचार को उन्नत करने वाले हों ऐसे ही और विषयों

के वारे में ज्ञान लो जिन को हम नई और पुरानी सभ्यता के नामों पर परस्पर विरोध का हेतु मान रहे हैं।

हिन्दु जनता आज भी साधु महात्माओं और ब्राह्मणों की बातों को कान खोल कर सुनती है। यदि यह अपने कर्तव्य की ओर ध्यान दें तो यह रामराज्य के स्वप्न को भी पूरा कर सकते हैं और भारत वासियों के अन्य दुःख दूर करने में भी सहायक हो सकते हैं। इन के यत्न से दान प्रणाली सुधर सकती है। और भारत में वर्ष भर में जितना दान होता है, उससे परोपकार के कई प्रकार के काम हो सकते हैं। एक दो साल में ही ग्राम २ में पाठशालायें और आरोग्य भवन खोले जा सकते हैं जहाँ धर्म सम्बन्धी शिक्षा के सङ्ग सङ्ग रोजी कमाने का ढंग भी सिखाया जा सकता है। और घर घर गो-पालन के लिये चर भूमि भी खरीदी जा सकती है जिस के अभाव में पशु रखना कठनि है। हमारी धर्म शिक्षा भी तो सब के कल्याण के लिये एक जैसी ही है जैसे फलदार वृक्ष लगाना पुण्य और हरा वृक्ष काटना पाप।

आज की दान स्थिति किसी से भूली हुई नहीं। ऐसे दान का परिणाम दाता और भुक्ता दोनों मनु महाराज के शब्दों में सुन लें, फिर जिस में अपना भला समझें वह त करें।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्य श्मप्लवेनेव सह तेनेव मज्जति॥ मनु ४–१९०

तप रहित, बिना पढ़ा हुआ अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेने वाला ये तीनों पत्थर की नौका से समुद्र में तरने के समान अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःख सागर में डूवते हैं। वे तो डूवते ही हैं परन्तु दाताओं को साथ डूवा लेते हैं।

त्रिष्वप्येतेषु दत्त हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुभवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ ४ । १९३ ॥

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है, वह दान दाता का नाश इसी जन्म और लेने वाले का नाश पर-जन्म में करता है।

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदकेतरन् ।
तथा निमज्जनोऽधस्तादज्ञौ दातृ प्रतीच्छकौ ।। मनु ४ । १९४ ॥

जैसे पत्थर की नौका में बैठ के जल में तरने वाला डूव जाता है. वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं।

यदि प्रोहित कहलाने वाले ब्राह्मणों के थोड़े से परिवारों पर भी इस शास्त्र आदेश का प्रभाव पड़ा तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

संवत् २००८ सं० १५५१ रलियाराम कात्यिया।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

—: वास्तविक स्वतन्त्रता :—

अर्थात्

॥ असली आज़ादी ॥

(जय हरि पण्डित जी)

पं० अभय राम— लाला जी ! जय हरि। आज तो आप ने कीड़ी के घर नारायण पधारने वाली बात कर दिखाई, कहिये शुभ आगमन कैसे हुआ।

राधे लाल— पण्डित जी, मुझे कल ही पता चला कि आप के हाँ दोपहर ढले धार्मिक सत्सङ्ग होता है और उस में सभी मतों के नर नारी सम्मिलित हो लाभ उठाते हैं, मैं भी इसी अभिप्राय से आया हूँ कि मेरे भी तप्त हृदय में ठंडक पड़े। पादरी तुलसी राम ने आप की बहुत प्रशंसा की और बताया कि ईसाई मत का मर्म वह आप से ही सीख पाया है और आपने ही उस को शान्ति का पथ दर्शाया है।

अभय राम— लाला जी ! नियम है कि मनुष्य को दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। पादरी साहिब भद्र

पुरुष हैं, वह अपने ही गुण दूसरों में देखते हैं। वह स्वयं प्रशंसनीय हैं, इस लिये मुझे भी अपने रङ्ग में रङ्गा हुआ देखते हैं।

राधे लाल — सत्सङ्ग का ठीक समय क्या है ?

अभय राम — आज मुझे ही कुछ विलम्ब हो गया है। पण्डित जी और लाला जी को आते देख जनता ने सत्कार किया।

अभय राम— भाई तुलसी राम, आज अपनी अपनी बारी में अपना अपना अनुभूत शान्ति का उपाय बताओ ताकि लाला जी कुछ लाभ उठा सकें।

तुलसी राम-सत्य वचन कह कर बोला, मेरा मत आज से १९५१ वर्ष का प्रचलित है और संसार की आयु पश्चिमी विद्वान् भी आज दो अर्ब वर्ष के लग भग मानने पर बाधित हो गये हैं। हमारे इस सत्सङ्ग में भिन्न भिन्न धर्म मतों के धार्मिक पुस्तक सुनाये जाते हैं, जिन को सुन कर मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि प्रभु ने आदि सृष्टि में मनुष्य को वेद दिया और इस बात में कोई मत भेद नहीं कि संसार की धार्मिक पुस्तकालय में ऋग्वेद सब से पुरानी पुस्तक है। आज हम इस को इस लिये नहीं पढ़ते कि हम ने इस को हिन्दुओं का धर्म ग्रन्थ मान रखा है। पण्डित जी की एक जीवन घटना ने मुझे उन का सत्सङ्ग कराया। लाहौर में वार्षिक खेलों के टूरनामेंट

में न जाने किस कारण हुल्लड़ मच गया और उस ने भयानक दंगा फसाद का रूप धार लिया। मैं निश्चिन्त समीप ही एक बाग़ में सुख पूर्वक बैठा हुआ था और मुझ से कुछ दूरी पर पण्डित जी भी उपस्थित थे और कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। क्या देखता हूँ कि किसी ने पीछे से आकर पण्डित जी की पीठ पर एक हौकी ज़ोर से दे मारी. मारने वाला तरुण और पण्डित जी बूढ़े, 'सकता देख न आवे रोह' अपने से बलवान पर बाणी से कोई मूर्ख ही क्रोध करे तो करे इस नीति अनुसार पण्डित जी भी उस चोट को सह गये और बाणी से यही निकला, 'राम भला करे'। इतना सुनना था कि मैं चकित सा रह गया और मारने वाले ने भी पण्डित जी के पैर पकड़ लिये और क्षमा का याची हुआ। मैं लज्जित हुआ कि हज़रत मसीह की शिक्षा को पण्डित जी ने अपनाया है न कि मैं ने। मेरे मारने का कारण पूछने पर अपराधी ने उत्तर दिया कि फुटबाल खेलते खेलते अमपायर ने पक्षपात से मुस्लमान टीम के हक़ में फैसला दिया, इस पर हिन्दू टीम बिगड़ गई और आगे खेलने से इन्कार कर दिया। अभी अन्तिम न्याय होने न पाया था कि प्रदर्शकों ने मज़हबी सवाल बना लिया और परस्पर मार पीट शुरू हो गई। मैं ने भी पण्डित जी को मुसलमान समझ कर मारा क्योंकि सिर गंजा होने से चोटी तो इन के है नहीं, इन की दाढ़ी ने मुझे धोखा दिया। मुझे यदि कुछ सन्देह था कि आज कल बुद्धिमान् पुरुष भी धर्म से घृणा क्यों करते हैं, तो वह भी उस दिन से जाता रहा और याद आया—

फसाद मज़हब ने जो हैं डाले। नहीं हैं वह ता हशर मिटने वाले॥
यह जंग वह है कि सुलह में भी ठनी की ठनी रहेगी ॥

मेरा सौभाग्य समझिये कि सायंकाल जिस गाड़ी से मैं अपने घर जालन्धर को आ रहा था, उसी गाड़ी में वह भी सवार थे और समय काटने के लिये मेरी प्रेरणा पर पण्डित जी ने अपने धर्म के विषय में कुछ सुनाना स्वीकार कर लिया जिस की कुछ बातें मैंने नोट करली थी, उन को ही संक्षेप से वर्णन करता हूँ।

पण्डित— आज की घटना से आप जान गये होंगे कि धार्मिक विचारों की भिन्नता जनता को कैसी भयानक स्थिति की ओर धकेल रही है। यदि धार्मिक उपदेशकों ने अपना उपदेश का ढंग न बदला और अपना कर्तव्य न पहचाना तो वह दिन दूर नहीं कि हम लोग उस महाँ पाप के भागी बनेंगे जो घोर हत्या का कारण बनेगा और उसे भूले हुये समय को फिर से लाने वाले जबकि मनुष्य धर्म के नाम पर अपने विरोधी विचार रखने वालों का सर्वस्व नाश करने पर तुले रहते थे। मेरा धर्म तो यही शिक्षा देता है कि धर्म एक है दो हो नहीं सकते। आप के सिद्धान्त अनुसार भी जब सभी आदमी हज़रत आदम और माई हवा की सन्तान हैं तो उन के दो मज़हब कैसे हो सकते हैं ?

महाभारत के समय तक देवासुर संग्राम होते रहे अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों को दुराचारी अथवा आततताईयों से लड़ना पड़ता था। मनुष्य को अपना शरीर प्यारा है और उसके लिये उपयोगी सामग्री की भी आवश्यकता रहती है

जैसे घर, ज़र, ज़ोरु और ज़मीन और जो कोई किसी निरापराधी को जान से मारे या उसके घर को आग लगा दे अथवा उसका ज़र, ज़ोरु और ज़मीन छीन ले, ऐसे २ अपराधी को आतताई कहते हैं । आज भी सकल संसार के राज्य विधान में ऐसे दुष्टों से प्राण रक्षार्थ कानून बना हुआ है । यह बात और है कि पक्षपाती अथवा स्वार्थी अथवा राज्य अधिकारी उस का दुरोपयोग करें और न्यायकारी भी झूठे साक्षियों के कारण न्याय न कर पायें । आज की घटना में न जाने मेरे जैसे कितने वेकसूर आदमियों को शरीरिक कष्ट उठाना पड़ा हो । अब तो मुझे मारने वाला हिन्दु था, यदि कोई और होता और उसके आघात से मैं मर भी जाता तो भी असल अपराधी का पता लगाना कठिन था क्योंकि उस के पक्षपातियों ने देखे हुये को भी अनदेखा कहना था । मानव धर्म के नाते तो हम सब को मिल जुल कर रहना चाहिये, पर हम हैं विचारों की भिन्नता के आधार पर भाई से भाई को लड़ा रहे हैं । शोक है कि हम इस बात को जानते हुए भी कि भिन्न २ पोशाकों के पहनने से जैसे पहनने वाला बदल नहीं सकता ऐसे ही शरीर की भिन्नता के कारण शारीरी कब नाना प्रकार का हो सकता है । शारीरी की एकता सुझाने के स्थान में हम अपने २ मतावलम्बियों को नानत्व की ओर ले जाकर परस्पर लड़ा रहे हैं । और ऐसे २ दंगे फसादों का नाम हम ने धर्म युद्ध रख लिया है । यदि धार्मिक उपदेशक धर्म युद्ध के ही अभिलाषी हों, तो उनको

चाहिये कि आतताईयों को सीधे राह पर लायें. अगर ऐसा करने में अपने आप को असमर्थ पायें, तो पोलीस की सहायता लें। आज यही सच्चा धर्म कार्य है और मैं जानता हूं कि कोई मत ऐसा नहीं जिस के सभी अनुयाई सदाचारी हों। सदाचार ही परम धर्म है और इस के लिये हमारे अपने २ मत में कार्य करने के लिये बड़ा क्षेत्र है। मैं तो अपने आप को बड़ा मूर्ख समझूँ यदि मैं अपने घर की आग बुझाने की बजाये दूसरों की आग बुझाने को दौड़ूँ। जन-सुधार के इस काय को करने के लिये मैं अपने आप को सुधारने में लगा हुआ हूं जभी मैं ने अनुभव कर लिया कि मैं सुधर गया हूँ। तभी वेद की आज्ञा का पालन करता हुआ अपने संकुचित हृदय को विशाल करूंगा। अभी तो मैं मेरी के झगड़े में फंसा हुआ हूँ और मेरा धर्म मुझे इस से ऊपर उठने का आदेश देता है। स्वयं गुड़ खाने वाले बाबा दूसरों का गुड़ खाना छुड़ा नहीं सकते, यही मेरी अवस्था है। आप की आज्ञा पालन करने के लिये वेद का एक मंत्र सुनाता हूँ। आपने अक्षेप न करना कि मैं ब्राह्मण होता हुआ द्विजों को छोड़ आप को वेद मंत्र सुनाने लगा हूं जोकि स्मृति धर्म के विरुद्ध है। इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि आज वार्षिक धर्म समेलनों में विद्वान् पण्डित भी वेद मन्त्र उच्चारण करते देखे जाते हैं और वहाँ सभी प्रकार की जनता होती है। मिस्टर मैक्समूलर आदि के बनाये वेद भाष्य भी तो तभी बने

यदि उन्हों ने किसी विद्वान् द्वारा वेद की शिक्षा प्राप्त की। रसायणाचार्य आदिकों के वेद भाष्य आज जिस का जी चाहे खरीद सकता है। विद्वान् भी आज इस स्मृति धर्म को नहीं अपनाते। कालजों में सभी को पढ़ने का एक जैसा अधिकार है और बनारस विश्वविद्यालय में वेद पढ़ाये जाते हैं जिस का जी चाहे पढ़ सकता है। मैं भी विद्वानों का अनुकरण करते हुये कोई पाप नहीं करने लगा।

एता देवसेनः सूर्यकेतवः सचेतसः।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ अथर्व ५।२१।१२

अर्थ — यह एक सूर्य की पताका लेकर युद्ध करने वाली शान्त चित्त वाली दिव्य सेना हमारे शत्रु को जीते, अपना सर्वस्व अर्पण करते हैं. अर्थात् हमारी सेना सूर्यचिन्हांकित ध्वज (झण्डे) को लेकर शान्त चित्त से अर्थात् न घबराती हुई, योग्य पराक्रम करके शत्रु का पूर्ण पराजय करे। शत्रु का पूर्ण पराजय करने के लिये हम अपने सर्वस्व की आहुति देते हैं। जिस समय सब लोग शत्रु को पराजित करने के लिये आत्म-सर्वस्व स्मर्पण करेंगे, उसी समय विजय प्राप्त होगी।

भगवे झण्डे का यही भाव है कि अन्धकार को मिटाने के लिये सूय उदय हुआ है और सन्यासी भी भगवे कपड़े इसी लिये धारण करते हैं कि उनका कर्तव्य भी ज्ञान से अज्ञान का नाश करना है और सूर्य की नाईं स्वार्थ रहित परोपकार करना है, जैसे सूर्य सभी प्राण-धारियों को एक जैसा प्रकाश देता है, शराब के घड़े, पेशाब के गढ़े और गङ्गा-जल सभी उस के लिये

समान हैं। इनको प्रकाशित करता हुआ स्वयं उन के गुण दोषों से लिपायमान नहीं होता। वैसे ही सच्चा सन्यासी भी मनुष्य-मात्र के कल्याण में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करता। उस ने अपना सर्वस्व अर्पण करके अपने शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार को जीत लिया है, इस कारण उसे किसी से राग-द्वेष नहीं।

प्राचीन काल में संसार की शान्ति को भंग करने वाले आततायियों को दण्ड देने के लिये जो लड़ाई लड़ी जाती थी, उस का नाम धर्म-युद्ध था। जिस में विजय प्राप्त करने पर भी इनका राज्य छीनने की गर्ज नहीं होती थी और यदि वे हमारे देश पर आक्रमण करते थे तो सभी देशवासी तन, मन और धन से देश-रक्षा के लिये उपस्थित हो जाते थे।

शोक से कहना पड़ता है कि आज परिस्थिति ही और की और है। निर्बल देशों को अपना पक्षपाती बनाने के लिये नये २ राज्य-नैतिक ढंग समाचार पत्रों के पाठकों से छुपे नहीं और धर्म के ठेकेदारों के लिये उन के मत से भिन्न विचार रखने वाले असह्य हैं, वे अपने विरोधियों को अपने धर्म-केन्द्र की ओर खींचने में नाना प्रकार के पापड़ बेलते रहते हैं।

यह तो आप से भी ओझल नहीं कि अपने मत के दुराचारी मनुष्य को भी अन्य मत के सदाचारी साधु, महात्मा से भी अधिक मान दिया जाता है। यद्यपि अपने मत के किसी व्यक्ति का अपराध हमें ज्ञात भी हो, और इस पर भी वह अन्य मत

के किसी निरापराधी को मार पीट रहा हो, तो भी हम अपने मत के अपराधी की ही सहायता करते हैं और इसका नाम रखते हैं. धर्म-पालन जोकि वास्तव में फिरकाप्रस्ती है और यह शांति का परम शत्रु है। धर्म के नाम पर यह शुरू हुई और धर्म को समझने से हीं यह दूर होगी अन्य कोई उपाय सफल नहीं हो सकता और यह निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्य के सुधार में जो स्थान धर्म को प्राप्त है, उस पर और कोई भी साधन आज तक अपना अधिकार नहीं जमा सका। आज कल जिस को धर्म माना जा रहा है, उस को धर्म का नाम देना मानो धर्म शब्द की अवहेलना है और जो अपने आप को धर्म के जाल में न फंसा हुआ बताते हैं, वह भी बड़ी भूल कर रहे हैं। संसार भर में कोई भी ऐसा वस्तु नहीं जिस का कोई भी धर्म न हो। इस विषय में विस्तार-पूर्वक तो अभी कहने से रहा क्योंकि इस के लिये बहुत से समय की जरूरत है, तो भी संक्षेप से कहता हूँ कि धर्म उन नियमों पर चलने की प्रतिज्ञा है, जो किसी मनुष्य ने अपने कल्याण के लिये और उन्हीं का अनुकरण करने वाले दूसरों का भला भी मान रखा हो और उसके तुल्य अन्य किसी नियम को न समझे। धर्म के इस लक्षण से कोई बचा हुआ नहीं। हिन्दु मुसलमान, ईसाई बुद्ध, ब्रह्मो और सिक्ख मतावलम्बी तथा कमुनिस्ट शोशिलिस्ट और कांग्रसी आदिक सभी संसार को अपने २ विचारों का अनुयायी देखना चाहते हैं और इसी में सब का भला मानते हैं। यह तो वही बात है कि न नौ मन तेल हो न राधा नाचे! धर्म के नाम पर विचारों की भिन्नता के विषय में अभी तो इतना ही कहता

हूं कि महाभारत के युद्ध के पश्चात् वैदिक धर्म प्रायः लोप सा हो गया, और संसार में अशांति और दुराचार फैलने लगा तो समय समय पर महान् पुरुष प्रकट हुए, जिन्हों ने मनुष्यों के कल्याण के लिये अपने अपने देश में फैली हुई कुरीतियों को दूर करने और सकल संसार के हित के लिये यत्न किये।

जैसे समुद्र में किसी बड़े जहाज़ के डूबने पर तैराक स्वयं और कई जहाज़ के ही किसी तखते अथवा उसी की एक नौका के सहारे अन्य कई एक को बचा लाते हैं। या सूर्य अस्त होने पर अन्धकार को मिटाने के लिए हर कोई यथा शक्ति दीपक, लैम्प, भौतिक अग्नि, गैस या बिजली से अपने २ घरों का अन्धेरा नाश करता है। पहले तीन प्रकाश तो अपने लिये ही काफ़ी नहीं होते पर पिछले दो तो जहां अपने घर को जगमगा देते हैं वहां पड़ोसियों को भी उन से लाभ होता है। वैसे कई महात्मा अपने अपने समय पर अपने २ ढंग से अन्धकार मिटाने का प्रयत्न करते रहे और ऐसे महापुरुष भी आये जिन्हों ने बहुतों को प्रकाश दिया और अपने आप को खुदा का बेटा, खुदा का पैग़म्बर, और रसूल बताया और जनता को वह उपदेश दिया जा उस खुदाई धर्म पुस्तक में है, जो खुदा की तरफ़ से उन पर उतरी थी। हज़रत यसूह मसीह खुदा का बेटा मसीही धर्म के आधार पर मनुष्यों में फिर से जागृति पैदा करता २ और संसार-हित में लगा हुआ सूली पर लटका दिया गया, पर आज संसार के मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या उस की नाम लेवा है और ऐसे ही कुरान मजीद की शिक्षा ने

बहुत मनुष्यों का कल्याण किया और हज़रत मुहम्मद साहिब के परोपकार का पता तब चलता है जब कि कोई समीक्षक अर्ब-देश के उस समय के इतिहास से परिचित हो, जब वहां कुरान शरीफ़ की तालीम का प्रचार नहीं हुआ था। इसाईमत की नाईं इसलाम भी संसार के बड़े मतों में से एक है। भारत में भी कई मत-मतान्तर चल पड़े, पर सभी का अभिप्राय संसारिक कल्याण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था।

कोई माने या न माने पर प्रकाश का केन्द्र जैसे सूर्य है और सभी प्रकाश उसी के आश्रित हैं, वैसे ही संसारिक कल्याण के जो भी साधन नये २ मतों के धर्म-पुस्तकों में लिखे हैं उन सब का मूल स्रोत वेद भगवान् ही है। मुझे तो खोजने पर भी किसी भी नये मत में कोई भी शिक्षाप्रद नई बात नहीं मिली। वेद सर्वज्ञ ईश्वर की बाणी है और किसी भी अंश में असम्पूर्ण नहीं हो सकती और संशोधन, प्रतिवाद (तरमीम तरदीद) की जरूरत तो मनुष्य-ज्ञान में संभव है न कि ईश्वरी ज्ञान में। प्रभु ने अपनी प्रजा को उस के हित के सभी साधन आदि सृष्टि में ही बता दिये। लौकिक राजा भी अपना कानून यदि संपूर्ण प्रजा को न बताये तो वह किस आधार पर किसी को दण्डनीय ठहरा सकता है। परमात्मा ने यदि सृष्टि के आरम्भ में ही पाप पुण्य की व्यवस्था न बताई होती तो वह भी न्यायकारी नहीं कहला सकता था। वेद सभी सत्य विद्याओं का मूल है, घर बनाना, खेती करनी और रोग-चिकित्सा आदि मनुष्य-जीवन के सभी उपयोगी साधन अपनी रक्षा और शत्रु नाश के उपाय

अस्त्र - शस्त्र, राजनीति मनुष्य कैसे सीख सकता था। वेद में ऐसी कोई बात नहीं जिस को आज का विज्ञान भी झुठला सका हो। अन्य मतों के धर्म-ग्रन्थ इस कसौटी पर पूरे नहीं उतरते ऐसा समीक्षकों का कथन है। मैं तो इतना ही कहता हूँ कि मिस्टर गलेलो ने ईसाई मत के सिद्धान्त के विरुद्ध जब यह सत्य बात कही कि पृथ्वी घूमती है तो उस को निर्दोष होते हुये भी क्षमा मांगनी पड़ी और जान बचाने के लिये झूठे दोष को मान लिया। आज सभी ईसाई इस बात को मानते हुये भी अपने धर्म पुस्तक के सिद्धान्त को बदल नहीं सके। एक ही पुस्तकों के आधार पर ईसाई दो फ़िरकों रोमन कैथोलिक और प्रोटिस्टेन्ट में बटे हुए हैं। भेद का आधार अज्ञान है इस में कौन सा फ़िरका दोषी है यह मैं नहीं कह सकता। रोमन कैथोलिक मूर्ती पूजा को धर्म अनुकूल और प्रोटिस्टेन्ट हज़रत ईसा और माता मर्यम की मूर्तियों की पूजा को कुफ़र सिद्ध करते हैं। दोनों तो सच्चे हो नहीं सकते, मानना पड़ेगा कि किसी एक ने धर्म पुस्तकों के रहस्य को समझने में गलती खाई है। इसी गलती के कारण दोनों फ़िरके लगभग सौ वर्ष तक परस्पर अस्त्र शस्त्र युद्ध करते रहे। अनगिनत मनुष्यों के हत्याकाण्ड के पश्चात आज भी यह बात वहीं की वहीं खड़ी है। अन्य मतों का विरोध करने में वे दोनों ईसाईमत के नाम पर एक हैं, पर अपना झगड़ा निपटाने में असमर्थ हैं।

यही हाल इस्लाम का है, वह बहत्तर तिहत्तर फिरकों में बंट चुका है। मुसलमानों की मज़हब के नाम पर आपस में

लड़ाइयां होती रहीं, पर शीआ, सुन्नी, वहावी आदि आज भी अपने धार्मिक भेद भाव को मिटा नहीं सके और परस्पर सिर फ़टोल बन्द होने में नहीं आती। मिरज़ाइयों के लिये अन्य मुसलमान काफ़र और वे उनके लिये काफ़र। एक दूसरे की मसजिद में न नमाज़ पढ़ता है और न मुर्दे कबरिस्तान में दफ़ना सकता है। सब संसार को शान्ति का उपदेश देने वाले इसलाम के प्रचारक जब आपस को घृणा और भेद-भाव को मिटा नहीं सकते, तो अन्य मतों वाले उन से अपनी शान्ति की क्या आशा बांध सकते हैं। एक धार्मिक पुस्तक कुरान-शरीफ़ के अथ किस इसलामी फ़िरके ने ठीक समझे हैं, इस बात का निणय करना ग़ैर मुसलम के लिए असम्भव है। इन दोनों मतों से तो वैदिक धम का बहुत बड़ा अन्तर है क्योंकि ये दोनों पुनर्जन्म को नहीं मानते। भारत वर्ष में अन्य कई मत हैं वेद को मानने वाले और न मानने वाले, ईश्वर और अनीश्वर वादि गरज़ कि कोई भी हिंदु-मत ऐसा नहीं जो पुनर्जन्म न मानता हो। भिन्न भिन्न मत भी कई शाखाओं में बंटे हुये हैं और उनका भी परस्पर भेद-भाव है जो मिटने में नहीं आता। उदाहरण अर्थ सिक्ख-मत को लीजिये, कई फ़िरकों में वंट चुका है। यह मत हिंदू-धर्म की एक शाख होता हुआ भी आज हिन्दू कहलाने में भी इसकी कई सम्प्रदायें घृणा करती हैं और अन्य अपने आप को हिन्दू मानने में गौरव जानती हैं। आद ग्रन्थ के आधार पर नामधारिये और नरङ्कारिये सिक्ख जीवत मनुष्य को गुरु मानते हैं और अकाली आदिकों की नाईं ग्रन्थ साहिब को गुरु नहीं

मानते, जोकि उनके लिये धार्मिक ग्रन्थ है। मुझे किसी मत के गुण अवगुण प्रकाश करने की आवश्यकता नहीं, मैं तो इसी में कल्याण मानता हूँ कि मनुष्य ने जिस मत में जन्म लिया है, उसी पर विश्वास रखे उसके नियमों का पालन करे क्योंकि इतिहास साक्षी है कि हर एक मत में महापुरुष हुये हैं। हमें अपने मत के अच्छे होने में बातें बनाने की जरूरत नहीं, जरूरत तो इस बात की है कि हम अपने जीवन से औरों को अपनी ओर आकर्षण कर सकें और ऐसा तब तक होना कठिन है जब तक कि हम में साधारण मनुष्यों से कुछ विशेषता न हो। विशेषता कई प्रकार की होती है, मेरे कहने का भाव है कि हम में भी वही गुण प्रकट हों, जो अपने २ मत के नेताओं के विषय में हम प्रतिदिन सुनते रहते हैं। क्या आज कोई ईसाई ऐसा भी देखा जा सकता है जो हजरत ईसा का अनुकरण करता हुआ उस महापुरुष जैसी कोई करामात भी दिखा सके। जो बात एक मनुष्य के लिये सम्भव हो वह दूसरे के लिये असम्भव कैसे ? दोष सिद्धान्तों का नहीं, दोष हमारा है कि हम उनका पालन नहीं करते। क्या हम देखते नहीं कि कई अनपढ़ मनुष्य भी भिन्न २ मतों में अपने २ मन को वश करने से आश्चर्य-जनक बातें कर दिखते हैं और उनके सम्पर्क में आने वाले उन के अपने और अन्य मतों के मनुष्य भी ऐसे साधु महात्मा की ओर खिंचे जाते हैं और वह उनके आदर का पात्र बन जाता है और उसके उपदेश से सभी लाभ उठाते हैं। मनुष्य-मात्र का व्यवहारिक भेद-भाव ऐसे ही महात्मा मिटा सकते हैं। पाखंडियों की पूजा छोड़
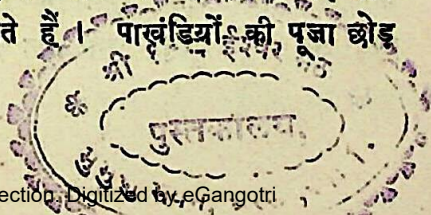
हमें साधु की सङ्गति करनी चाहिये चाहे उस का मत कुछ भी हो । यदि मैं अपने आप को सुधार पाऊँ तो जानो बहुत कुछ कर पाया । सुधार से मेरा मतलब यह नहीं कि मैं जनता को धोखा देने के लिये अपने धार्मिक नित और निमैत्तक कर्मों में सारा दिन लगा रहूँ क्योंकि मुझे आजीविका की तो चिन्ता ही नहीं । मेरा सुधार का अभिप्राय यह है कि मैं लौकिक व्यवहार में सभी को अपने जैसा समझूँ और वर्ताव में छल कपट का नाम तक न हो । प्रथम मैं अपने परिवार को सुधारूँ । यदि उन में से कोई मुझे अतताई बनता दिखाई दे तो संसारी मोह छोड़ मुझे स्वयं उसे पुलीस के सुपुर्द करने में पहल करनी चाहिये । यदि मैं ऐसा कर पाऊँ तो मैंने धर्म किया क्योंकि इससे जनता को सुख होगा और सुख धर्म का फल है । पादरी साहिब मैंने अपने धर्म ग्रन्थ ही नहीं पढ़े उन के खण्डन भी पढ़े हैं । ऐसे ही अन्य मतों के भी । वाद विवाद में पढ़ने के स्थान में मैं अपने ही मन और अपने ही मत के नरीक्षण में लगा रहता हूँ, मुझे इस से सुख हुआ है । आप भी पहले परिवार सहित सुख प्राप्त करें फिर आप के पड़ोसी 'खरबूजे को देख खरबूजा रङ्ग बदलता है,' आप का अनुकरण करेंगे क्योंकि सकल संसार सुख को ही तो खोज रहा है । अपने मन के अनुकूल विषयों की प्राप्ति का नाम सुख और प्रतिकूलता का नाम दुःख है । ज्यूँ ज्यूँ विषय प्राप्त होंगे त्यूँ त्यूँ तृष्णा बढ़ेगी मन का विषयों से तृप्त होना

सम्भव नहीं, जीवन सामग्री के अभाव में शरीर रक्षा भी नहीं हो सकती ऐसी अवस्था में हमें न्याय पूर्वक आजीविका कर अपना और अपने परिवार का पालन पोषण करना चाहिये। भोग भोगने अर्थ ही बने हैं। अपने मत के धार्मिक नियमों के अनुसार उन्हें भोगो कोई तुम्हें दोषी नहीं ठहरा सकता। झगड़ा तो तब होता है जब हम अपनी प्रारब्ध पर सन्तुष्ट न रह कर बलात्कार और छल कपट से दूसरों के भोग छीनने का यत्न करते हैं। जैसे पशु पक्षी भोगों के लिये लड़ते मरते देखे जाते हैं और उन को अपने अनादर का मान भी नहीं होता, ऐसे ही भोगों की लालसा में फंसे हुए मनुष्य की गति देखी जाती है। कुत्ते के पिल्ले को टुकड़ा डाला और उसकी माता को डण्डे से पीट आंगन से बाहर निकालो, पिल्ला दुम हला २ कर तुम्हारे प्यार का पात्र बनना चाहता है। हम भी जब भोगों के वशीभूत हुये अपने देश और देश-वालों से द्रोह करते हैं तो हम पशुओं से अच्छे कैसे?

अग्नि जैसे काष्ठ मिलने से अधिक भड़कती है वैसे ही मनोकामना भोगों की प्राप्ति से शान्त नहीं हो सकती। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह संसारी भोगों में उसी को अपना सांझी बनाना चाहता है जो उस के अनुकूल वर्ते और उसके स्वामीपन में नूनच न करे। हर कोई इसी कामना में जकड़ा हुआ है कि वह अकेला सारे संसार का अधिपति बन जाये और इस में सफलता होती देखी नहीं और इसी धुन में हमें यह सराय एक न एक दिन छोड़नी ही पड़ती है और खाली हाथ कूच करना होता है। सकल मत मतान्तरों का उद्देश्य भी इतना

ही है कि वे मनुष्य को संसार रूपी सराय में मिल जुल कर रहना सिखाये, स्वयं सुख पूर्वक जीता हुआ दूसरों को भी जीने दे। इसी अभिप्राय से मन को वश करने के उपाय सभी मतों में विद्यमान हैं, जिसने भी उन का अनुष्ठान किया उसे परम शान्ति प्राप्त हुई जिस शांति के लिये किसी भी सामग्री की आवश्यकता नहीं जैसा कि हमारा अनुभव है कि संसारी सामग्री के अभाव में और जागृत स्वप्न के नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का सुषुप्ति में नाश हो सुख का अनुभव होता है, वैसे ही कामना रहित मन सर्व अवस्थाओं में शान्ति मूलक है। कामना त्यागे बिना अशान्ति का सर्वथा अभाव तो होने से रहा, इस लिये इतना ही कहना बनता है कि अभिराम प्रयत्न करते हुये जो कुछ अपने २ भाग्यवश हमें प्राप्त हो, उसी पर सन्तोष करें और छल कपट से बचें। कुटिलता के स्थान में मन सरलता से व्यवहार में मनुष्य मात्र से एक जैसा वरते, पर शोक से कहना पड़ता है कि आज ऐटम बम्बों में शांति स्थापना की खोज हो रही है। पूर्व दिशा के यात्री आंखें मूदें पश्चिम की ओर सरपट दौड़े जा रहे हैं। मैं नहीं मानता कि उन के वर्तमान लक्षण उन को पूर्ण आनन्द की झलक भी प्राप्त करा सकें। आप यदि सच्चा सुख चाहते हैं तो अपने मन का निरीक्षण करते रहें और मनोराज्य के मिटाने का यत्न करें, शनैः शनैः मन वशीभूत हो जायगा और फिर 'मन जीते जग जीत' वाली बात हो जायेगी, जिस अवस्था की प्राप्ति मानसिक शक्ति के विकास में सब व्यवधान (रुकावट) दूर कर देगी और आप सत्य संकल्प हो जो चाहो पूरा कर

दोगे। मन की एकाग्रता ही नये नये आविष्कारों का कारण है और इसी की निरुद्ध अवस्था में जगत, जीव और परमात्मा की असलियत की पहेली हल होती है। अन्यथा इस रहस्य को जानने का कोई उपाय नहीं। और यही अवस्था है जिस में सभी अनुभवी एकता का अनुभव करते हैं। दुई तक भय बना रहता है। एकता प्रेम का स्रोत है क्योंकि अपने आप से न कोई डरता है न वैर करता है। विज्ञानक को तो रसायन-शाला और सामग्री की जरूरत रहती है, पर आत्मज्ञ का मन ही लैबोरेटरी है, इसी रसायनशाला में प्राचीन ऋषियों ने जो कुछ अनुभव किया वह आज भी अटल सत है। जनता को चकित करने वाला मैसेमिरिज़म और हिपनाटिज़म मन की एकाग्रता का ही तुच्छमात्र आविष्कार है। हमारे सुख के साधन रेल, तार, बिजली, रेडियो, टैलीफून, बैटरी, हवाई जहाज, कला कौशल, मोटर, साईकल, घड़ी, थर्मामीटर, एकसरे आदिक सभी चित्त की एकाग्रता का ही परिणाम हैं। औषध निर्माण अर्थ धातु जड़ी बूटी आदि के गुण दोष, सूर्य, चन्द्र, तारागण और पृथिवी की दैनिक और वार्षिक गति के विज्ञान का श्रोत समाधि जन ऋषि ज्ञान पर ही तो निर्भर है। उसी बीज रूप वैदिक ज्ञान के आश्रित हर प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक आविष्कार हो रहे हैं। चांद और सूर्य ग्रहण का समय और तिथि आज भी ठीक निकलती है। ज्योतिष गणित विद्या का ज्ञाता किसी (Observatory) ओबजरवेटरी के बिना ही अपनी बनाई पञ्चाङ्ग में ग्रहणों के लगने और छूटने का परिचय देता है। जिस ने भी प्राणी-मात्र के सुख के लिये कोई नई वस्तु

बनाई अथवा कोई नियम ढूंड निकाला जिस के आधार पर वस्तु निर्माण हो सके वह धर्मात्मा है और हमारे धन्यवाद का पात्र।

जब तक बैटरी (चोर मशाल) नहीं बनी थी, वर्षा ऋतु की अन्धेरी रात्रि में चलना भय भीत करता था, अब जेब में बैटरी रख लो समय पर इस का प्रयोग कर सुख उठाओ। अग्नि अथवा लालटेन को जेब में उठाये कौन चल फिर सकता था। बनाने वाले ने धन कमाया और हम ने सुख उठाया। धर्म भी तो वही है जिस से इस लोक में भी उन्नति और सुख हो। हमें लज्जा आनी चाहिये कि हम आज लोगों को धर्म के नाम पर एक दूसरे से जुदा कर संसार में दुःख और अवनति का कारण बन रहे हैं, जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण आज की घटना है। यदि हम यथार्थ रूप में धर्म प्रचार चाहते हैं तो हमें पहले वेद मंत्र की आज्ञानुसार अपना अन्धकार मिटाना चाहिये, तभी दूसरों को प्रकाशित कर सकेंगे। और ऐसा होना तब तक असम्भव है जब तक हम स्वयं तनमद, धनमद और राज्य मद में गृहस्थ अनर्थ करना नहीं छोड़ और मनोराज्य के स्थान में राम राज्य की स्थापना नहीं कर पाते। जिस का एक मात्र उपाय आत्म ज्ञान है। और उसके लिए 'निष्काम कर्म' वर्ण-दीपिका का पहला अक्षर है। स्वार्थ रहित जो कोई भी अपने माता पिता, भ्राता आदि सम्बन्धियों, देश वासियों, देश, राज्य और प्राणि-मात्र की ओर अपने कर्तव्य पालन में तत्पर है और संसारिक पदार्थों को क्षण भंगुर जान अन्याय से संग्रह नहीं करता और दूसरों के कष्ट मिटाने में सहायक

बनता है, वही सुख धाम का यात्री बन सकता है अन्य नहीं। आज तो मेरे जैसे धर्म प्रचारकों की करतूतें देख कर तो कवि ने कहा है—

खुदा के बन्दों को देख कर, खुदा से मुन्कर हुई है दुनिया।
जिस खुदा के ऐसे हों बन्दे, वुह खुदा कोई अच्छा खुदा नहीं है॥

मेरे जैसे बगले भक्तों ने ही धर्म को धक्का लगाया है। मुंह में राम राम बग़ल में छुरी। प्रलोभन मिला नहीं कि धर्मात्मापने के स्वांग का पोल खुला नहीं। पादरी साहिब अभी सम्भलने का वक्त है, वरना फिर पछताय होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत। आजकल जो राज्य-नैतिक आन्दोलन चल रहा है, मुझे तो दिखाई नहीं देता कि दीन धर्म के नाम पर फिर से मनुष्य के हत्या काण्ड का दृश्य देखना न पड़े। दिन प्रतिदिन आपस का तनाओ बढ़ता ही जा रहा है, यदि यह न थमा तो याद रखो कि आग लगा जमालो दूर खड़ी वाली बात टल नहीं सकती। मरेंगे गरीब मज़ा लूटेंगे अमीर। भला चाहते हो तो मिल जुलकर रहना सीखो। दीन के नाम पर यह सुलगती हुई चिंगाड़ी अड़ोस पड़ोस को फूंक देगी। धर्म उपदेश से इस को बुझा सकते हो तो बुझा लो, वरना इस की तपश से हम भी बच नहीं सकेंगे। अग्नि जल से शान्त होती है। प्रथम आप शीतल स्वभाव बनो तभी तप्त हृदयों को शान्त कर सकोगे। आगे आप बुद्धिमान् हैं। मेरा आप के प्रति इस विषय में कुछ कहना मानों सूर्य को चराग़ दिखाने वाली बात है। गाड़ी रुकी और हम दोनों उतरे और अपने २ घरों को चल दिये।

यह बात सं० १९४६ आज से पांच वर्ष पहले की है। उस दिन से मैं प्रतिदिन पण्डित जी के सत्सङ्ग में आता हूँ और सत्सङ्ग की महिमा वर्णन करने के लिये मैं योग्य ही नहीं हूँ। मैं तो इतना ही कहता हूँ कि पशु को मनुष्य बनाना सत्सङ्ग का एक छोटा सा गुण है। इससे अधिक कहना तो मेरे लिये ऐसा ही है जैसा सुनने में आ रहा है।

शेष शार्दा व्यास मुनि कहत न पावें पार।
ऐसी महिमा सत्सङ्ग की क्यों कर कहें गंवार॥

मैं ईसाईमत का प्रचारक हूं। भारत के राज्य-नैतिक आन्दोलन में भाग लेने में मैं कई बार जेल-यात्रा भी कर आया हूं। मैं ने सत्सङ्ग में आना किसी शुभ भाव से आरम्भ नहीं किया था। मेरा मतलब तो हिन्दूमत के दोष जानने का था, ताकि उन के आधार पर भोले-भाले हिंदुओं को उनके धर्म से फुसला कर हजरत मसीह के अनुयायी बनाने में सफलता प्राप्त करूं। मेरा और पंडित जी का धार्मिक विचारों में तो विरोध था ही, परन्तु राज्य-नैतिक विचारों में भी वे मेरे सहमत न थे। सत्सङ्ग में आने से पहिले मैं ने उन से प्रतिज्ञा करवा ली थी कि मेरी शङ्काओं का समाधान तत्काल सत्सङ्ग में ही कर दिया जाया करेगा। मुझे घमंड था कि मैं ने हिन्दू धर्म को बहुत अच्छी तरह समझ रखा है, बेचारे पंडित जी में यह बल कहां कि विवाद में मुझे निरुत्तर कर सकें। मेरी जीत मेरे मिशन की सफलता का कारण बनेगी और इसी विचार में मग्न मैं खुशी में फूले नहीं समाता था। दूसरे दिन मैं जब सत्सङ्ग में पहुँचा तो पंडित जी ने सम्मान पूर्वक अपने समीप आसन दिया और सत्सङ्ग के

नियम सुनाये जिनको वह प्रतिदिन दोहराने के पश्चात् कथा को आरम्भ किया करते थे। उनका नियम था कि प्रथम वेद फिर दर्शन और उस के पीछे इतिहास अथवा पुराण की कथा वाचा करते और साथ ही साथ उन सभी पुस्तकों को भी पढ़ते जो विपक्षियों ने इन ग्रन्थों के विरुद्ध लिखी हुई हैं। वेद-मन्त्र के अर्थ की तुलना तो सभी भाष्यकारों के भाष्यों में वेद के छः अङ्गों और प्राचीन ऋषि मुनि कृत व्याख्यानों के आधार पर पंडित जी ने सैनाचार्य के किए अर्थ को ही ठीक ठहराया और अपनी ओर से वर्तमान विज्ञान की कसौटी पर भी परख कर दिखाया और प्राणि-मात्र के हित का आदेश भी दर्शाया और आदिभौतिक, आदिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ किये। सैनाचार्य की अपनी प्रतिज्ञानुसार उस का भाष्य तो यज्ञपरक बताया और अन्य दो प्रकार के अर्थों का ठीक होना ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध किया। वेदान्त-दर्शन के एक मन्त्र की व्याख्या भी इसी रीति से की और श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध की कथा की भी यही शैली थी। मत मतान्तरों ने जितने आक्षेप भागवत के विषय में किए हैं, इतने किसी और हिन्दू ग्रन्थ के विरुद्ध नहीं। पंडित जी ने बारी २ सभी पढ़े और सभी का युक्ति-युक्त प्रतिवाद किया और भागवत के प्रसंग को प्रमाणों द्वारा वेदानुकूल सिद्ध कर दिखाया। जो जो भी पुस्तकें ईसाईयों ने भागवत के विरोध में लिखी थीं और जिन के आधार पर मैं आक्षेप करना चाहता था, उन सभी का इस प्रकार निराकरण किया गया कि भागवत निर्दोष और बाईबल दूषित सिद्ध हो। पण्डित जी का व्याख्यान सुन

मेरी तो अकल के तोते उड़ गये और मेरा घमण्ड मर्दन हो गया और मैं जान गया कि मैं सनातनधर्म जैसे विशाल धर्म के विषय में कुछ नहीं जानता और 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' विद्वानों की परीक्षा भागवत के विषय में ही होती है यह बात उस रोज़ मेरी समझ में आई, वरना मैं तो इस वाक्य की खिल्ली उड़ाया करता था कि हिन्दू कितने भोले हैं कि अपने अवतारों को कलङ्कित करने वाले भागवत जैसे ग्रन्थों को कितना मान दे रहे हैं और सभ्य संसार की दृष्टि में अपमानित हो रहे हैं। पण्डित जी अपने धर्म के गुण दोष दोनों ही पक्ष जनता के सम्मुख उपस्थित कर देते और अन्तिम इसी बात पर भोग डालते कि इस का निर्णय तभी होगा जब हम स्वयं इस योग्य बन जायें कि ध्यान अवस्थित हो वस्तु का साक्षात्कार कर लें, इस के लिए हमें अपने २ मनों को शुद्ध और निमल बनाना चाहिये और हर एक मत में मन को सुधारना और उस को वशीभूत करने के अचूक साधन विद्यमान हैं। अपनी २ रुचि अनुसार हमें उन का आश्रय लेना चाहिये। इसी में ही हम सभों का कल्याण है। एक ही परमात्मा की सन्तान होने से हम सभी भाई २ हैं और हम सब का गन्तव्य अस्थान भी एक ही है। परमात्मा, गौड, अल्लाह और वाहिगुरु आदि भिन्न २ नाम एक ही सत के वाचक है फिर झगड़ा कैसा ?

पण्डित जी के हां तीन काल सत्संग होता है। प्रातः, दोपहर ढले और रात्रि को। प्रातः भगवत प्राप्ति और उसके साधन बताये जाते हैं और सङ्कीर्तन होता है। दोपहर ढले पण्डित जी स्वयं कथा करते हैं और रात्रि को अन्य मत वाले

बारी बारी अपनी २ धर्म पुस्तकों की अर्थ सहित कथा सुनाते हैं और शंका समाधान भी करते हैं। तीसरे महीने मेरी भी बारी आई तो मुझे बाईबल अञ्जील और तौरेत के विरुद्ध लिखी हुईं कई एक पुस्तकें दी गईं। उन में से बहुत सी ऐसी थीं जिन का मैंने पहले कभी दर्शन भी नहीं किया था। मैं ने उन के स्वाध्याय के लिये समय चाहा और छटे महीने मुझे पण्डित जी ने आज्ञा दी कि मुझे पहले लाहौर जा कर अपनी मलकियत बेच आनी चाहिये, तुम्हारी बारी अगले तीसरे महीने देखी जावेगी, यह तो बार बार आती रहनी है।

मेरे बार बार आग्रह (तकरार) करने पर पण्डित जी बोले कि मुझे तो पंजाब का भविष्य उज्वल दिखाई नहीं देता। भारतीय नेता नीति निपुण नहीं हैं। मुझे सन्देह है कि उन के बार बार झुकने ने मिस्टर जिन्नाह के साहस को बढ़ा रखा है। हमारे नेताओं की लाशों पर बनने वाला पाकिस्तान बना कि बना और आबादी का तबादला किसी न किसी ढंग से हो कर रहेगा और पञ्जाब का बटवारा अवश्य भावी है। लाहौर उधर चला गया तो भी घाटा इधर आया तो सरहद पर होने से मकानों की कीमत गिर जायगी। मैं ने तो अपने मिलने वालों को सूचना दे रखी है, वे तो पिछले दसम्बर से ही अपना असबाब यू० पी०, सी० पी० में भेज रहे हैं। कई एक ने मकान बेच दिये हैं और अपने ही मकानों में किराये दार के तौर पर रह रहे हैं और कई एक ने गिरवी कर दिये हैं। मेरे पास भी रावलपिण्डी और लाहौर में मकान थे और मैं भी जब आप को लाहौर में मिला था तो मकान ही बेचने गया था। आज की परिस्थिति तो उस दिन से भी भयानक है।

आप भी मेरा कहना मानो, इस सौदे में आप को जो खसारा होगा, विश्वास करो उस को मैं पूरा कर दूंगा। पंडित जी को कई लोग दूर दर्शी बताते थे और इतना तो मुझे भी ज्ञात हो गया था कि उन के सत्संग में बड़े बड़े राज्य अधिकारी भी सम्मिलित होते हैं। मेरे जी में भी उन की बात पच गई, लाहौर गया तब पता चला कि अब तो खरीदार मिलना दोभर हो रहा है। जिस कोठी का एक लाख रुपया मिलता था, उस का केवल एक ही खरीदने वाला है और वह भी घटते घटते सत्तर हज़ार से साठ हज़ार पर आ गया है।

अन्तिम मैं ने पचपन हज़ार में उसे बेच डाला और आज प्रसन्न हूँ कि इतनी रकम भी हाथ नहीं लगनी थी। लाहौर से लौट कर पण्डित जी से मिला तो कथा का ढंग ही और का और देखा। तीनों काल पण्डित जी स्वयं ही शास्त्र के किसी न किसी वाक्य के आधार पर जनता को उपदेश देते हैं कि हमें हर समय अपनी मृत्यु को भूलना न चाहिये और भूल कर भी पाप न करना चाहिए। छीन झपट कर पराया माल खाने वालों की कभी सद्गति नहीं होती। दीन दुखियों की सहायता करने वाले प्रभु-प्रेम के पात्र होते हैं। प्रति दिन इन ही विचारों को नये २ ढ़ङ्ग से वर्णन किया जाता रहा। और ऐसा करते २ वह दिन आ पहुँचा कि दुखी जनता पच्छमी पंजाब से पूर्वी पंजाब में आने लगी। पंडित जी और उस की मण्डली सेवा के काम में लग गई और सत्संग अब सेवा भाव में बदल गया। दिन-रात भोजन, पात्र, वस्त्र और धन एकत्रित करने और बांटने में व्यतीत होने लगा। १९४७ के अशुभ अगस्त महीने में रुधिर की होली खेली जाने लगी।

कांग्रेस और मुसलमलीग का कोई भी प्रसिद्ध नेता मारा नहीं गया। धनी लोग भी जान बचा निकले। दोनों ओर मौत के घाट उतारे गए तो बेचारे गरीब, बेवाओं और अनाथों की चीख-पुकार हृदयों को छलनी कर रही थी। उजड़े हुए लोगों के पास न कुछ खाने को था और न तन ढांपने के लिए वस्त्र। ऐसे लोग जहां भी पहले पहल पहुंचे, वहां की जनता ने दिल खोल कर उनकी सहायता की। कांग्रेस-राज्य की ओर से बसाने का प्रबन्ध होने लगा जो आज दिन तक पूरा नहीं होने पाया। दुखी और नंगे, भूखे लोग एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाए जाने लगे, ताकि ज़िले और तहसील वार आवाद किए जाएं। इस विषय में बार बार जुदा २ हुकम निकलने लगे, परिणाम यह निकला कि शरणार्थियों का राज्य-आज्ञाओं पर विश्वास न रहा और हुआ भी ऐसा ही कि वे इकट्ठे बसाय भी न जा सके। जहां जिस का सींग समाया बैठ गया। अपनों को उनकी मरज़ी अनुकूल बसाने और बसे हुओं, बेवसीलों को उजाड़ने की कांग्रसी राज्याधिकारियों की स्वार्थ नीति ने यह अन्धेर मचाया कि जिस मकान में जो भी आबाद हुआ वह उस का काठ कवाड़ तक बेच दूसरे नगर को चल पड़ा और इस प्रकार बने बनाये मकान मलवे के ढेर हो गए और इस लूट - घसूट में भाग लेने से बहुत थोड़े मनुष्य बचे होंगे। मैं लैकचरों में अपने नेताओं को यह कहते सुना करता था कि रियास्तों में रहने वाली प्रजा पीड़ित है और राजा लोग जशन मना रहे हैं। राज्य-अधिकारी अपने पद के कार्यों को भली-भान्ति नभा नहीं सकते क्योंकि अधिकार की प्राप्ति राजा की प्रसन्नता

पर निर्भर है न कि योग्यता के आधार पर। दीवान के अयोग्य पुत्र को भी दीवान बना दिया जाता है, काम न चला सके तो उसी को शिक्षा, स्वास्थ्य, सैनिक, आर्थिक, डाक तार आदिक विभागों का मन्त्री पद सौंप दिया जाता है फिर जो अंधेर गरदी मचती है वह वहां की प्रजा ही जानती है। जहां देखो स्वार्थ, कुटुम्ब-पालन और घूस खोरी छाई हुई है। दुखी प्रजा की कौन सुनता है। मुझे शोक से कहना पड़ता है कि आज कांग्रेस राज्य में भी ऐसा ही देखने में आ रहा है, कल की राम जाने। समाचार-पत्रों के पाठकों से ऐसी २ बातें छुपी हुई नहीं हैं। मिस्टर ह्यूम ने जब से कांग्रेस की स्थापना की, इस ने कई रङ्ग रूप बदले। अन्तिम गांधी युग आया। कांग्रेस को अपने मनोरथ में सफलता हुई। इस कामयाबी का सेहरा कोई महात्मा गांधी के सिर बांधता है और कोई नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के सिर। ऐसे भाई भी हैं जो यही रट लगा रहे हैं कि अंग्रेज की अपनी आर्थिक निब ता और ग़दर के भय ने उन से हिंदुस्तान को ही नहीं छुड़ाया, वरना उन्हों ने बर्मा और सीलोन आदिक अन्य देश भी छोड़ने में अपना भला समझा। महात्मा गांधी ने अंग्रेज की दुखी नाड़ी को पकड़ा। वे जानते थे कि व्यापार छिन जाने से अंग्रेज को भारत छोड़ना पड़ेगा। महात्मा जी ने कपड़े का बाईकाट और न मिल वर्तन के साधन चुने सत और अहिंसा पर अपने अंदोलन की बुनयाद रखी। महात्मा जी के सभी साथी महात्मा नहीं बन सकते थे। उन के साथ काम करने वालों में भी लोभियों की कमी नहीं थी और सभी महात्मा जी की नीति के दिल से अनुयायी भी नहीं थे। नेता जी ने अपनी

बुद्धि अनुसार भारत को स्वतन्त्र कराने में अहिंसा को इस सफलता का बाधक जान कांग्रेस के भीतर फारवर्ड-बलाक की नीव धरी और उसी कांग्रेस के लोग दो धड़ों में बंट गए। प्रधान पद के चुनाव में नेता जी ने डा० सीतारमिया पटाभी को हरा दिया और महात्मा गांधी जी ने डाक्टर की हार को अपनी हार माना। इस से पता चलता है कि जनता का रुख किस ओर था, तो भी महात्मा जी निराश नहीं हुए और नेता जी को प्रधान पद से त्याग पत्र देना ही पड़ा। आज भारत स्वतन्त्र है. पर मानना पड़ता है कि परतन्त्र भारत की तुलना से आज प्रजा अधिक दुखी है। न खाने को पेट भर अन्न मिलता है न तन ढांपने को कपड़ा। बेकारी बढ़ रही है। हमारे प्रतिनिधियों की वजारत की उलझनें ही सुलझने में नहीं आतीं। भूखा मरता क्या न करता, पाप बढ़ रहा है। गुण्डों, बदमाशों के हौसले बढ़ रहे हैं। प्रजा-तन्त्र राज्य में जहां गुण हैं वहां यह दोष भी है कि राज्य अधिकार प्राप्ति की लालसा रखने वालों को अपने वोटरों को येन-केन प्रकार से प्रसन्न रखना पड़ता है क्योंकि वोटर ही तो उनकी रीढ़ की हड्डी हैं और यह प्रसिद्ध ही है।

सुर नर मुन सब की यह रीति।
स्वार्थ लाग करें सब प्रीति ॥

इस नियम के अनुसार कांग्रेस के कल के द्वेषी आज कांग्रेसियों के रूप में कांग्रेस में घुस आये हैं और कांग्रेस की वेदी पर बलिदान करने वाले भी अपने अपने बलीदान का मूल्य चुकाने पर उतारू हुए हुए हैं। ऐसी व्यक्तियां बहुत कम हैं जिन्हों ने यह समझ चुप साध रक्खी

है कि वह बलिदान ही क्या जिस के मूल्य की आशा रखी जाय।
जनता के साथ की हुई सभी प्रतिज्ञाओं को कांग्रेस पीछे फेंक रही है। पांच सौ बड़े से बड़ा वेतन का ढंडोरा पीटने वाले आज इस बात को भूल गए हैं। पञ्जाब की अवस्था तो ऐसी है कि तेरहां ज़िलों के प्रबन्ध के लिये सात वज़ीर और उनकी सहायता के लिये पारलीमैंटरी सेकरीटरी जुदा और प्रबन्ध को यदि अन्धेरगरदी का नाम दिया जाय तो अन्यथा नहीं कहा जा सकता। जनता को ऐसे दुर्भिक्ष के समय में सुभीता देने के स्थान में नये नये टैक्सों के बोझ तले पीसा जा रहा है फिरका प्रस्ती का नाश करने वाले स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसको हवा दे रहे हैं। हिन्दी उरदू और गुरुमुखी में लिखी जाने वाली पंजाबी बोली को एक मात्र गुरुमुखी लिपि में संकेत कर देना अन्याय ही नहीं किन्तु अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिये पञ्जाबियों को दो धड़ों में बांटने और परस्पर लड़ने झगड़ने की नींव डाली गई है। राज्य-अधिकारों की प्राप्ति योग्यता के आधार पर नहीं हो रही। पक्षपात को मिटाने वाली कांग्रेस स्वयं पक्षपात में जकड़ी हुई है। कितना भी योग्य मनुष्य क्यों न मिले यदि वह कांग्रेसी नहीं तो उस के लिए राज्य शासन में कोई स्थान नहीं। कांग्रेस के नियम सत और अहिंसा के प्रत्यक्ष विरोधी कांग्रेसी मन मानी करने वाले कांग्रेसियों को क्या मजाल कोई कांग्रेस से बाहर निकालने का नाम तक तो ले। कौन नहीं जानता कि सभी कांग्रेसी सदाचारी नहीं हैं। दुराचारियों के सुधार का कोई तो उपाय होना चाहिए। मेरा सिर तो लज्जा के कारण झुक जाता है जब मुझे वे घटनायें याद आती हैं कि दीन धर्म के नाम पर मनुष्यों ने क्रूर और

हिंसक पशुओं को भी निर्दोषों का लहु बहाने में मांद कर दिया। एक दूसरे के धर्म पुस्तकों और धर्म स्थानों को नष्ट भ्रष्ट करने में ऐसे मग्न हो रहे थे मानो कोई अति पुण्य के कार्य कर रहे हैं। लूट खसूट में भाग लेने वाले सभी धर्म के अनुयायियों को मैं ने अपनी आंखों देखा है। कांग्रेसी भी दूध धुले न निकले। अन्य मतों की नाईं उस के भी कई अनुयाई दोष के भागी बने। कोई कुछ भी कहे मैं कहे बिना नहीं रह सकता कि दीन और धर्म के रहस्य को समझने वाले मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे की जान बचाते और माल अस्बाब की रक्षा करते और सरकारी कैम्पों में पहुँचाते अधिक संख्या में देखे गए, जबकि पञ्जाब के बड़े बड़े धार्मिक नेता और कांग्रेसी अपनी अपनी जान बचा सुरक्षित अन्य स्थानों को दौड़ रहे थे और राज्य अधिकार की प्राप्ति के लिए इस विकट समय में भी अपने अपने दल की दृढ़ता के लिये जोड़ तोड़ करने में लगे रहे। स्वतन्त्र भारत आज सेक्यूलर स्टेट (जिस में किसी दीन धर्म का दखल न हो) है। इस राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुंचना, मनुष्य मात्र के लिए कल्याणकारी बनाना और इसकी रक्षा करना हम सब का कर्तव्य है। कांग्रेस अथवा किसी और सभा से यह आशा रखना व्यर्थ है कि वह अपने से अन्य पक्ष वालों को भी मिलाकर मिली जुली वज़ारत बना लें। यह तभी हो सकता है जब चुनाव का मुख्य नियम योग्यता और सदाचार हो। पार्टी-बाज़ी का झगड़ा न मिटे और न ऐसा हो। जब तक ऐसा होगा नहीं तब तक शान्ति का नाम भी नही होगा। ऐसी स्थिति में प्रजा को सुख कहां ?

जिस प्रकार धर्मावलम्बी अपने अपने धर्म के अनुकरण में सुख मानते हैं और कई एक लाभ उठाते भी हैं, वैसे ही कुछ कांग्रेसी राज्य-अधिकारी तन मन धन से कांग्रेस के नियमों अनुसार अपना कर्तव्य पालन में लगे हुये इसी में अपना और संसार का कल्यान समझ प्रसन्न हो रहे हैं। परन्तु उनकी राज्यनीति भी सकल भारतवासियों को पसन्द नहीं। मुसलम-लीग वाले अपने लैक्चरों में कहा करते थे कि मुसलमानों हिन्दुओं की चाल से बचो। वह अंग्रेज को निकालने के लिये तुम्हें कोरे चिक दे रहे हैं। यह उनकी कूटनीति है और तुम्हें जानना है।

'नीमे नीमे होत हैं उतने ही वेईमान।
नीमे हो ही मारते चीता बाज़ कमान॥

हिन्दू राज्य गये बहुत समय हो चुका, मुसलमान राज्य करना जानते हैं। वे अब उनकी चालों में आने से रहे। मुझे भी कहना पड़ता है कि आज भी भारत पाकिस्तान को हर कीमत पर खुश रखना चाहता है और उस की यह नीति देश को पसन्द नहीं। नीति तो यह है कि 'हर कैसे जैसे को तैसे' जो भी इस नीति को अपनायेगा वही भली प्रकार राज्य का प्रबन्ध कर सकता है। पर आज ऐसा कोई धम नहीं जिस के अनुयायिओं में दुराचारी न हों। न्यून - अधिकता का भेद हो सकता है। दुराचारी अपने पक्ष के सदाचारियों का जीना भी दोभर बना देते हैं। अन्य मत वालों के प्रति उनके वर्ताव की सराहना तो स्वप्न के तुल्य है। यह जानते हुये भी मुझे तो कोई मत ऐसा दिखाई नहीं दिया जो अपने ऐसे अनुयायियों से छुटकारा

पा चुका हो, अथवा पाने के यत्न में लगा हुआ हो। यही हाल राज्यनैतिक सभाओं का है। कांग्रेस इस से वरी कैसे हो सकती है। जो कोई छांटी करे अपने पैर आप कुल्हाड़ा मारे। जिस धर्म के अनुयायियों की संख्या घटी, धर्म-प्रचार के लिये धन की प्राप्ति में भी कमी होगी। धर्म-प्रचार के अड्डे तोड़ने पड़ेंगे और स्वार्थी जन पासा पलट लेंगे। राज्यनैतिक सभा की सख्या की न्यूनता भी उस पारटी की नैय्या को मंझधार में डुबा दिया करती है। ऐसी अवस्था में राज्यपद के अभिलाषी अपने पक्ष के पापियों की ताड़ना कैसे कर सकते हैं। पंजाब के लोहे के कोटे के सिकेंडल से समाचार-पत्रों का कौन सा पाठिक अभिज्ञ है। और भी जो जो कुछ हमारे सुनने और पढ़ने में आ रहा है, वह ऐसा नहीं जो हमें शीघ्र सुख का साँस लेने की ढ़ारस बँधा सके। धार्मिक-सभाओं का भी यही हाल है। स्वार्थ, मान, प्रतिष्ठा और अपने इष्ट मित्रों को लाभ पहुंचाने में लगे हुए मनुष्य धर्म - सभाओं के मुख्य वने बैठे हैं और ऐसे पुरुष बहुत ही कम देखने में आते हैं जिन पर यह उक्ति लागू न हो—

पर उपदेश को हैं कुशल बहुतेरे।
ये आचर ही सो नर न घनेरे॥

पण्डित जी के सत्सङ्ग में मैं ने यही सीखा कि मनुष्य को पहले अपने मत और अपने मन का निरीक्षण करना चाहिये। इसके पीछे वह दूसरों के गुण दोष परखने के योग्य बन सकता है। इस कसौटी पर मैं ने अपने मत और अपने मन को जो कस लगा कर परखा तो मुझे कहना पड़ा कि—

न थी जबकि हाल की अपने खबर।
रहे देखते औरों के ऐबो हुनर।
पड़ी जब गुनाहों पे अपने नज़र,
तो नज़र में कोई बुरा न रहा॥

दूसरों पर आक्षेप करना सहल है पर अपने दोषों को सुनना भी नहीं चाहते। बस चले तो कहने वाले की जिह्वा निकलवा दें। द्वेष की अग्नि को दबाना कठिन हो जाता है। निर्बल समय की प्रतीक्षा करता है और बलवान तुरन्त लेखा चुका देता है। ऐसे मनुष्यों का मिलना कठिन है जो निडर और स्पष्ट वक्ता हों। कोई मत ऐसा नहीं जिस में दुराचारी न हों। न तो कोई उनके सुधार की फिक्र करता है और न ही उन्हें अपनी चिन्ता है। उन के मत के धर्म प्रचारिक भी सब कुछ जानते हुये भी मौन रहने में ही अपना भला समझते हैं। अपने अंधेरे घरों को प्रकाशित करने के स्थान में वह अन्य मत अवलम्बियों को सभ्य बनाने की चिन्ता में घुले जाते हैं और वह भी वेतन के लोभ से। मुझसे भी ऐसा पाप चिरकाल तक होता रहा। बाहर से अन्दर की ओर मुख जो मोड़ा और अपनों को कृश्चन मत अनुसार जीवन व्यतीत करने का उपदेश देने लगा तो ज्ञात हुआ कि हाथी के दांत खाने के और दिखलाने के और हैं। मैं तो स्वयं ही सन्देह में फंसा हुआ था की जिस बाईबल को मैं धर्म ग्रन्थ मान रहा हूँ, उस में यसूह मसीह की शिक्षा ज्यों की त्यों लिखी भी हुई है कि नहीं क्योंकि यसूह मसीह ने आप तो इसको लिखा नहीं न यह उसके जीवन में लिखी गई। इस के लिखने वाले तो मत्ती, मार्क, लूक और योहन थे और उन्हीं के नाम से

रचित पृथक पृथक भाग हैं। वर्तमान पुस्तक इवरानी भाषा से उलथा होते इस दशा को प्राप्त हुई है। और विश्वास पूर्वक यह भी नहीं कहा जा सकता कि उलथा करने में कोई भी दोष न रहा हो।

(१) विपक्षियों के मसीह का जन्म और करामातें। [२] हज़रत नूह की नाव, (३) ह. अविरहीम का अपनी पत्नी सरी को कहना कि वह मिश्री लोगों को ऐसा कहे कि मैं उस की पत्नी नहीं बहिन हूँ ताकि वह मारा न जाये। (४) ह. लूत की दोनों बेटियों का अपने पिता से गर्भिणी होना इत्यादि अनेक आक्षेपों का सन्तोष जनक उत्तर तो बनने से रहा किन्तु ऐसे ही आक्षेप उन पर करने से अपनी त्रुटियों को एक प्रकार से स्वीकार करना होता था। मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए तो बाईबल की दो चार शिक्षाएं ही प्रर्याप्त हैं जैसे—

(१) हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे। अपने लिए पृथ्वी पर धन का सञ्चय मत करो।

(२) मैं तुम से सच कहता हूं धनवानों को स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना कठिन होगा फिर भी मैं तुम से कहता हूँ कि ईश्वर के राज्य में धनवान के प्रवेश करने से ऊंट का सूई के नाके में से जाना सहज है।

(३) और तब वह हर एक मनुष्य को उसके कार्य के अनुसार फल देगा।

(४) (Know Thyself) अपने आप को जान।

सभी सत्संगी जानते हैं कि मनुष्य के मन पर जब तक लोभ का मल जमा हुआ है, तब तक उस का मन निर्मल नहीं हो

सकता। मन की शुद्धि विना लोक और परलोक में सुख कहां? लोभ पापों का मूल, आप ने कई बार यहां सुना है और यह शिक्षा भी आप को दी जा चुकी है कि 'पापां बाझह न होये इकट्ठी, मूयां संग न जाये'। धन पाप विना एकत्रित होता नहीं और कोई भी मृतक उसे अपने साथ ले जा नहीं सकता। पूञ्जीवाद और साम्यवाद का झगड़ा आज मिट जाये यदि पूञ्जी वादी भी मज़दूर जितनी मजदूरी ले और अपने सरमाय का बैंक रेट पर सूद लगा ले और शेष नफा सभी काय कर्ताओं में सम-भाग से बांट लिया जाय। घाटे के लिये सभी से एक जैसी कटौती की जाय और ऐसी ही काट उद्योग धन्धे अथवा कला कौशल को चालू रखने के लिये होनी चाहिये। ऐसा होना तभी सम्भव है जब हम इस संसार में अपने लिये धन जमां न करें और सब कुछ प्रभु का समझें। ईसाई बादशाह तक की यह प्रार्थना कि 'हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे', उस के निर्धन होने की सूचक तो नहीं किन्तु इस बात की सूचना है कि सभी कुछ प्रभु का है हमारा कुछ नहीं। धन के लिये लालच मत करो, लोभी का मन शुद्ध नहीं हो सकता और पापी को ईश्वर दर्शन कहां? अपने किये कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। शुभ कर्मों से मन शुद्ध होता है। संस्कृत मन ही अपने स्वरूप को जानने में सहायक है। अपनी पहचान ही से सर्व संशय मिट जाते हैं और मनुष्य कृत-कृत्य हो जाता है। बाईबल की इस शिक्षा का कोई भी मत विरोधी नहीं।

शोक है तो इतना कि इस मत के अनुयायी स्वयं इस शिक्षा का पालन नहीं कर रहे। ईसाईमत के प्रचार के लिए विदेश

से धन की प्राप्ति केवल राज्य-नैतिक लाभ के लिये होती रही। सरकार अंग्रेजी भारत के कोष से तो रुपया देती रही, यदि उस को ईसाईमत के प्रचार से हित होता तो आज इंगलैंड के कोष से भी धन भेजती।

कोई मानो या न मानो, यह बात सच ही है कि ईसाईमत ने सभी मतों पर कहीं न्यून कहीं अधिक अपना प्रभाव डाला है। यह ईसाई-मत की ही विशेषता है कि इसमें खाने पीने के किसी भी पदार्थ को अभक्ष और अपेय नहीं कहा। न कोई जाति-बधन है और न कोई छूत-छात। एक समय में एक ही विवाहिता स्त्री रखने की आज्ञा है। विधवा-विवाह और तलाक धर्म अनुकूल है। बेटे-बेटी में कोई भेद-भाव नहीं। मातृ और पितृ कुल में बहिन कहलाने वाली कन्या से विवाह का निषेध है। स्त्रियों के लिए कोई परदा नहीं। मनुष्य की नाईं स्त्री भी धन कमाने में स्वतन्त्र है। बड़ी आयु में विवाह का होना और बाल्य-विवाह का निषेध। कन्याओं और बालकों की इकट्ठी पढ़ाई हानि-कारक नहीं। धर्म के नाम पर किसी विशेष भेष-भूषा का विधान नहीं। न कहना चाहता हुआ भी पण्डित जी की आज्ञा से कहता हूँ कि हमारे ही अनुकरण में मुसलमान और हिंदू स्त्रियाँ परदा उठा रही हैं, यद्यपि उनके धर्म-ग्रन्थ परदे का विधान करते हैं। हिंदुओं के धर्म-ग्रन्थ द्विजों के लिये विधवा-विवाह का निषेध करते हैं और आज इस को धर्म के नाम पर किया जाता है, ऐसा ही छूत-छात के विषय में है। शारीरिक सुख सभी चाहते हैं. इस के लिये मेरा धर्म तो यहां तक खुली छुट्टी देता है कि जो चाहो खाओ, पीयो और पहनो

और हम इस विषय में आगे बढ़े हुये हैं कि अपने इकलौते पुत्र के मृतक-शरीर को गाड़ने जाने से पहले अपना नियत समय के आहार को त्यागते नहीं। यह बात अन्य मत के किसी निर्मोही में तो देखी जा सकती है। ईश्वर वादियों में छूत-छात का मूल-नाशक मेरा ही धर्म है। मुसलमान बना हुआ भंगी मुसल्ली कहलाता है और ऊँची मुसलमान जातियें उस को बहिन, बेटी का नाता नहीं देतीं, नीची जातियें और ऊँची जातियों का भेद इसलाम भी मिटा न सका और हिंदुओं का तो यह हाल है कि अछूत भी परस्पर छूत-छात में जकड़े हुए हैं। चमार अपने आप को ऊँचा मानता है और भङ्गी के हाथ का खाता पीता तक नहीं सम्बंध करने की बात तो दूर रही। अधिक न कहता हुआ इतना ही कहता हूं कि खान, पान, पहरान, विवाह आदि की स्वतंत्रता की छाप मेरा ही धर्म अन्य सभों पर लगा रहा है। रही बात धर्म पालन की उस में हम भी ऐसे ही कोरे हैं जैसे और। मेरे धर्म का रहस्य तो एक वाक्य में ही कहा जा सकता है कि संसार में रहते हुए इस बात का कोई गौरव नहीं कि मेरे पास क्या है, परन्तु विशेषता तो इस में है कि में जानूं कि मैं कौन हूँ और सहन-शीलता का नमूना बन दिखाऊँ। एक गाल पर चपत खा दूसरी मारने वाले के सम्मुख कर दूँ। पर ऐसा करता कौन है, हम तो स्वयं अपने दो फिरकों का भेद-भाव मिटा नहीं सके, दूसरों को किस मुंह से शिक्षा दें ? स्वतंत्र भारत में सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि इस देश के वासी सदाचारी हों तभी लोक-राज्य शान्ति-दायक हो सकता है। इस देश में सदाचार परखने की कसौटी जुदा २

है। मेरे धर्म में खाने पीने पर सदाचार निर्भर नहीं। मैं पहले कह चुका हूँ कि अपने योगक्षेम को खुदा पर छोड़ना और अपने लिये पृथ्वी पर धन का सञ्चय न करना धर्म है। यदि हम लोभ से पाक हो जायें तो सदाचार के शिखिर पर पहुँच जाते है। मैं ने तो अपने प्रचार को अब इतनी बात पर ही ठहरा लिया है कि धन साथ जाने वाली वस्तु नहीं। इस के लाभ के लिये पाप मत करो और अपने आप को जानने का प्रयत्न करो और इस के लिये तुम्हें अपने प्रभु को स्मरण करना चाहिये जो तुम्हारे दिलों को जानता है और तुम्हारे कर्मों का फल देगा। यसूह पर ईमान लाने का मतलब उल्टा मत समझो कि तुम उस की आज्ञाओं का उल्लङ्घन भी करो और फिर उसकी शिफायत (कृपा, प्रसाद, शरणागति) के पात्र भी रहो। रही बात खान-पान की, मेरे जैसे कई हैं जो (Vegetarian and Tee-totaler) सबज़ी खोर और चाये पीने वाले हैं। और आज हम स्वयं इस बात का प्रचार कर रहे हैं। यह अपना प्राकृतिक स्वभाव है कि आज्ञा होते हुए भी कई ईसाई न मांस खाते हैं और न शराब पीते हैं और जिन मतों में इन चीज़ों के खाने पीने की मनाही है, उन के कई अनुयायी सामने और कई छुप कर खाते पीते हैं और अपने धर्म के नियमों को उल्लङ्घन करने से पाप के भागी भी बनते हैं। मनुष्य ने धन को सब भोग सामग्री की प्राप्ति का एकमात्र साधन मान रखा है और धन के लोभ में ही वह नाना प्रकार के अपराध करता है। इस ओर स उस का मुंह फेर कर यदि उसे अपने स्वरूप की खोज में लगा दिया जाय तो ऐसा मनुष्य आप ही नहीं उस के सम्पर्क में आने वाले भी

दूसरों के लिये इसी शिक्षा के प्रत्यक्ष आकर्षिक केन्द्र बन जाते हैं। मनुष्य धन, रत्न (स्त्री) और मान (बड़ाई) इन तीन बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। जो कच्ची बेड़ी को भी काट नहीं सकता अन्य दो दृढ़ बेड़ियों को कैसे काट सकेगा जैसा कि कवि का कथन है—

लोभ तजना सहज कठिन तिरया का नेह।
मान बड़ाई ईर्षा औखी तजनी एह॥

क्या हम देख नहीं रहे कि चौर-बाज़ारी, घूसखोरी और अन्य नाना प्रकार के पाप प्रायः धन और परस्त्री प्राप्ति के लिये हो रहे हैं और मान, बड़ाई, ईर्षा की अग्नि में जलने वाले इस अग्नि को शान्त करते २ देशों के देश जङ्ग की भट्ठी में भस्म करवा देते हैं। मेरे निकट जो मनुष्य इन तीनों दोषों से बच निकलता है अथवा बचने का यत्न करता है, वही सदाचारी है। यही मैं ने इस सत्सङ्ग से सीखा है और यही शिक्षा यसूह मसीह की भी है और सदाचार के प्राण भी और इसी का आश्रय लेकर हम लोक-राज्य को सुख-प्रद बना सकते हैं क्योंकि हम स्वार्थ से ऊपर उठ कर किसी सदाचारी को ही अपने वोटों का पात्र समझेंगे और वह भी लोभी न होता हुआ पक्षपात रहित न्याय अनुसार शासन करेगा। ऐसे राज्य में गुण्डों बदमाशों के चैन उड़ाने का अवसर ही कहां। ऐसे राज्य में ही शेर बकरी एक घाट पानी पिया करते हैं। इसी के लिये यत्न करो। जब तक कांग्रेस में यह भाव है कि कांग्रेस की खातर जेल काटने वालों में सभी गुण हैं चाहे वह कैसा भी हो और वही राज्य करने योग्य है तब तक देश में शान्ति कहा? मैं ने तो प्रण कर लिया है कि मेरे

वोट का अधिकारी सदाचारी है चाहे वह कोई भी हो। आज हमारे अहोभाग्य हैं कि हाजी करीम बखश जी भी दिल्ली से हमें मिलने के लिये आये हुये हैं। मैं उन से प्रार्थना करता हूं कि वह भी अपने मनोहर वचनों से हमें कृतार्थ करें।

हाजी – यह बात ता मैं आप के प्रति कई बार कह चुका हूँ कि दीन इसलाम के अर्थ हैं सलामती का धर्म। वह धर्म जो सब का सुख शन्ति का दाता हो। दुष्ट शन्ति का भङ्ग करते हैं और दुष्टों को अपना सर्वस्व लगा कर भी नाश करने की इसलाम आज्ञा देता है। दुष्ट इसलाम का शत्रु है इस लिये उसे मार डालना और उस का सब कुछ छीन लेना महान् पुण्य है। दुष्ट वह है जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों पर जुलम करे। किसी का धन छीन ले, दूसरों की स्त्री भगा ले जाये अथवा और की भूमी को अपनी बना बैठे। और ऐसे दुष्ट के मनोरथ सिद्धि में बाधा डालने वाले को वह प्राण दण्ड देता या उस का परिवार भस्म कर डालता है। यह दूसरे शब्दों में हिन्दू जिस को आततताई कहते हैं वह दुष्ट इसलाम का दुश्मन है और वही काफर है और काफरों को मारना नेकी है। काफर मुसलमान बन जाये तो उसकी जान वखशी का हुकम है, यदि वह फिर से मुरतिद (इसलाम छोड़ दे) तो उसे संगसार (पत्थर मार २ कर मार डालना) कर देने की आज्ञा है ताकि दूसरों को इबरत (शिक्षा) हो। भाव यह कि दुष्ट सदाचारी बनना स्वीकार कर ले तो क्षमा का पात्र है फिर से दुष्टाचार करे तो प्राण दण्ड का भागी। दुष्टों को दण्ड देने के अर्थ लड़ाई का नाम ही

जहाद है। अपने से भिन्न धार्मिक विचार रखने वालों को काफर कहना कुफर है और इसलाम की तोहीन (अवहेलना) यदि मेरे कथन को सत्य न माना जाये तो कोई भी मुसलमान कुरान शरीफ के इस फरमान (आज्ञा) की व्यवस्था ही नहीं लगा सकता कि इसलाम रवादारी सिखाता है और पड़ोसी से शुभ वर्ताव'। मुसलमान का मुसलमान को मारना तो इस्लाम में कुफ़र माना ही गया है. इस लिये मुसलमान पड़ोसी से तो रवादारी का प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता। मानना पड़ेगा कि यह आज्ञा उनके विषय में है जो नेक हैं और विचारों में भिन्नता रखते हैं। कुरान मजीद अरबी भाषा में है और उसके ज्ञाताओं के भाष्यों के आधार पर मुसलमान कई अवान्तर मतों शीआ. सुन्नी आदिक में बंटे हुये हैं और मुसलमानों का यह परस्पर भेद अमिट है। ऐसी अवस्था में यह आशा रखना कि अन्य मत उन की बात मान अपने धर्म को तिलाञ्जली दे दें स्वप्न तुल्य है। अपने २ ढंग पर अपना २ सुधार करते हुए मनुष्यमात्र सदाचारी हों, सर्व धर्म ग्रन्थों के रहस्य सुख-शान्ति की स्थापना में सहमत हो सकते हैं. परन्तु धर्म के नाम पर भिन्न २ रीतियों (रसमोरिवाज) को एक करना अति कठिन है। मैं यह जानता हुआ भी कि अन्य मतों के कुछ अक्षेपों का मेरे पास क्या किसी भी मुसलमान के पास सन्तोष-जनक उत्तर न होते हुये हम इस्लाम से चिपटे रहने में ही अपनी सलामती मानते हैं. फिर हम दूसरों से इस के उल्ट आशा कैसे रखें? इस लिए एक ही खुदा के बन्दे होते हुयें हमें मनुष्य-मात्र को एक ही कौम समझना चाहिए और भाइयों की तरह मिल-जुल

कर रहना चाहिए । अपने मत के दुष्टों का सुधार और अन्य मत के सदाचारी से प्यार की रीत डालनी चाहिए, इसी में हमारा और संसार का कल्याण है ।

जिस समय मुझे वाद-विवाद की लगन थी एक विपक्षी ने एक ही प्रश्न के आधार पर मेरा मुंह बँद करा दिया कि कुरान शरीफ आलमुलग़ैव (सर्वज्ञ) खुदा का बनाया हुआ नहीं हो सकता। एक तो कुरान मजीद हजरत मुहम्मद साहिब के जीवन के पीछे पुस्तक रूप में बना, और उसकी कुछ आयतें बकरी खा गई, ऐसी स्थिति में कैसे माना जाय कि वर्तमान कुरान शरीफ़ वही है जो हज़रत पर उतरा था और भी ऐसे २ अनेक आक्षेपों का मैं अप्रतिहार करता रहा, पर उस दिन मुझे कुछ न सूझी और न आज तक संदेह की निवृत्ति हो सकी। मैं अपने कई इस्लामी आलमों (विद्वानों) से भी पूछ चुका हूं पर बात अभी तक वहीं की वहीं है ।

प्रश्न था 'और किये हम ने बीच पृथ्वी के पहाड़ ऐसा न हो कि हिल जावे। मं० ४॥ सि० १७॥ सू० २१॥ अ० ३० क्या सर्वज्ञ ईश्वर को ज्ञान नहीं था कि जमीन तो क्या पहाड़ भी भूकम्प (भूछाल) में हिल जावेंगे जिस के लिये अनेकों प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं। मैं ने उस दिन से विवाद करना छोड़ दिया है और अपने दीनी मसलों को आप ही सुलझाने का यत्न करता रहा हूँ। मैं अपने उपदेशों में सदाचार का प्रचार करता हूँ जोकि दीन की असली रूह (जीवन) है। इस्लाम में भी कई ऐसे फ़िरके हैं जो न तो खुदा पर ईमान रखते है और न ही कुरान शरीफ़ पर और खुदा की हस्ती और कुरान शरीफ़ के खुदाई कलाम

होने में भी सन्देह करते हैं। पादरी साहिब की यह बात तो मुझे भी माननी पड़ती है कि स्वयं बहुत से मुसलमान रोजह, निमाज़ और ज़ुकात कोई भी फरज़ अदा नहीं करते, और इस्लामी शरई दाड़ी, मूंछ और लिवास के तो कहने ही क्या, इनका भी प्रायः अभाव सा हो रहा है।

आज कल एक सुभीता जरूर हुआ है कि अपने अनुभूत विचारों को प्रकट करने के लिये दीन के नाम पर न ही सूली पर चढ़ना पड़ता है न सिर कटवाना पड़ता है और न ही खाल खिचवाई जाती है। मैं स्वयं सूफी विचारों का हूँ और एक ऐसी अवस्था विशेष का मानने वाला जहां बन्दह और खुदा एक हो जाते हैं। इस्लाम इस को कुफ़र मानता है क्योंकि इस के सिद्धान्त अनुसार बन्दह कभी खुदा नहीं हो सकता। सूफी फिरका मुसलमानों में विद्यमान है और यह बात विचारनीय है कि मुसलमानों में यह विचार आये कहां से ? अगर तो इस का बीज कुरान शरीफ में मिलता है तो शाहनशाह औरङ्गजेब जैसे गाज़ी और कट्टर मुसलमान ने सरमद का सिर कटवाने का भयानक अपराध किया और मंसूर को सूली चढ़ाने वाले भी दीन इसलाम से भली-भान्ति परिचित नहीं कहला सकते और भी कई एक को इन विचारों के आधार पर दण्ड भोगना पड़ा।

रुवाईयात सरमद में तो 'नमे दानम खुदाये मन अभयचंद अस्त या गैब' मैं नहीं जानता कि मेरा खुदा अभयचन्द है या परोक्ष, यह मिलता है और इस से मानना पड़ता है कि अर्ब देश से सिंध में आने पर सरमद साहिब ने यह शिक्षा अभयचन्द से पाई हो और भी कई मुसलमान फकीरों की

कलाम में हिंदु-विचारों की छाप लगी हुई मिलती है जैसे—

एथे रहना भी नहीं ओ मत खरमस्तियां कर ओ।
कौरव पांडव भोज और विक्रम दस कहां गये किधर ओ।
शाह हुसैन फकीर रवाना झूठी दुनिया कूड़ाई वाना।
तूं हरिचरनन चित्त धर ओ॥

ये विचार माधो लाल से ही आये हुये सिद्ध होते हैं। इस नकम्मे झगड़े से लाभ कुछ नहीं। मैं तो इतना ही कहता हूँ कि जब खुदा सभी का एक है, भिन्न २ भाषाओं में जुदा २ नामों से कोई भेद नहीं पड़ता. अपने २ ढंग से अवादत करता हुआ जो भी अन्तिम ध्येय तक पहुँच जाये उन सभी का अनुभव एक जैसा ही होगा।

कुरान शरीफ की यह भी शिक्षा है कि 'मर मरने से पहले' 'और तहक्कीक पहचान लिया उसने खुदा को जिसने जान लिया अपने आप को' मैं तो इन दो बातों को ही मनुष्य जन्म को सफल करने और संसारिक शान्ति के लिये काफी समझता हूं। खुदकशी की आज्ञा तो इस्लाम देता नहीं इस लिये मरने से पहले मरने का भाव है, अपनी कामनाओं को वश में करना और मौत से शिक्षा लेना कि जाती बार खाली हाथ जाना होगा, नेकी बदी साथ जाएंगे, पिछलों के लिये पाप से धन सञ्चय करना मुझे दोजख की आग में जलायेगा। दुखियों की आहें खाली नहीं जाएंगी और जिनके लिये पाप करता हूं वह मेरी कुछ सहायता नहीं कर सकेंगे। कियामत के रोज बख़शा तो तभी जाऊँगा अगर मैं मुसलमान हुआ, काफ़रों वाले कर्म करने से मुझे मुसलमान कौन मानेगा।

मृत्यु को याद रखने से मन का शुद्ध हो जाना जरूरी है और ऐसा मन स्वरूप ज्ञान का सहायक होता है। अपने आप को जानने की देरी है कि फिर खुदा की प्राप्ति में कोई रुकावट नहीं। पण्डित जी इस विषय में अपनी वारी में खोल कर कहेंगे क्योंकि इसी को सुनने के लिये मैं आया हूँ।

बलवान अपने निर्बल भाई को कष्ट देकर अपने पिता की दया का पात्र नहीं बन सकता किन्तु पिता के हाथों दण्ड पाता है, ऐसे ही तन, धन और राज्य के घमण्ड में मदमस्त मनुष्य प्राण-धारियों को सता कर प्रभु दण्ड से बच नहीं सकता। सुख-शान्ति चाहते हो तो सदाचारी बनो और भाइयों की तरह मिल-जुल कर रहो। स्वार्थ-वश निरापराधियों के सुख और शान्ति का भङ्ग न करना और अपराधियों को राज्य-दण्ड दिलाने में तत्पर रहना यही सदाचार है। यदि इस में देश, जाति और धर्म विषयक विचारों की भिन्नता पक्षपात का हेतु न हो। पत्थरों के आकार, रंग और देश की भिन्नता के कारण उन से प्रकट होने वाली अग्नि नाना प्रकार की नहीं होती, ऐसे ही मनुष्य जाति में एक ही परमात्मा वराजमान हो रहा है, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा और गुरु द्वारा उसी एक के ही पूजने के स्थान हैं और प्राणी मात्र के हृदयों में एक ही जोत जगमगा रही है। ईंट, पत्थर, लोहा और लकड़ी आदि के बने हुये मन्दिर आदिकों को भ्रष्ट करना और जीते मन्दिरों को गिराना लाभ के स्थान में हानिकारक है, इस से बचो और पुण्य के भागी बनो।

यही है प्रस्तिश यही दीनो इमान।
इनसान के लिये मर मिटे इनसान ॥

मैं तो इसी में ही संसार का कल्याण समझता हूँ। आगे जो न्यूनता है, उस को सरदार गुरमुख सिंह पूरा कर देंगे।

गुरमुख सिंह— मैं तो दुविधा में फँस गया, कहूं तो कहूं क्या। मैं तो सिख-मत को हिंदू-धर्म का ही अँग जानता और मानता हूँ। गुरु अर्जुन देव जी ने ग्रन्थ साहिब की बीड़ बांधते समय हिंदू-मुसलमान दोनों मतों के भक्त-जनों की बाणी को आदर देते हुये ग्रन्थ साहिब में समानता का स्थान दिया और 'नहीं कोई वैरी नहीं है बेगाना सगली संग हम को बन आई' यह गुरु वाक्य संसार में सुख-शान्ति के प्रकाश का केन्द्र कहा जाये तो उचित ही है। इस प्रकाश की ओर जाने वाले कई मार्ग बताये गये हैं। वही पथिक प्राप्त स्थान पर पहुँचा करता है जो अपनी योग्यता अनुसार श्रद्धा-पूर्वक एक राह पर चल पड़े और फिर उस से भटके न। 'आप पहचाने ज्ञानी सोई', 'कहो नानक बिन आपा चीने मिटे न भ्रम की काई' यह है मेरा मार्ग और इस मार्ग में आने वाले कान्टों को जिस झाड़ू से मैं साफ करता हूँ और अपने पैरों की रक्षा के लिये जो जूता मैं ने पहन रखा है, उस का आधार भी गुरुवाणी ही है। कीदे नाल लाइये दोस्ती कोई संग न चल्लन हार, 'जो दीसे सो सकल विनासी जूं बादल की छाई', 'दृश्यमान है सगल मथीना,' परमात्मा नूं भुलियां व्यापन सब्भै रोग' 'सर्व रोग का औषध नाम', 'सूक्ष्म-स्थूल सर्व भगवान नानक गुरमुख ब्रह्म पहचान'। संसार माया जाल है। इस झूठे इन्द्रजाल को बालकों की नाईं सत्य नहीं मानना चाहिये। भानमति के तमाशे को बुद्धिमान पुरुष की तरह देखो और इस खेल में सजनहार को मत भूलो जिस का भूलना ही सब रोगों का मूल

है और उस का नाम स्मरण सर्व रोग नाशिक और वह प्रभु ही ओत प्रोत हो रहा है, उस के बिना कोई वस्तु नहीं। साईं बुल्लेशाह का कथन है—

बुल्या शौह बाजों कख नहीं, पर तैनूँ देखन वाली अख नहीं।

इस दृष्टि की प्राप्ति के लिये 'तेरे मन दा सूतक लोभ है इस तज के देख अमीरी' यह गुरु वाक्य अचूक साधन है और सदाचार की कुंजी भी और शुभ कर्म होने से शांति की पूञ्जी भी क्योंकि पाप तो लोभवश ही होता है। लोभ त्याग से सन्तोष आता है, जो परम लाभ है और शम दम का कारण भी है। लोभी भटकता फिरता है और सन्तोषी शांत चित्त ईश्वर प्रेम में रत कृत कृत्य हो जाता है। उस के सर्व कर्म परोपकार के लिये होते हैं और यही सच्चा भजन है कि जनता की निष्काम भाव से सेवा की जाय। दुःखी और पीड़ित हिन्दू जाति की रक्षा के लिये ही चारों वर्णों के शूरवीर संत सिपाही के रूप में श्री गुरु गोविन्द सिंह की आज्ञा के आधीन सिंह सजने लगे। सिक्ख इतिहास साक्षी है कि सिख हिन्दू हैं। गुरु तेगबहादर जी के बलिदान के विषय में लिखा है—

तिलक जंजु तांका, प्रभ राखा।
किया कलु - काल में साका॥

सिक्खों और मुसलमानों में जब पहला अहदनामा (संधि-पत्र) हुआ तो उस की एक प्रतिज्ञा थी कि पंजाब में गौ - हत्या बन्द हो। वे सिख जो अपने आप को हिंदु नहीं मानते वे इतिहास को झुठला रहे हैं। यह फूट तो अंग्रेज की डाली हुई है, जो अब दूर हो जानी चाहिये। सिख यदि हिंदू न होते तो ग्रन्थ साहिब की बीड़ बंधने के पीछे उनके

जीवन और मृतक संस्कार अन्य हिंदुओं की नाईं ब्राह्मण वैदिक रीति से क्यों कराते । हम तो आज भी प्राचीन मर्यादा के अनुयाई हैं । आनन्द - कार्य और मृतक - संस्कार ग्रन्थ साहिब के शब्दों द्वारा किये जाना थोड़े चिर की बात है । विवाह समय जो शब्द पढ़ कर ग्रन्थ साहिब के इर्द-गिर्द जो लावें दी जाती हैं, उन शब्दों का तो संसारिक विवाह से दूर का भी संबन्ध नहीं । मृतक प्राणी के विषय में जो भोग डाला जाता है इस में अन्त में राम कली सुन्दर पढ़ते हैं जिस से स्पष्टतया सिद्ध है कि उस में वही रीति वर्णित है जो हिन्दु करते हैं । जो इन वचनों से सिद्ध है ।

आद ग्रन्थ राग रामकली वाणी सुन्दर पौड़ी ५ ।

अन्ते सतगुर बोलिया मैं पाछे कीरतन करहू निर्वाण जिऊ,
केसो गोपाल पंडित सदि अहि हरि २ कथा पढ़हि पुराण जिऊ
हरि कथा पढ़िये हरि नाम सुणिये वेबाण हरि रंग गुरु भावए,
पिण्ड पत्तल क्रिया दीवा फूल हरिसर पावए ।
हरि भाइया सतगुर बोलिया हरि मिलिया पुरुष सुजाण जिऊ,
रामदास सोढ़ी तिलक दिया गुरु शब्द सच निसाण जिऊ ॥

श्री गुरु नानक देव जी का अपने पिता बाबा कालु जी का मृतक श्राद्ध करना ।

— चौपाई —

सुन कर दीन भई यह वाणी । लता वातते जिऊँ कुमलानी ॥
हाथ बन्द हूए तिमिर विशाला । बोली वचन सुनो प्रभु दयाला ॥
भक्त के है श्राद्ध तोहे ताता । जिऊँ भावे तिऊँ कर सुखदाता ॥
अष्ट दिवस प्रकासियो भाना । भोजन भये तियार विधि नाना ॥

धर्म्म स्तल ते उठ सुखरासा। गये सुलखणी केर अवासा॥
विध सों करावन लागे श्राद्धू। जहमध राजैहं धर्म्म अगाधू॥
सूर्य प्रकाश का प्रथम हिस्सा नानक प्रकाश अ० ५५।

कविता अ० ८७—८८)

अर्थात् वायु से कुमलाई हुई लता की तरह दीन और नम्र हो कर तथा हाथ जोड़ कर यह कहा कि कल आप के पिता का श्राद्ध है जैसा आप के मन को अच्छा लगे वैसा करो। दूसरे दिन सूर्योदय के अनन्तर भोजनादि के तैयार हो जाने पर गुरु नानक देव जी धर्म्मस्तल से उठ कर सुलखणी के घर गये और विधि पूर्वक श्राद्ध जिस में अत्यन्त धर्म होता है करने लगे। यही प्रसङ्ग वाले वाली जन्म साखी की साखी १८३ में दर्ज है बल्कि वहां तो इतना और अधिक लिखा है कि पिता का श्राद्ध करने के लिये ही गुरु नानक देव जी अपनी करामात से दो दिन और जिन्दा रहे। श्री गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपने पिता गुरु तेग बहादर जी का मृतक-संस्कार हिन्दू रीति से किया।

—चौपाई—

प्रथम गुलाब सनान कराई। पुनि गङ्गा जल से अनवाई॥
दिवस सातवें फूलन पाई। बैठे हेतु किरिया सुर राई॥
सभ मिल हरन चम्म सों पाई। विष्णु पटी प्रभु दिये पठाई॥
देवी दास पुत्र गरुड़ पुराना। दिन तेरह में पूरक ठाना॥
करि किरिया शुभ धर्म्म शान्तः॥

पितरण पख पहुँचा आई। पितरन की तिथहु सुन पाई॥
त्रीया सों कहा श्राद्ध नहीं कीजै। तिन हम कही अभी कर लीजै॥

सकल श्राद्ध को साज बनाओ। भोजन समै द्विजन को आयो ॥
पति हम कही काज त्रिया कीजै। इनको दक्षिणा कछु नहीं दीजै ॥
त्रीया कहा मैं ढिल न करहूं। टका टका विराजव दैहूं ॥
द्विजन देत विलम्ब न करहूं ॥

(दशम गुरु ग्रन्थ साहिब श्रीमुख वाक पातसाही १०, चरित्र ४०)

अर्थात पति ने पत्नी से कहा– पितृ-पक्ष तथा पितरों की तिथि आगई है क्या श्राद्ध नहीं करोगी ? पत्नी ने कहा अभी कर लूंगी। सम्पूर्ण श्राद्ध का साज बनाया। जब ब्राह्मणों के भोजन का समय आया तो पत्नी को कहा कि इन्हें दक्षिणा नहीं देगी ? पत्नी ने कहा अभी टका टका दक्षिणा देती हूँ। ब्राह्मणों को देने में देर नहीं करूँगी।

—सौ साखी की साखी ७२—

एक बार गुरु दसम जी के श्राद्ध होया। पण्डित, पांधे, ब्राह्मण इकट्ठे किये श्राद्ध दी धर्म्म सान्त करी। मोहर दी दक्षिणा देकर सेजा, गऊ, घोड़ा, गहने जनाने मरदाने दिये। गुरु दसम जी सभ लोकां नू बोले— श्राद्ध त्रिधि दूर हैगी कोई विरला ही पात्र होऊगा।

गुरु गोविंद सिह जी मृतक श्राद्ध के लिये अकाल पुरुष का हुकम दशम ग्रन्थ साहिब में बतलाते हैं– दशम ग्रन्थ अकाल अस्तुत कविता अंक १४८– किये देव अदेव श्राद्ध पितम।

श्री भाई मनी सिंह कृत भगत रत्नावली साखी ७२ में आदि गुरु ग्रन्थ साहिब राग आसा की वार, महला १ पौड़ी ७ श्लोक १ का विस्तार पूर्वक अर्थ है। (सेवा, सुभागा, उटवंगा अरोड़े चूहणियां विच रहन्दे सँन। उनां अरदास पञ्चमी

पातसाही पास की सी। जो एथे पितरां दे निमित्त दिये हैं। तां पितरां नूं पहुंचदा है कि नहीं। तां वचन होया पहुँचदा है। गुरु नानक जी भी वचन कीता है—

जे मोहा का घरमुहि पितरीं देई।
अग्गे वस्तु सिजाणी ये पितरीं चोर करेई॥
बड़ी एह हत्थ दलाल दे मुसाफी एह करेई।
नानक अग्गे से मिलेजि खटै घाले देई॥

(१० ग्रन्थ साहिब राग आसा की वार
महला १ पौड़ी १७ श्लोक १)

तां ओनां किहा भला एह तां इत्थे पृथ्वी दे ब्राह्मणां नूं खवावणगे ते पितर स्वर्ग विच के नरक विच के किसे जून विच होवणगे, ओनां नूं अहार क्योंकर पहुंचेगा ? तां वचन होया— जदों पितरां दे दिन आंवदे हैं ते खत्री, ब्राह्मण होर वरणां दे पितर ब्राह्मणां विच आन प्रवेश करदे हैं। ओह अहार ओनां नूं पहुँचदा है ते होर लड़का जो पतङ्ग चढ़ांवदा है ते पतङ्ग आकाश में होती है डोरी बालक दे हाथ होती है। तां पतङ्ग नूं जाई प्राप्त हुँदा है। तैसे पितर किसे स्थान ते हुँदे हैं ते ओनां दी मोह दी डोरी पुत्रां में बंदी होती है, उस मोह द्वारा प्रसाद पितरां नूं प्राप्त हुंदा है।

श्री गुरु अमर दास जी के परलोक सिधारने के समय मोहन और मोहरी दोनों पुत्रों ने पूछा—

(सूर्य प्रकाश रास १ अंसू ६८ कविता २६-२८)

सुनत मोहरी कैह वच ऐसे, क्रिया कर्म्म की आयसु कैसे।
निज कुल की मर्य्याद जु एहै, करहि किनहिं जिमि आप कहि हैं॥

गुरु अमरदास जी का हुक्म सू० रा० १ अ० ६८ कविता ४२

जग मरय्याद रखी जह चही ऐह।
सुरसर अस्त पिंड को दीजैह ।
तुम बड़यों की मरजाद रखी जहै।

गुरु जी का यही हुक्म आदि गुरु ग्रन्थ साहिब में राग रामकली सुन्दर में दर्ज है जो पहले कह चुका हूं।

कहीं कहीं जो श्राद्ध खण्डन के बचन मिलते हैं तो प्रसंग संगति को विचार कर देखने से वह ज्ञान - काण्ड की बातें हैं जैसा कि सनातन - धर्म में भी ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् किसी कर्म का बन्धन नहीं रहता। अतः यह वचन खण्डन के नहीं, किन्तु ज्ञान भूमिका का वर्णन है।

मृतक संस्कार की नाईं और रीतियां भी वही थीं जो हिंदू करते हैं। अंग्रेजी राज्य की फोटक नीति से पहले सिक्ख प्राचीन रीति को ही अपनाते रहे।

स्वार्थ ने तो उन को परस्पर भी फोड़ रखा है, वह अब दूसरों को मिल बैठने का उपदेश किस मुंह से देने के लिये अपने आप को योग्य समझते हैं। गुरु ग्रन्थ साहिब की आज्ञा के आधार पर ही नामधारी और नरङ्कारी सिक्ख जीवित गुरु की शरण लेते आ रहे हैं और उसी के शब्दों के अनुसार सिक्ख कई और फिरकों में बंट चुके हैं। ग्रन्थ साहिब की आज्ञा के बल पर ही मैं नितप्रति वेद का पाठ करता हूं क्योंकि उस के पाठ से पाप बुद्धि की शुद्धि होती है और वेद ही ईश्वरी बाणी होने से कल्याणकारी है और गुरु वाक्य, वेद शास्त्र, स्मृति और पुराणों का ही सर्व साधारण के लिये सरल भाषा में व्याख्यान है, जिस को मैं कई बार तुलना करके आप सज्जनों को सुना चुका हूँ। आज कल के सिक्खों के कुछ फिरके

तो भगवान् राम कृष्ण के उपासकों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जबकि गुरु ग्रन्थ साहिब उनकी महिमा से भरा पड़ा है जैसे— 'कहो नानक विपत में एक टेक रघुनाथ', 'गुरमुख संगी कृष्ण मुरारे', 'तन मन अरपूंन कृष्ण प्रीत', 'धन धन माता देवकी जां गृह खेले कमलापति', 'धन धन वृन्दावना जहां खेलें नारायणः', रविदास जी का स्पष्ट शब्दों में भगवान् राम को राजा रामचन्द्र के नाम से पुकारना इत्यादि। 'दीवा बले अंधेरा जाये वेद-पाठ मति पापानं खाये', 'ओंकार शील जग भये ओंकार वेद निरमये', इत्यादिक शब्द तो वेद का महत्व और उस के ईश्वर वाणी होने के साक्षी हैं और वेद को वाणी ब्रह्मा कह कर तो ग्रन्थ साहिब उसकी उस्तुति कर रहा है और ग्रन्थ साहिब के मानने वाले वैदिक धर्मियों से द्वेष रखें कितने शोक की बात है। यह तो ऐसी ही बात है कि भारत की जिस जनता ने तन, धन और जन से कांग्रेस की सहायता की वही कांग्रेस आज उन परिवारों को फिरका प्रस्ती का लांछन लगा रही है क्योंकि अब वलिदान की ओट में स्वार्थ सिद्धि में लगे हुये कांग्रसियों से उन की वन नहीं आती वरना देश-हित में वह कांग्रसियों से भी अग्रसर हैं। यही अवस्था उन सिक्खों की है जो अपनी लीडरी के लिए जुदाई के राग गाते रहते हैं। हिंदु धर्म को तो इस बात से कोई हानि नहीं क्योंकि विचारों की भिन्नता के कारण वह किसी का भी विरोधी नहीं, पर इस बात को तो वह भी स्वीकार नहीं करता कि बल-छल से किसी के विचारों में परिवर्तन किया जाए अथवा न झुकने वाले को प्राण दण्ड या अन्य प्रकार का कष्ट दिया जाए। जन गनणा के समय जो दुर्घटनाएं हुईं वे इस बात की सूचक हैं कि

देश की शान्ति भङ्ग होकर रहेगी यदि सदाचार की ओर ध्यान न दिया गया। प्रेम और प्यार की शिक्षा देने वाले गुरुओं के सिक्ख विचार लें कि वे गुरु-मर्यादा को अपना रहे हैं या उसका भंग कर रहे हैं। वीर खालसा जी अपने घर की सुध लो, शराब पीना भी यदि तुम अपने भाइयों से छुड़ा पाओ तो समझो कि तुम ने बहुत कुछ सुधार लिया है। स्वयं सदाचारी बनो और जनता को बनाओ। वीर जी, जिस भोग विलास के जीवन के विरुद्ध गुरुओं ने प्रचार कर अध्यात्मवाद की ओर जनता को खींचने का प्रयत्न किया, क्या आप उस शिक्षा का पालन कर रहे हैं अथवा मन - मानी राह चल रहे हैं ?

खालसा का जन्म दुष्टों को दण्ड देने के लिए हुआ, दुराचार जैसे दुष्ट को भारत से मार भगाओ तो वह कौन सा प्राणी होगा जो तुम्हारे गुणवाद न गायेगा और तुम यश के भागी बनोगे और तुम्हारा लोक परलोक दोनों संवर जायेंगे और यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। अन्तिम एहो मेरा कहना जी तुसां राम न विसरे और भगवान तुम्हें बल दे कि आप उस कार्य की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते रहो जिस के लिये खालसा का जन्म हुआ था। खालसा के जन्म का कारण था अत्याचार को मिटाना। अब तुम स्वयं विचार लो कि आप ने इस के लिये क्या किया है। सदाचारी बन कर गुरु आज्ञा का पालन करो। विचारों की भिन्नता के कारण लड़ना झगड़ना अच्छा नहीं। तुम्हारे पूर्वज हिन्दू थे, हिन्दूओं को बुरा भला कहने से अपने ही पितरों का अपमान क्यों करते हो। दरबार साहिब अमृतसर से देवी देवताओं की मूर्तियां उठाये जाने पर भी दुर्गियाने में तो ग्रन्थ साहिब का प्रकाश हो

रहा है। अब आप विचार लो कि धार्मिक दृष्टि से तुम दोनों में से उदार कौन है और दरबार साहिब की परिक्रमा में मूर्तियां स्थापन करने और हिन्दू शास्त्रों की कथा की आज्ञा देने वाले और उन को उठवाने वाले दोनों में से दोषी कौन है ? हम अथवा हमारे पूर्वज। गुरु ग्रन्थ - साहिब की आज्ञा को हम ठीक समझते हैं या हमारे बड़े। दोनों बातें तो ठीक होने से रहीं। वाहे गुरु हमें सत्-असत् निर्णय की बुद्धि दे और अपनी शरणागति बख़्शे।

राधेलाल— पण्डित जी ! मैं तो महाशय रामदत्त के विचार सुनना चाहता हूँ क्योंकि मैं ने कल को आर्य - समाज की अन्तरङ्ग - सभा में उन के विषय में निर्णय करना है कि वह हमारे सभासद रह सकते है कि नहीं क्योंकि मुझे कई मैम्बरों की ओर से यह सूचना मिली है कि महाशय जी आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं, ऐसी अवस्था में वे आर्य - समाज में नहीं रह सकते।

अभयराम— रामदत्त जी ! भय्या, पहले तो लाला जी की आज्ञा का पालन करो।

रामदत्त ! पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ विदुर नीति ॥

हे धृतराष्ट्र ! इस संसार में दूसरों को निरन्तर प्रसन्न करने के लिए प्रिय बोलने वाले बहुत लोग हैं परन्तु सुनने में अप्रिय पर कल्याण करने वाला वचन का कहने और सुनने वाला पुरुष दुर्लभ है। और श्रुति का कथन है—

'समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति'।

प्रश्न उपनिषद् ६। १

अर्थ – वह निःसन्देह जड़ों तक सूख जाता है, जो झूठ बोलता है। समय २ पर कुरीतियों को दूर करने, भूलों को राह दिखाने और दुष्टों को नाश करने के लिये महापुरुष देश - देशान्तरों में प्रकट होते ही रहते हैं। उनके पश्चात् उन के ही अनुयायी उनके बताये मार्ग से भटक जाते हैं, सिद्धान्तों का उल्लङ्घन करते हैं मन-मानी प्रथा चला लेते हैं, पर इतनी विशेषता देखने में अवश्य आती है कि वे उस के नाम पर मर मिटने को उद्यत रहते हैं। अपने २ नेता को ऐसे २ शुभ गुणों से सशोभित करते हैं कि संसार का अन्य कोई मनुष्य भी उस के तुल्य मिल न सके, ऐसी लीला रचने में वे उन बातों को भी ध्यान में नहीं लाते, जो उन के नेता ने स्वयं लिखी या कही हों। जिस ईश्वर का उसने राह दिखाया हो, उसको कोई हजार गाली दे, अनुयायियों के कान पर जूं तक नहीं रींगती यदि उसके विरुद्ध कोई अपशब्द कह दे तो उस की जान की खैर नहीं। यह बात कहने की तो जरूरत ही नहीं कि महापुरुषों के उपदेश 'जन - सेवा' का स्थान 'जन - घात' ले लेता है और वह भी धर्म के नाम पर। मसजिद, मन्दिर, गिरजा और गुरुद्वारा आदि के ईंएट, पत्थर, लकड़ी आदि के बने मकानों को बिगाड़ने वाले मनुष्य का शरीर ही नाश कर दिया जाता है, यद्यपि वे अपरिचित नहीं होते कि भगवान् का यथार्थ मन्दिर तो मनुष्य का हृदय ही है। आश्चर्य की बात है कि वे वह वह कर्म करते हैं कि जिन से दूसरों का दिल दुखे और उस समय तक उन को प्रायः मन दुखाने का निश्चय नहीं होता जब तक कि दूसरी ओर से उसी ढङ्ग का ईंएट का जबाव पत्थर न दिया जाये। १९४७ की दुर्घटनाएं धार्मिक विचारों

की भिन्नता का ही तो परिणाम थीं, वरना नाम रूप पृथक २ होते हुये भी तो सभी एक जैसे मनुष्य ही तो थे जिन्हों ने निर्दयता में हिंसक पशुओं को भी मात कर दिखाया और धर्म के नाम से चिढ़ने वालों को अवसर मिला कि वे अपने विचारों में दृढ़ हो जायें कि धर्म फसाद और फूट की जड़ है। मुझे कहना पड़ता है कि इस में न तो सुधारकों का दोष है और न ही धर्म दोषी है। दोष का कारण तो स्वार्थ है। फूल बोने के लिये पृथिवी को कांटों से साफ किये विना मनोरथ सिद्धि कैसे हो? इसी प्रकार सुधारक को कुछ न कुछ खण्डन मण्डन करना ही पड़ता है और अपनी मति विरुद्ध उन का साथी भी बनना पड़ता है, जिन के सुधार का उस ने बीड़ा उठाया हो और साथ ही संसार हित से भी बेमुख्य नहीं होना होता। हितोपदेश के पाठक जानते हैं कि चित्रग्रीव कपोत और बहुत से कबूतर अकाल पड़ने से भूख के दुःख अपने देश को छोड़ गये, राह में एक वियावान जङ्गल से जाते हुये कबूतरों ने पृथिवी पर पड़े चावल देखे। जब भूख से पीड़ित कबूतर तण्डुलों के लोभ में नीचे उतरने लगे तो चित्रग्रीव उन को रोकता और समझाता कि इस निर्जन स्थान में चावलों का होना धोखा है, किसी फांदी ने पक्षियों को फांसने के अर्थ जाल विछा रखा होगा, जो दूरी के कारण हम को दिखाई नहीं देता, वरना इस जगह तो खेती होने का भी कोई चिह्न नहीं। भूखे कबूतरों ने उस की बात न मानी और पृथिवी पर उतरने लगे। चित्रग्रीव भी उन के साथ ही जाल में फंस गया और तभी उन को अपनी शिक्षा से जाल समेत ले उड़ा और अपने मित्र एक चूहे से जाल कटवा सब को जान गंवाने से बचा लिया।

हिन्दुओं पर कई आपत्तियां आईं, पर हिन्दु जाति कई एक अन्य जातियों की नाईं मिटी नहीं। इसलाम जहां जहां फैला वहां वहां मुसलमानों के अतिरिक्त औरों का रहना दोभर हो गया, भारत में भी इसलामी सभ्यता कुछ कुछ अपनाई गई पर इसलाम भी भारतीय सभ्यता को अपनाने से बच न सका. तभी तो हाली साहिब को कहना पड़ा —

दीने हज़ाज़ी का वुह पाक बेड़ा।
न दजले में फंसा न कुल्ज़म में अटका॥
किये पार जिस ने कि सातों समुन्दर।
वुह डूबा दहाने में गङ्गा के आ कर॥

मुसलमानी राज्य की समाप्ति पर अंग्रेज़ भारत पर शासन करने लगे। ये बड़े चतुर और नीति-निपुण थे। तजारत (व्यापार) और वेतन से करोड़ों रुपया भारत से इन्गलैंड जाने लगा और हिन्दू सभ्यता को विदेशी सभ्यता दीमक की नाईं चाटने लगी। अंग्रेज़ किसी के धर्म में हस्ताक्षेप नहीं करता था, भारतीय इतनी ही बात से सन्तुष्ट थे और शारीरिक सुख के नाना प्रकार के साधन उपस्थित किये जाने लगे, जिन्हों ने पीड़ित जनता को इस राज्य की ओर आकर्षित होने में बड़ी सहायता दी और डाकुओं का अभाव प्रजा की प्रसन्नता का कारण बना और व्यापारी विदेशी माल के व्यापार से मालामाल होने लगे। अंग्रेज़ी की थोड़ी सी शिक्षा भी सरकार दरबार में आजीविका का साधन बन नौकरों को धनी बनाने लगी। मत परिवर्तन करने वालों को तो पादरी लोग सिर पर उठाने लगे। लार्ड मकाले का कथन पूरा होने लगा कि ईसाईमत को ग्रहण न करने वाले हिन्दोस्तानी भी नाम

मात्र के हिन्दू होंगे, वरना वे ईस मत के रङ्ग में रङ्गे जायेंगे और हमारे जैसे रहन-सहन और खान-पान को अपनाने में अपना कल्याण मानेंगे। यह बात निःसन्देह कहनी पड़ती है कि पश्चिमी शिक्षा ने ऐसा ही कर दिखाया। हमारे पठित युवक और युवतियां या तो अपने धार्मिक ग्रन्थ पढ़ते ही नहीं पढ़ें तो अंग्रेज़ी भाषा में पढ़ते है, जो उन को धर्म में प्रेम के स्थान में घृणा सिखाता है, क्योंकि वेद, शास्त्र, रामायण और महाभारत आदिक ग्रन्थों का विदेशियों का किया अंग्रेज़ी उलथा ऐसा ही प्रभाव डालता है कि वेद गडरियों के गीत हैं। रामायण झूठी नावल है, राम हल चलाने वाले को कहते हैं और सीता वह लकीर जो हल चलाते समय खेत में पड़ती है, वरना हल चलाते जनक को पृथिवी के नीचे से घड़े का मिलना और उस में मानुषी शरीर की सीता का होना युक्ति द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसे ऐसे उलथा इस अभिप्राय से कराये गए कि हिन्दुओं को अपने धार्मिक ग्रन्थों से घृणा हो और वे ईसा मसीह की शरण में आ अंग्रेज़ी राज्य को भारत में अटल रख सकें और इस कार्य के लिये भारतीय कोष से पादरियों को प्रचार अर्थ आर्थिक सहायता मिलती रही। करनल बोलडन एक अंग्रेज़ ने अपनी लाखों पौंड की सम्पत्ति इस कार्य के लिए दान दे दी कि हिन्दू धर्म की धार्मिक पुस्तकों का अंग्रेज़ी और भाषा उलथा ऐसे ढंग से किया जाय, जिस से जनता में उस के प्रति घृणा हो जाय। यह बात (Sacred Books of Hindus) हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकें, जिन की अकावन प्रतियें हैं, उस की पहली जिलद की भूमिका में लिखी हुई है। सभी ईसाई देश अपने र

ईसाई प्रचारक भारत में भेजते रहे। जिन्हों ने हस्पतालों, स्कूलों और कालजों का जाल फैला ईसाई-मत का प्रचार किया। चाम दाम के प्रलोभन ने भी बड़ी सहायता की और तर्क ने भी बहुतों को वैधर्मी बनाया। जहां तोप, बन्दूकों के गोले तलवार का भय भी सफलता प्राप्त न कर सके, वहां विचार के वाक्य-रूपी बान व्यर्थ नहीं जाते। ईसाई प्रचारकों ने भारत की सभी भाषाओं में अपने धार्मिक ग्रन्थ और अन्य मत खंडन के अनेक ट्रैक्ट मुफ़त बांटे. मिशन स्कूलों में बाईबल की शिक्षा में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को नाना प्रकार के पारितोषिक मिलते और अपने स्कूलों में पढ़े हुए विद्यार्थी को सरकार में नौकर कराने में पादरी साहिब का यत्न भी निर्धन जनता को अपनी ओर आकर्षण करने में बड़ा सहायक बनता रहा। गली, कूचों और बाज़ारों में ईसाईमत का प्रचार होने लगा और जनता पर प्रभाव बढ़ने लगा। उस समय के सनातन-धर्मी विद्वान् तो ईसाई प्रचारक के सम्मुख आना भी पाप मानते थे और उनकी पुस्तक का पढ़ना तो क्या छूना भी महा पाप समझा जाता था। यदि कोई हिंदू ही अपना संदेह निवृत करना चाहे तो उस को अपने धर्म-ग्रन्थ पर श्रद्धा का संदेश ही दिया जाता था और कुतर्क से बंद करते की तर्क-शास्त्र अनुकूल होना चाहिए। बात तो वे ठकाने की कहते थे पर दूसरी ओर धीर्य कहां कि पंडित जी से शास्त्र पढ़ें भी। ईश्वर की अपार दया कि ऐसे विकट समय भी भारत में राजा राममोहनराय परमहंस, रामकृष्ण और स्वामी दयानन्द प्रकट हुए जिन्हों ने धर्म-हेत बहुत कुछ किया। स्वामी दयानन्द जी की

विशेषता इस लिये माननी पड़ती है कि उन्हों ने फिर से संसार में वेद - घोषणा की और वेद - विरुद्ध मत - मतान्तरों के आक्षेपों के उत्तर ही नहीं देते थे, प्रत्युत उन पर भी ऐसे प्रश्न करते कि उनको लेने के देने पड़ने लगे । यह मानना पड़ेगा कि स्वामी जी ने वेद - भाष्य ऐसे ढंग से किया जिस से पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे जाने वाले भारतीय हिंदू धर्म से पतित न होने पाएं और अपठित भी ईसाई मुसलमान न हो सकें किंतु पतितों को फिर से हिंदू - धर्म में प्रवेश किया जाये और आर्य - धर्म के किवाड़ मनुष्य - मात्र के लिये खोल दिये। स्वामी जी का काय अति सराहनीय है कि उन्हों ने हिंदू - धर्म के नाम लेवाओं को पतित होने से बचा लिया और ऐसा करने में स्वामी जी ने वही कुछ किया जो चित्रग्रीव कपोत ने किया था कि अपने साथियों के विचार को अपना स्वयं भी जाल में फंस उन को छुड़वा लिया। स्वामी जी ने भी उन विचारों को अपना कर घोषणा की कि वेद ऋषियों द्वारा प्रकट हुये, ईश्वर अवतार नहीं लेता, मूर्ति - पूजा अवैदिक है, जात-पात जन्म से नहीं, कर्म गुण - स्वभाव से है अर्थात् ईसाईमत के जो सिद्धान्त भारतीय अँग्रेजी - शिक्षित युवकों को हिंदु - धर्म से घृणा करा उन्हें नास्तिक अथवा पतित कर रहे थे, स्वामी जी ने भी उन को अपना लिया और इस प्रकार पतित होने से बचा लिया, वरन आज स्थिति और की और होती। साथ ही संस्कृत - लिपि के प्रचार का बीड़ा उठाया, जनता की रुचि वेद - शास्त्रों के पढ़ने की ओर फेरा, क्योंकि उनका भाव यथार्थ वेद ज्ञान में था। स्वामी जी जीवित रहते तो आज वेद के नाम पर वही कुछ कहते जो प्राचीन

आचार्यों ने कहा है और इस के लिये स्वामी जी के वे व्याख्यान साक्षी हैं जो वह आर्य समाज को स्थापना से पहले देते रहे और उसकी झलक उनके संस्कृत में रचित ग्रन्थों में भी दिखाई देती है। आज का आर्यसमाज पुरानी लकीर का फकीर चला आता है। तुम ही व्यापक हो मूर्ति में तुम ही व्यापक हो फूलों में, भला भगवन को भगवन पर कैसे चढ़ाऊँ मैं, ऐसी ऐसी कुतर्कों का मुंह तोड़ उत्तर, तुम ही व्यापक हो रोटी में तुम ही व्यापक हो दांतों में, भला भगवन को भगवन से कैसे चबाऊँ मैं, पाकर भी आंखें नहीं खोलता कि वायु का रुख किस ओर है और कि जनता जान गई है कि आर्यसमाज तो उन वैदिक सिद्धांतों को भी तिलांजलि दे रहा है, जो स्वामी जी ने अपने रचित ग्रन्थों में वेद अनुकूल सिद्ध किये हैं और कि वह मूर्ति पूजा आदि को वेद विरुद्ध ही मानता रहेगा जो कि स्वामी जी ने ऊपर कहे उद्देश की पूर्ति के लिये अपनाये थे। स्वामी जी ऐसा करने पर क्यों वाधित हुये तो कहना पड़ता है 'अनुमान है कि शङ्कराचार्य आदि ने तो जैनियों के मत के खंडन करने ही के लिए यह मत स्वीकार किय' हो क्योंकि देश काल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये बहुत से स्वार्थी विद्वान अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं' सत्यार्थ प्रकाश नवम वार एकादश समुल्लास पृष्ठ ३१०, क्योंकि ऐसा किये बिना कृश्चियन मत की आंधी यहां रुक नहीं सकती थी।

जिस कारण आर्यसमाज का जन्म हुआ उस को कोई भी अस्वीकार नहीं करता, पर आज आर्यसमाज की जो प्रतिज्ञा है कि सत्यार्थ प्रकाश का अक्षर अक्षर वेदानुकूल है

और स्वामी का वेद भाष्य अद्वितीय है और कि अन्य मत अपने प्राचीन सिद्धान्तों को बदल रहे हैं और अपने धर्म ग्रन्थों पर नये ढंग से टीका टिपणियां कर रहे हैं, यह आर्य समाज की दिग्विजय का चिह्न है। इस विषय में मानने योग्य बात तो पादरी साहिब की है तो भी आर्य समाज के दावे को परखने के लिये तनिक समालोचना कर देखें तो हानि की बात नहीं। सत्यार्थ प्रकाश में उस समय के प्रचलित सभी मत मतान्तरों का खण्डन है और जो मत स्वामी जी के जीवन से पीछे चले, उन का खण्डन भी आर्य समाज कर रहा और कर चुका है। सच पूछो तो कोई भी मत ऐसा नहीं जिस में रहता हुआ मनुष्य यदि उस के मोटे मोटे सत आदि नियमों को अपनाये तो अवश्य उसे सुख और शांति होगी। कोई भी मत ऐसा नहीं जो मनुष्य मात्र के कल्याण का उपदेश न देता हो और उस के साधन न बताता हो और यह घोषणा न करता हो कि उस मत का माना हुआ सृष्टि कर्ता सर्व संसार का स्वामी है। उसी के शरण में जाने से शांति होगी।

अपने अपने पन्थ की सभी बढावें टेक।
रज्जब निशाना एक है गोलंदाज अनेक॥

आर्य-समाज अपने धर्म के प्रचार में निःसंदेह भारतवर्ष में अन्य हिंदूमतों की अपेक्षा अग्रसर हैं और यह गौरव इसी को प्राप्त है कि वह अपनी ही नहीं अन्य हिंदूमतों की रक्षा का भार अपने ऊपर उठाये हुए है। हिंदुमत आर्यसमाज पर आक्षेप करें तो उन से निपटना और अन्य हिंदु मतों पर मुसलमान और ईसाई आदि आक्षेप करें तो उन को मुंह तोड़ जवाब देना इसी समाज का काम है, पर शोक है तो इतना

कि वह स्वयं भी वैदिक सिद्धान्तों से उतना ही दूर है जितना कि वह दूसरों को समझता है। आर्य समाज दूसरों से तो आशा रखता है कि वे अपने हठ को छोड़ उस के पीछे चलें पर सत को अपनाने के लिये वह भी उद्यत नहीं। विधवा विवाह, जात पात तोड़क विवाह, छूत छात, बालक और कन्याओं की इकट्ठी शिक्षा और सह-भोज आदि का उसी के अनुकरण में अन्य मतों में प्रचलित होना आर्य समाज की नहीं किन्तु ईसाईमत की विजय है क्योंकि न तो ऐसा करना वैदिक है और न ही स्वामी दयानन्द जी ने इन सिद्धान्तों को अपनाया है परन्तु इन का खण्डन किया है।

मैं कह चुका हूं कि स्वामी जी ने मुसलमान और ईसाई मत को पराजय करने के लिये अपना मत बदला होगा जैसा कि पत्र ३९३ पृष्ठ ४६३ पर छपे से विदित होता है ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन संपादक पं० भगवत दत्त बी० ए० प्रथम संस्करण 'क्योंकि ईसाई व मुसलमान लोग तीर्थ, मूर्ति, मन्दिर इन तीनों बातों का खण्डन चलाते हैं। यदि जो इन तीनों को स्वीकार करेगा वह उन के सामने कुछ न कर सकेगा। क्योंकि वे ईसाई मुसलमान लोग इन्हीं के दृष्टान्त दिया करते हैं। और ये बातें वेद शास्त्र से सिद्ध तो क्या परन्तु युक्ति सिद्ध भी नहीं हो सकतीं। इस से चाहे वह भीतर मानता भी हो तो परन्तु उनके सामने तीर्थ, मूर्ति, मन्दिर और चौथा पुराण, पांचवां महात्म्य, छवां व्रत, सातवां कण्ठी तिलक, आठवां कोई सम्प्रदायानुकूल और नवां अवतार आदि सिवाय वैदिकमत के जब तक नहीं मानेगा तब तक उनका खण्डन न कर सकेगा। इस लिए यह बात आवश्य होगी।

इस कारण उस उपदेशक को समझा दिया जाये कि जब उन के सामने चर्चा को जाय तब जो इन नौ बातों की शङ्का अर्थात् तर्क ईसाई लोग करें तब उस समय वह कह दे कि इन बातों को हम नहीं मानते। हम तो केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा को मानते हैं। तभी उनका विजय कर सकेगा"। इस पर किसी टीका टिप्पनी की जरूरत नहीं। स्वामी जी की मृत्यु के पश्चात् चेलों ने इस सिद्धान्त को यहां तक अपनाया कि स्वामी जी के स्वीकृत सिद्धान्त भी बदल डाले। क्योंकि विपक्षियों को विजय करने में वे भी तर्क द्वारा सिद्ध न होने से उन की राह में बाधा डालते थे। स्वामी जी ने थियोसोफीकल सोसाईटी की मांग पर स्वयं अपना संक्षिप्त सा जीवन चरित्र लिखा। जिस में लिखा है कि बाल्यपन में शिवरात्रि की एक रात्रि को उन्हों ने एक चूहे को शिवजी की मूर्त्ति पर उपद्रव करते जो देखा तो निश्चय हो गया कि यह असली शिव नहीं और सच्चे शिव की खोज में घर से निकल पड़े। चचा की मृत्यु भी वैराग्य का कारण बनी। पहले ब्रह्मचारी बने। नाम रखा गया 'शुद्ध चेतन' फिर दण्डी स्वामी से दीक्षा लेकर दयानन्द सरस्वती प्रसिद्ध हुए। कठिन तपस्या और योग साधन के पश्चात् स्वामी वृजानन्द की शरण को प्राप्त हो व्याकरण और वैदिक ज्ञान में निपुण होकर गुरु आज्ञा से वेद प्रचार के लिए मथुरा से चल पड़े और प्रचार करते २ जयपुर पहुँचे, जहां की घटना जीवन चरित्र में इस प्रकार लिखी है। 'जयपुर में हरिश्चन्द्र एक विद्वान् पण्डित था, वहां मैं ने प्रथम वैष्णवमत का खण्डन करके शिवमत की स्थापना की। जयपुर के महाराज रामसिंह ने भी शिवमत ग्रहण

किया। इस से शिवमत का इतना विस्तार हुआ कि सहस्रों रुद्राक्ष मालायें मैं ने अपने हाथ से दीं। वहां शिवमत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी, घोड़े आदि के गले में रुद्राक्ष की माला पड़ गई'। प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि शिवमत वेद विरुद्ध था तो स्वामी जी ने उसका मण्डन क्यों किया? आर्यसमाज की स्थापना के पीछे मूर्ति-पूजा के खण्डन का कारण यही मानना पड़ेगा कि स्वामी जी ने पश्चमी सभ्यता के रङ्ग में रङ्गे जाने वाले हिंदु युवकों को वैदिक धर्म्म से पतित होने से बचाने के लिए ऐसा किया। ज्यों २ स्वामी जी की अंग्रेज़ी पढ़े लिखों से भेण्ट होती गई, त्यों २ चित्रग्रीव की नीति को अपनाकर उन के उधार के लिए कमर कस ली और समय अनुसार प्रचार करने लगे। फिर क्या था बाबू लोगों के झुंड के झुंड उनकी शिक्षा से लाभ उठाने लगे। नास्तक आस्तक बनने लगे और बहुत पतित होने से बच गए। और भविष्य के लिए हिंदु धर्म्म से लोगों का निकास प्रायः बंद सा हो गया। राजा जयकृष्ण दास कलैक्टर बनारस भी स्वामी जी के शिष्य वर्ग में सम्मिलित हो गए। राजा जी ने प्रचार में गुरु जी का हाथ बटाने के लिए सन् १८७५ में पंडित चंद्रशेखर को नौकर रख स्वामी जी को सौंप दिया ताकि वह स्वामी जी के लिखाने पर सत्यार्थ प्रकाश लिखे। राजा जी ने स्वामी जी को सहमत कर लिया था कि स्थान २ पर घूमने से वह अपने विचारों का देश में इतनी शीघ्रता से प्रचार नहीं कर सकते जितना कि पुस्तक द्वारा हो सकता है और जिस से सफलता भी जल्दी होगी। पुस्तक लिखी गई और छप भी गई, जिस के परूफ स्वामी जी स्वयं देखते रहे और पुस्तक के

अन्त में शुद्धि अशुद्धि पत्र भी स्वामी जी ने लगवाया और उसी वर्ष बम्बई में आर्य समाज की स्थापना हुई । पुस्तक लिखने छपने का सब खर्च राजा जी ने किया। यही सत्यार्थ प्रकाश स्वामी जी के जीवन प्रयन्त चालू रही। और जब यह समाप्त होने को आई तो स्वामी जी ने इसको दूसरी बार छपवाने का प्रबन्ध किया पर शोक कि १३ समुल्लास की समाप्ति अथवा पल्फ शोधने के पश्चात स्वामी जी सन् १९८३ में परलोक सुधारे और पुस्तक १९८४ से पहले न छप सकी । केवल १४ समुल्लास की छपाई में इतना विलम्ब सन्देह-उत्पादक है कि अपना प्रेस होने पर भी जनता की उत्कट इच्छा के विरुद्ध सत्यार्थ प्रकाश क्यों शीघ्र प्रकाशित न हो सका । पहली और दूसरी दोनों प्रतियों की तुलना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि सिद्धान्तों के उलट फेर में बहुत कुछ गोल माल हुआ है । पूर्णतयः जानने के लिये कि सत्यार्थ प्रकाश का वर्तमान दूसरा संस्करण स्वामी जी का बनाया हुआ नहीं इसके लिये पुस्तक 'दो खरी खरी बातें' पढ़िये और लेखिक की इस प्रतिज्ञा को झुठलाने पर पांच सौ रुपया नक़द पारितोषक भी प्राप्त करें। विस्तार के भय से मैं उस में से कुछ बातें संक्षेप से कहता हूँ । 'जिस समय मैंने यह ग्रन्थ बनाया था, उस समय और उस से पूर्व संस्कृत में भाषण करने, पठन पाठन से और जन्म भूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझे इस भाषा का विशेष ज्ञान न था, इस से भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है इस लिये इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरण अनुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है। कहीं २ शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है सो करना

उचित था । क्योंकि इस के भेद किये बिना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है । प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है । हां, प्रथम छपने में जो कहीं २ भूल रही थी वह निकाल दी गई है'। दूसरे संस्करण की भूमिका के इस पहले पैरा से यह प्रतीत नहीं होता कि पहली सत्यार्थप्रकाश में किसी विरोधी ने गड़बड़ की थी और स्वामी जी की आज्ञा के बिना और का और छपवा दिया था । यदि गड़बड़ की कुछ भी सम्भावना होती तो कोई कारण नहीं था कि पुस्तक व्यर्थ समझ कर बेचने से रोकी न जाती। क्योंकि इसी पर तो आर्य्यसमाज का स्तम्भ खड़ा किया गया था । स्वामी जी ने स्वयं भी किसी गड़बड़ का कथन नहीं किया । इस से यही सिद्ध होता है कि वही पुस्तक छपी थी जो स्वामी जी ने बनाई थी । दूसरी विचारनीय बात यह है कि स्वामी जी तो भाषा का संशोधन बताते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि अर्थ का भेद नहीं किया गया । इस के विपरीत दोनों संस्करणों की तुलना करने से यह सिद्ध होता है कि वेद मन्त्र और संस्कृत के अनेक अन्य शास्त्र प्रमाण भी निकाल दिये गये और कई सिद्धान्त बदल दिये गये या निकाल दिये गये किन्तु उनके उलट लिखा गया।

उदाहरणार्थ थोड़ा सा कहता हूं—(१) वेदान्त दर्शन पर शङ्कर भाष्य की प्रमाणयता। (२) लौंडे बाजी की निन्दा। (३) कर्म अविद्वान् पुरुषों के लिये है । (४) कर्म से उपासना और उपासना से ज्ञान श्रेष्ठ है। (५) भूख प्यास सर्दी गर्मी आदि द्वन्दों को सहना और कृष्य चान्द्रायण आदिक

व्रत करना। (६) अंग्रेजी राज्य की विशेषता (बरकतें)। (७) मुसलमान आक्रमणकों का अन्याय और अत्याचार। (८) स्वर्ग और नरक मृत्युलोक से भिन्न लोक हैं। (९) जीव मुक्ति से नहीं लौटता। (१०) पितर, गंधर्व, किन्नर, देवता आदि मनुष्य योनि से पृथक श्रेष्ठ योनियां हैं। (११) ईश्वर जगत का अभिन्नमित्तोपादान कारण है। (१२) माँस भक्षण शास्त्रोक्त है। (१३) शूद्रों के लिये यज्ञोपवीत और वेद पढ़ने का निषेध। (१४) मृतक श्राद्ध इत्यादि। मान भी लिया जाये कि ऐसी २ सब बातें दूसरों का मत दर्शाने के लिये लिखी गईं थीं जिस बोदी दलीलबाज़ी से आर्यसमाज अपना पीछा छुड़ाने का प्रयत्न करता है, तो भी उस को आज तक कोई तर्क नहीं सूझा कि स्वामी जी ने 'अग्निमीड़े पुरोहितं यज्ञस्यदेवमृत्विजम् होताररत्न धातमम्' ऋग्वेद सहिता का यह मंत्र पहली सत्यार्थप्रकाश पहले समुल्लास में दिया है। दूसरे संस्करण से यह निकाल दिया गया और इसी समुल्लास में ईश्वर के सौ नामों की गणना में, सर्व जगत कर्ता, निर्भय, महान, अचिन्त, अप्रमेय, अप्रमादी, शिव-शङ्कर, होम, श्रोत्र, मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि, अहङ्कार और जीव ये सब परमात्मा के नाम बताये हैं और इन को संस्कृत शब्दों की व्युतपत्ति द्वारा स्वामी जी नें स्वयं सिद्ध किया है। दूसरी आवृत्ति में इन का भी लोप है। पहले समुल्लास की तुलना से ही विदित हो जायेगा कि और भी कितना हेर फेर हुआ है। हो नहीं सकता कि जीवन भर स्वामी जी ने अपनी बनाई पुस्तक के छपने पर उसके पहले समुल्लास के थोड़े से पृष्ठ भी कभी पढ़े ही न हों और पुस्तक

भी वह जिस पर वेद प्रचार का श्रीगणेश मनाया गया हो। यह भी असम्भव है कि स्वामी जी ने भूमिका अनुसार अपनी प्रतिज्ञा की आप हानि की हो। और सुनिये कि स्वामी जी के मुद्रित पत्रों से सिद्ध होता है कि दूसरी सत्यार्थप्रकाश के १३ समुल्लास की समाप्ति ३४४ पृष्ठ पर हुई है। इस के लिये देखिये ऋषि दयानद के पत्र और विज्ञापन सम्पादक पं० भगवत दत्त बी० ए० संस्करण पहला पत्र (४४३) पृष्ठ ४२७ तिथि भाद्र वदी ३० सं० १९४० (१ सितम्बर १८८३) सत्यार्थप्रकाश ११ समुल्लास की समाप्ति तक सब पत्रे भेज दिये हैं। पत्र (४२३) पृष्ठ ५०० मिति आ० वदी १ सं० १९४० (१७ सितम्बर १८८३ सोमवार) २७२ से ले के ३१९ तक १२ समुल्लास सत्यार्थप्रकाश छापने के लिये भेजते हैं।

पत्र (४२९) पृष्ठ ५०४ मिति आश्विन वदि ८ सोमवार संवत १९४० (२४ सितम्बर १८८३) और सत्यार्थ प्रकाश जो कि १३ समुल्लास ईसाईयों के विषय में है वह यहां से चले पूर्व अथवा मसूदे पहुँचते समय भेज देंगे।

पत्र (४३५) पृष्ठ ५१२ मिति आश्विन ३ शनि सम्वत् १९४० (२९ सितम्बर १८८३) एक भूमिका का पृष्ठ और ३२० से लैके ३४४ तक तौरेत और जबूर का विषय सत्यार्थप्रकाश का भेजते हैं सम्भाल लेना। यह वे पत्र हैं जो स्वामी दयानंद जी ने जोधपुर राज मारवाड़ से मुन्शी सामर्थ दान मैनेजर (प्रबंध कर्ता) वैदिक यन्त्रालय अजमेर को लिखे जिनके साथ वेद भाष्य और संस्कारविधि के पत्रे भी छापने के लिए भेजे जाते रहे। यदि ये पत्र मुन्शी जी को न मिलते तो वेद भाष्य और संस्कारविधि भी छपनी नहीं चाहिए थी। सत्यार्थप्रकाश

और संस्कारविधि में गोल माल का होना मानना ही पड़ेगा क्योंकि इन में कई बातें स्वामी जी के वेद भाष्य और उन के पत्रों के विरुद्ध हैं।

सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ अङ्क ३४४ तेरहवें समुल्लास की समाप्ति तक न ही तो छपी हुई पुस्तक से अथवा अजमेर में धरी हस्त-लिखित पुस्तक से दिखाए जा सकते हैं। इसलिए कहना पड़ता है कि वर्तमान सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानंद कृत नहीं। परंतु जाली है क्योंकि अजमेर में धरा हस्त लिखित पुस्तक के हर एक पृष्ठ पर स्वामी जी के हस्ताक्षर किए हुए हैं, यदि वह उनकी बनाई हुई होती तो पृष्ठ अंक भी अवश्य मिलते, पृष्ठों के अधिक होने का कारण आर्य-समाज जाने। पांचवें संस्करण की अनुभूमिका में शिवप्रसाद मंत्री प्रवंध-कर्तृ-सभा वैदिक यंत्रालय अजमेर तारीख २४ नवम्बर १८९७, दूसरी आवृत्ति के संशोधन में उचित शुद्धियां का करना और एक आध विषय में बाहर से समाजिक विद्वानों से भी सम्मति लेना सिद्ध करता है कि पुस्तक असली नहीं। 'दो खरी खरी बातें' के लेखिक ने आर्य्य-समाज के झूठ का भाँडा चौराहे में फोड़ दिया है, जबकि जालंधर नगर के आर्य्य-समाजी उस से आर्य्य-समाज होशियारपुर रोड के नाम २०—९—५० को इस विषय और जीवब्रह्म की एकता के विषय में शास्त्रार्थ के लिए चैलेञ्ज लिखवा कर ले गए। आर्य्य-समाज ने टालमटोल किया और विपक्षी ने अपना और आर्य्य-समाज का पत्रव्यवहार छपवा कर बाँट दिया, जिस का प्रभाव आर्य्य-समाज के विरुद्ध पड़ा। आर्य्य-समाज की कृपा से मंत्री परोपकारिणी सभा अजमेर ने 'दो खरी खरी बातें' आज्ञा के लिए श्रीमती

परोपकारिणी सभा के अधिवेशन के एजैंडा में रख लिया और पुस्तक के लेखिक को ४—११—५० का अजमेर से मंत्री का लिखा पोस्ट कार्ड प्राप्त हुआ और अन्तिम उत्तर यहथा—

अजमेर ता० २६—१—५१

श्री रुलियाराम जी कालिया

नमस्ते !

आप का पोस्ट कार्ड मिला, आप का पत्र दो खरी खरी बातों के बावत श्रीमती परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में पेश हो गया उस पर सभा ने जो निश्चय किया उसकी नक़ल आप के पास भेजता हूँ। ता० ८—१—१९५१ के परोपकारिणी सभा के विशेष अधिवेशन में जो निम्नलिखित प्रस्ताव नं. २० पास हुवा वह इस प्रकार है— "विषय संख्या १४ उपस्थित हुवा, निश्चय हुवा कि सभा-मंत्री ने इस पत्र का जो उत्तर दिया है वह ठीक है आर्य-समाज जालंधर के मंत्री को लिखा जावे कि जो भी पुस्तक आर्य-समाज के विरुद्ध निकले वह उत्तर के पात्र नहीं समझी जा सकती, किंतु यदि आप यही उचित समझते हैं कि इस पुस्तक का उत्तर लिखा जावे तो आप अपने प्रान्त की प्रतिनिधि सभा को लिखें वह उचित समझेगी तो इस पुस्तक का उत्तर लिखवा देगी"।

हरविलास 'सारदा'
मंत्री परोपकारिणी सभा

सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। क्या आर्य्य-समाज अपने चौथे नियम का पालन कर रहा है. इतनी ही बात है जो मैं ने पिछले सप्ताहिक सत्सङ्ग में कही थी और जब मुझे दबाया जाने लगा तो मैं ने मंत्री महाशय को इतना कहा कि यदि तुम्हें असली पत्र नहीं मिला तो परोपकारिणी सभा से अब मंगवा लो, पंडित जी का आप की ओर से परोपकारिणी सभा को लिखना उचित नहीं। नौबत तू-तू मैं-मैं तक आई तो मैं ने स्पष्ट कह दिया कि इस पुस्तक का उत्तर नहीं बन सकता और कि प्रापैगैंडा से हम असली वैदिक सिद्धान्तों को कब तक छुपाये रखेंगे। हिंदी राष्ट्रीय भाषा बन गइ है। जनता संस्कृत की ओर झुक रही है। वह दिन दूर नहीं कि आर्य्य-समाज का पोल खुला कि खुला। विज्ञान भी एकवाद पर पहुंच रहा है और यही यथार्थ वैदिक मत है। प्रधान जी मुझे बिन पूछे आर्य्य-समाज से निकाल दें, मैं अब सचाई को नहीं छुपा सकता। सत्य का पालन ही वैदिक धर्म्म है, उसी को पूरा २ अपनाऊँगा।

राधेलाल— नई पुरानी सत्यार्थप्रकाश के झगड़े से क्या लाभ ? नई किसी ने बनाई हो, हम ने तो इस के सिद्धान्तों पर चलना है जो वेदानुकूल हैं।

रामदत्त— मैं आप की इस बात से सहमत नहीं। नई सत्यार्थप्रकाश को वेदानुकूल मैं नहीं मानता।

राधेलाल— क्या आप अपनी इस बात को सिद्ध करेंगे ?

रामदत्त— अवश्य।

तुलसीराम— समय बहुत हो गया है, इस बात को कल पर छोड़ो। आज तो इतनी भीड़ है कि तिल धरने को जगह

नहीं, राधेलाल जी को पंडित अभयराम जी के समीप पहुंचने में बड़ा कष्ट हुआ।

राधेलाल— पंडित जी! इस प्रसग को समाप्त कर रामदत्त जी को बोलने की आज्ञा दें।

अभयराम— सज्जनो! आप ने देखा होगा कि निर्बल बैल भी लदे हुए भारी छकड़े को कच्ची सड़क की लकीरों पर खींचे लिए जाते हैं, परंतु जभी उनको सामने से आने वाले छकड़े के लिए लकीर पल्टनी पड़े तो उन को बड़ी कठिनाई होती है। ऐसे ही मनुष्य के मस्तिष्क पर जो संस्कार जम चुके हैं, उन के प्रतिकूल सुनने में उसे बड़ी घबराहट होती है क्योंकि उसकी बुद्धि उस को स्वीकार नहीं करती और यही कारण है कि ऐसे अवसर पर प्रायः झगड़ा हो जाया करता है। इस बात को ध्यान में रखते हुये मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि शान्ति से सुनें और धैर्य से विचारें और अपनी अपनी सम्मति को इस जगह प्रकट करने की चेष्टा न करें। आशा है कि आप मेरी बेनती को स्वीकार करेंगे।

रामदत्त— आज्ञा पाकर बोले कि सत्यार्थप्रकाश नवम वार, संस्कार विधि षोड़श बार, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका तृतीय बार, वेद भाष्य तृतीय आवृत्ति, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पहला संस्करण सम्पादक पं० भगवतदत्त बी० ए० वेदामृत प्रथम संस्करण, दयानन्दप्रकाश पहली बार का छपा हुआ मेरे सामने पड़े हैं और भी जिन जिन पुस्तकों से प्रमाण दूंगा वह सभी आर्य्यसमाजी विद्वानों के बनाये हुये हैं। मेरे कहने का भाव यह है कि मैं अपनी ओर से अथवा किसी विपक्षी के कथन अथवा लेख के आधार पर कुछ नहीं कहूंगा।

सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास पृष्ठ १—

ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः । अथ सत्यार्थ प्रकाशः ।

पुस्तक के आरम्भ में ऐसा लिख कर इसी समुल्लास पृष्ठ २१ में लेखिक ने अपनी प्रतिज्ञा की हानि की 'जो आधुनिक ग्रन्थों में शिवाय नमः, नारायणाय नमः इत्यादि लेख देखने में आते हैं इन को बुद्धिमान लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं क्योंकि वेद और ऋषियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता और आर्ष ग्रन्थों में 'ओ३म्' तथा 'अथ' शब्द तो देखने में आते हैं।' 'अथ योगानुशासनम्' योग दर्शन ओमित्येदक्षरमुदगीथमुपासीत' छान्दोग्य उपनिषद् । स्वामी दयानंद जी ने प्रथम सत्यार्थ प्रकाश के आरम्भ में 'अथ सत्यार्थप्रकाशः' ऐसा ही छपवाया था और दूसरी आवृत्ति में भी ऐसा ही मिलता है। वर्तमान सत्यार्थप्रकाश का श्री गणेश ही अवैदिक है क्योंकि ऐसा मङ्गलाचरण किसी आर्ष ग्रन्थ में नहीं मिलता। ऐसा होने पर भी मैं इस को स्वामी जी की बनाई हुई मान लेता हूं। तीसरा समुल्लास पृष्ठ ७१ 'वैद्यक में शार्ङ्गधरादि' परित्याग के योग्य ग्रन्थ माना है पर आप ही दशम समुल्लास पृष्ठ २८० 'बुद्धि लुम्पति यद द्रव्यं मदकारि तदुच्यते' । शार्ङ्गधर अ० ४। श्लोक २१। लिख कर इस की प्रमाणता सिद्ध कर दी।

तीसरा समुल्लास पृष्ठ ७४ "जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये बनाये हैं वैसे ही वेद भी सब के लिये प्रकाशित किये हैं और जहां कहीं निषेध किया है उस का यह अभिप्राय है कि जिस को पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र

कहाता है" और एकादश समुल्लास पृष्ठ ३५७ पर लिखा है 'और छान्दोग्य में जानश्रुति शूद्र ने भी वेद 'रैक्य मुनि' के पास पढ़ा था" और यजुर्वेद के २६वें अध्याय के दूसरे मंत्र में स्पष्ट लिखा है कि वेदों के पढ़ने और सुनने का अधिकार मनुष्यमात्र को है'। अब यह बात विचारनीय है कि पढ़ने पढ़ाने से कुछ न आना तब तो जान श्रुति शूद्र माना जाता जब वेद पढ़ गया तो फिर शूद्र कैसे ? क्या यह अपनी ही बात का खण्डन नहीं, दूसरे राजा जानश्रति तो क्षत्रिय था।

देखो वेदान्तदर्शन– अ. १ पाद. ३ सूत्र ३४ और यजु. २६-२ के अनुसार तो ईश्वर की स्त्री भी माननी पड़ेगी और वह अपूर्ण काम भी सिद्ध होगा।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥

अर्थ – हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने स्त्री सेवक आदि और उत्तम लक्षण युक्त प्राप्त हुए अन्त्यज के लिए भी इन उक्त सब मनुष्यों के लिए इस संसार में इस प्रकट की हुई सुख देने वाली चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें। जैसे मैं दान वाले के संसर्गी विद्वानों की दक्षिणा अर्थात् दान आदि के लिये मनोहर प्यारा होऊँ और मेरी यह कामना उत्तमता से बढ़े तथा मुझे वह परोक्ष सुख प्राप्त हो वैसे आप लोग भी होंवे और वह कामना तथा सुख आप को भी प्राप्त होवे। (दयानंद भाष्य)

सप्तम समुल्लास पृष्ठ २१४— 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम' जो विशेष देखना चाहे तो मेरी बनाई 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में देख लीजिये। वहां अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता ऐसा ही सिद्ध किया गया है'। जहां तो इनकार है पर ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ८१ में इकरार है कि 'एक कात्यायन को छोड़ अन्य किसी ऋषि ने ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद होने में साक्षी नहीं दी'। इस बात के लिये सुनिये अन्य ऋषियों के प्रमाण—

(१) मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदानामध्येयम्। आपस्तम्ब मंत्र और ब्राह्मण दोनों हीका नाम वेद है।

(२) मन्त्र 'ब्राह्मणमित्याहुः' वौधायन सूत्र। मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही को वेद कहते हैं।

(३) 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'। मीमांसा २। ३२

'शेषे ब्राह्मणशब्दः'। मीमांसा २। ३३ प्रथम सूत्र में मन्त्रात्मक वेद बतलाया अर्थात् प्रेरणा लक्षण श्रति ही मंत्र है। फिर दूसरे सूत्र में मत्र से शेष जो वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है।

(४) तदप्रमाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। न्याय २। ७

अर्थात् उस वेद का प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि उस के वाक्यों में मिथ्यापन पूर्वापर विरोध, दो बार कहना इत्यादि दोष हैं। असत्य का उदाहरण यथा 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' जिसे पुत्र की इच्छा हो, पुत्रेष्टि यज्ञ करे। परंतु कहीं पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र नहीं होता, जबकि इस प्रत्यक्ष वाक्य का प्रमाण नहीं तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः' स्वर्ग की

कामना से अग्निहोत्र करे ऐसा जो वे: में अदृष्टार्थ वाक्य है उस की सत्यता में कैसे विश्वास होवे। यहां पर 'पुत्रकामः पुत्रेष्टया यजेत' और 'अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः' ये दोनों श्रुतियां ब्राह्मण की हैं अत एव ब्राह्मण-ग्रन्थ भी वेद हैं।

(५) दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय।
वैशे० १०। २। ८

(वेद में) देखे हुये जिनका प्रयोजन इस लोक में ही दीखता है उनका तथा जब दृष्ट ऐहिक फल न मिले तब भी अनुष्ठान करना पारलौकिक फल के लिए (माननीय है. दृष्ट फल अदृष्ट फल दोनों का ही विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में है और इस सूत्र में दृष्ट फल वेद में बतलाया गया है, इसलिये मानना पड़ता है कि महर्षि कणाद ब्राह्मणों को वेद मानते हैं। इसी सूत्र का वात्स्यायन-भाष्य पुत्रकामःपुत्रेष्ट्यायजेतेति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते। दृष्टार्थस्यवाक्यस्यानृतत्वाददृष्टार्थमपि वाक्यं अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामइत्याद्यनृतमितिज्ञायते।

अर्थ— वेद में लिखा है कि जिस को पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करे परन्तु उक्त यज्ञ करने पर भी बहुत मनुष्यों के पुत्र नहीं होता अतः सिद्ध हुआ कि जब प्रत्यक्ष फल में मिथ्यात्व है, तो अदृष्ट फल जैसा कि अग्निहोत्र करने से स्वर्ग होता है यह भी मिथ्या है।

(६) श्रुतेस्तुशब्द मूलत्वात्। वेदान्त २। १। २७—

ब्रह्म जो प्रत्यक्ष व अनुमान का विषय नहीं है केवल शब्द मूल है अर्थात् शब्द ही प्रमाणक है, मूल शब्द यहां प्रमाण वाचक है। शब्द ही प्रमाण में साध्य होने से श्रुति से ब्रह्म

का निरवयत होना व कारण होना सिद्ध है। जब श्रुति (शब्द-प्रमाण से) सिद्ध है तो अन्य प्रत्यक्ष आदि के विरुद्ध होने से उस के कारण व कर्त्ता होने में शङ्का व दोष आरोपण करना युक्त नहीं है। ब्रह्म सूत्र के आरम्भ से अन्त तक ब्राह्मण और उपनिषदों की व्याख्या है। यहां पर ब्राह्मण और उपनिषदों को वेद मान कर भगवान व्यास जी ने इस सूत्र को रचा है इस से सिद्ध है कि ब्राह्मण और उपनिषदें जो श्रुतियों से भरी हैं वे वेद हैं। वेदान्त के भाष्यकार भगवान रामानुजाचार्य, भगवान बल्लभ, प्रभु निम्बार्क तथा माध्व और जगद्गुरु शङ्कराचार्य हैं, इन सभी आचार्यों ने ब्राह्मण और उपनिषदों को वेद माना है।

(७) उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ मनु० २।१

वेद में वचन मिलता है कि सूर्य के उदय काल, अनुदय काल और सूर्य तथा नक्षत्र के अदृश्यकाल में भी हवन करना चाहिये यह वैदिकी श्रुति है। 'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति' ये श्रुतियां ब्राह्मण ग्रन्थों की हैं और मनु जी ने इन को वेद की श्रुति माना है। अत एव मनु जी की दृष्टि में भी ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं।

पञ्चम समुल्लास पृष्ठ १२८ विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत ॥ मनु ११।६॥

समीक्षा— मनुस्मृति में ऐसा पाठ नहीं मिलता किन्तु मनु अध्याय ६ में तो सन्यासी को धात छूने से भी वर्जित किया गया है। हां विविक्तेषु के स्थान में विप्रेषु पाठ है और विप्र हर प्रकार के दान का अधिकारी माना ही गया है। सन्यासी

को सोने, चांदी और हीरे, मोती आदि की क्या जरूरत ? उस को तो क्षुधा निवारण के लिए अन्न और शीत उष्ण से बचने के लिये वस्त्र चाहिये। प्रचार अर्थ धन गृहस्थ स्वयं खर्च करें सन्यासी उनको ऐसी शिक्षा दे कि धन व्यर्थ न जावे। सन्यासी को धन देना अवैदिक है।

यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
आत्मनोन्तरोयमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

सप्तम समुल्लास पृष्ठ २०५ ॥

यह बृहदारण्यक का वचन है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि हे मैत्रेयी ! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है जिस को मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है जीवात्मा से भिन्न रह कर जीव के पाप पुण्यों का साक्षी हो कर उन के फल जीवों को दे कर नियम में रखता है वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अंतर्यामी आत्मा अर्थात तेरे भीतर व्यापक है उस को तू जान।

समीक्षा— यह श्रुति उद्दालक, याज्ञवल्क्य संवाद की है न कि मैत्रेयी याज्ञवल्क्य संवाद की। जीवात्मा को यदि परमात्मा का शरीर मानें तो जीवात्मा को विनाशी मानना होगा क्योंकि शरीर 'शरी हिंसायाम्' धातु से सिद्ध होता है जिस का अर्थ है क्षीन होने वाला, नाश होने वाला। जीवात्मा को सभी शास्त्र अविनाशी बताते हैं इस लिये यहां आत्मा का अर्थ बुद्धि है और धातु के विरुद्ध शब्द का अर्थ करना मानो

अनर्थ करना है। ऐसा अर्थ विद्वानों के लिये उपहास्य-प्रद होता है। जीवात्मा को परमात्मा का शरीर ही मान लें तो इस आपत्ति को निवारण करना कठिन है कि शारीरी तो शरीर से बाहिर व्यापक नहीं होता और परमात्मा देश, काल और वस्तुगत परिच्छेद में आता नहीं। दो जुदा जुदा चेतन मानना अवैदिक है, आकाश की नाईं उपाधि भेद से दो कहने मात्र के लिये हैं। जैसे जल से भरे हुए घट में घटाकाश और जलाकाश एक ही आकाश के उपाधि से दो भेद हैं। वरना चेतन एक ही है। यदि यहां जीवात्मा अर्थ मानें तो प्रसङ्ग की समाप्ति होनी चाहिये क्योंकि उपनिषद पृथिवी स्थूल तत्व से बताता हुआ सूक्ष्म की ओर आ रहा है और जीवात्मा सब से सूक्ष्म है पर उपनिषद इस से आगे रेतः (बीज) पर जा कर समाप्त करता है और बीज जड़ होने से चेतन से सूक्ष्म हो नहीं सकता और ऋ० १०।१२९।५ जीवात्मा को 'रेतोधा' बताता है। इस लिये यहां आत्मा का अर्थ जीवात्मा करना असंगत है किन्तु श्रुतियों ने तो एक ही चेतन की सर्वव्यापकता सिद्ध की है।

अष्टम समुल्लास पृष्ठ २१७—

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

अर्थ— हे मनुष्य! जिस से यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है जो धारण और प्रलय करता है, जो इस जगत का स्वामी जिस व्यापक में यह सब जगत उत्पत्ति स्थिति प्रलय को प्राप्त होता है सो परमात्मा है उस को तू जान और दूसरे को सृष्टि कर्ता मत मान। पं० गंगा प्रसाद एम. ए. अपने बनाये ग्रन्थ

'अद्वैतवाद' में ऋग्वेद के इसी मंत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं 'यह सृष्टि यहां से हुई, उस को उसने धारण किया या न किया जो बड़े आकाश उस का अध्यक्ष वहां है वही जानता है या नहीं जानता है।' ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में भी इस मंत्र या अर्थ आर्य विद्वानों ने ऐसा ही किया है।

समीक्षा— वेदाङ्गों के अनुकूल तो पं० गगा प्रसाद का अर्थ ठीक है। वर्तमान सत्यार्थप्रकाश बनाने वाले ने ठीक अर्थ नहीं किया। आर्यसमाज ईश्वर को सृष्टि रचना न जानने वाला कैसे माने, ऐसा मानने में तो उस की बड़ी हानि है। यथार्थ बात को उस ने अपनाना नहीं जिस से व्यवस्था ठीक लग जाती है कि सृष्टि रचना ब्रह्मा करता है जो अपने सिवाय अन्य सकल सृष्टि का रचयिता है पर अपनी उत्पत्ति को न जानने के कारण वह अपने समेत सकल रचना को जानता हो या न, यह ज्ञान तो ब्रह्म को ही हो सकता है। ईश्वर तो माया उपेहित चेतन को कहते हैं आर्य्यसमाज इस वैदिक-सिद्धान्त को अपनाये तभी बात ठीक बैठ सकती है. इस विषय पर विस्तार पूर्वक विचार आगे चल कर करेंगे।

पृष्ठ २३४—'मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या अजायन्त'।

यह यजुर्वेद में लिखा है। मैं पूछता हूं किस अध्याय में और कौन से मंत्र में ऐसा लिखा है उस को दिखाओ वरना पुस्तक को शुद्ध करो सत को अपनाने में संकोच नहीं होना चाहिये।

दशम समु. पृष्ठ २७२—'और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये क्योंकि शिर में वाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम

हो जाती है। दाढ़ी मूंछ रखने से भोजन पान अच्छी प्रकार नहीं होता उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है। समीक्षा—बात मन घड़न्त है यदि किसी शास्त्र में ऐसी आज्ञा होती तो प्राचीन ऋषि मुनी जटा जूट क्यों होते सभी मुण्डी होते और न ही आर्यसमाज के नेता महात्मा हंसराज जी, महात्मा मुन्शीराम जी और पं० लेखराम आदिक दाढ़ी मूंछ रख कर शास्त्र मर्यादा का उलङ्घन करते। भारत के कई स्थल अति गर्म हैं उन देशों की रहने वाली स्त्री जाति का क्या लेखिक ने अपमान नहीं किया ?

एकादश समु. पृष्ठ २५४— ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः। पाण्डव-गीता।, समीक्षा पाण्डव गीता में यह मिलता नहीं।

पृष्ठ २७८— 'वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानी'। समीक्षा—सिक्ख-धर्म की किसी भी पुस्तक से यह वाक्य दिखाया नहीं जा सकता।

पृष्ठ ३७९— 'उनके लड़के से उदासी चले और रामदास से निर्मल'। समीक्षा— निमले भी गुरु नानक देव जी के दूसरे लड़के से चले। सिक्ख इतिहास को पढ़ा होता तो ऐसा न लिखते। सन्दिग्ध विषय पर बुद्धिमान् लेखनी नहीं चलाया करते।

पृष्ठ ३४७— 'जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यास जी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते क्योंकि शारीरिकसूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे' 'जब व्यास जीने वेद पढ़े और पढ़ा कर वेदार्थ फैलाया इस लिये उनका नाम 'वेदव्यास' हुआ। क्योंकि व्यास कहते हैं आर-पार की मध्य रेखा को अर्थात् ऋग्वेद के आरम्भ से लेकर

अथर्ववेद के पार पर्यन्त चारों वेद पढ़े थे और शुकदेव तथा जैमिनि आदि ऋषियों को पढ़ाये भी थे नहीं तो उनका जन्म का नाम 'कृष्णद्वैपायन था'। अब लेखिक की मानी हुई विश्वास-पात्र साक्षी और वेद के आधार पर थोड़ी सी और खोज करते हैं। तृतीय समु॰ पृष्ट ३७— 'सन्ध्या और अग्नि होत्र सायं प्रातः दो ही काल में करे दो ही रात दिन की सन्धि बेला है"। समीक्षा—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥
ऋ॰ १०-१५-५ वेदामृत पृष्ट ४७॥

अर्थ— प्रातःकाल में श्रद्धा से कर्म करते हैं, और उसी प्रकार मध्यदिन में और सूर्य के अस्त होने के समय में भी श्रद्धा से भक्ति करते हैं।

यदद्य सूर्य उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध।
यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यंदिन दिवः॥
ऋ॰ ८—२७—१९. वेदामृत पृष्ट ४४४

अर्थ— हे क्षत्रियो! सूर्य के उदय के समय अर्थात् जागने के समय यदि आप सर्व ज्ञानी के अर्थात् ईश्वर के मंत्र की धारणा करेंगे यदि सूर्य के अस्त के समय करेंगे, और दिन के मध्य में करेंगे. तो आप आज से ही ऋतका धारण करने वाले बन जायेंगे।

अश्विभ्यां प्रातः सवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम।
वैश्वदेवँ सरस्वत्या तृतीयमाप्तँ सवनम॥ यजु॰ १८-२६।

अर्थ— जिन मनुष्यों ने सूर्य्य, चन्द्रमा से प्रथम प्रातःकाल यज्ञ क्रिया की प्रेरणा बिजुली से ऐश्वर्य्यकारक दूसरा मध्याह्न में होना और आरोग्यता करने वाला होमादि कर्म और सत्य-वाणी से सम्पूर्ण विद्वानों के सत्काररूप तीसरा सवन अर्थात् सायंकाल की क्रिया को यथावत् प्राप्त किया है वे जगत के उपकारक हैं। (दयानन्द भाष्य) तीन काल संध्या सन्धि के कारण नहीं परन्तु इन तीनों समयों पर सुषमना नाड़ी चलती है और दोनों नासिकाओं को वायुगति सम होने से प्राणायाम ध्यान आदि में अति लाभकारी होने से वेद ने तीन समय नियत किये। पाठक स्वयं विचार लें कि वेद-आज्ञा शिरोधार है अथवा सत्यार्थप्रकाश।

पृष्ठ ३९— 'और जो कुलीन शुभ लक्षण युक्त शूद्र हो तो उस को मन्त्र-संहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है'। जो साङ्गोपाङ्ग वेद विद्याओं का अध्ययन, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह 'आचार्य' कहाता है। ऐसा स्वामी दयानन्द ने स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश ३१ में लिखा है। समीक्षा— अनेक आचार्यों का मत होने से शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार वेदोक्त कैसे माना जाय जबकि वेदों के ज्ञाता अनेक आचार्यों का मत है और किसी भी आचार्य की आज्ञा शूद्र को वेद पढ़ाने के विषय में दिखाई नहीं जा सकती। स्वामी दयानंद जी ने भी आर्यविद्यालय काशी की स्थापना के अवसर पर तारीख १६ जून सन् १८७४ को जो विज्ञापन निकाला उस में 'शूद्र मंत्र भाग को छोड़ कर सब शास्त्र पढ़ेंगे' ऐसा लिखा है। (ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २३) और

यही सिद्धान्त १८७५ वाली सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। वेदांत दर्शन अ० १ पा० ३ सूत्र ३५, ३६, ३७ भी शूद्र को वेद श्रवण और अध्ययन का निषेध करते हैं।

'संस्कार परामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च।' वे० १। ३। ३५

अर्थ— संस्कार के होने से वेद पढ़ने में अधिकार होता है और संस्कार के न होने से अधिकार का निषेध होता है। वेदारम्भ से पहले उपनयन संस्कार का होना जरूरी है और शूद्र के उपनयन संस्कार का संस्कारविधि में भी अभाव है फिर शूद्र का वेद पढ़ना किस आधार पर वैदिक माना जाये। वेद स्वयं द्विजों को वेद पढ़ने की आज्ञा देता है न कि मनुष्य मात्र को देखो—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम।
आयुः प्राणं प्रजा पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ अ० १९-७१-१ (वेदामृत पृष्ठ ४९५)।

अर्थ— मन को उत्साह से प्रेरणा करने वाली, द्विजों को पवित्र करने वाली, वर देने वाली वेद माता की मैं ने स्तुति की है। आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ज्ञान, तेज मुझे देकर ज्ञान के लोक में पहुँच जाओ।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ मनु २। १९८॥

वेदामृत का श्रीगणेश मनु महाराज के इस आदेश से ही हुआ है।

अर्थ— जो द्विज अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद का अध्ययन छोड़ कर, अन्य कार्य में श्रम करता है, वह जीता

हुआ ही अपने वंशजों के साथ शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त होता है। जब वेद न पढ़ने वाला द्विज शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है तब शूद्र को वेद अधिकार कैसे? संस्कारविधि में द्विजों के बालकों का उपनयन लिखा है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लड़कों को ब्राह्मणादि माना गया है, यदि शूद्र वह है जिस को पढ़ने पढ़ाने से कुछ न आये तब तो शूद्र के बालक के उपनयन की आज्ञा भी दी होती इसलिये सत्यार्थप्रकाश का सिद्धान्त अवैदिक है।

पृष्ठ ४२— 'जो ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत ब्रह्मचर्य करता है' (इसके) 'सेवन से तोसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावे।'

समीक्षा— वेद मनुष्य की आयु १०० वर्ष तो बताता है, चार सौ वर्ष न मालूम किस प्रमाण के आधार पर लिखा और योगियों की तो बात ही निराली है, उन के लिये चार सौ वर्ष का नियम बांधना भी ठीक नहीं। स्वामी दयानन्द जी महाराज अखण्ड ब्रह्मचारी ५९ वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करके भी ५९ वर्ष पर्यन्त ही जीवित रहे। विष दिये जाने की घटना तो प्रलाप मात्र है क्योंकि श्री शाहपुर अधीश महाराणा नाहर सिंह जी प्रधान दयानन्द शताब्दि ने अपने भाषण में स्पष्ट कहा कि स्वामी जी की मृत्यु विष खाने से नहीं हुई थी किन्तु रोग से और वे दोनों नौकर जो स्वामी जी की रसोई बनाते थे मेरे पास अब तक जीवित हैं। यह बात दयानन्द शताब्दि वृत्तान्त पृष्ठ २१२ पर छपी हुई है जो कि किसी विरोधी की नहीं किन्तु आर्यसमाज की छपाई हुई है। स्वामी जी के जीवन-चरित्रों में लिखा मिलता है कि वह उन को भी क्षमा कर देते थे जो

उन को विष देते थे और कहते थे कि दयानन्द जनता को स्वतन्त्र कराने आया है न कि कैद कराने। इस अंतिम कपोल कल्पित विष घटना के विषय में भी ऐसा ही लिखा है कि जब स्वामी जी को विष खाये जाने का ज्ञान हुआ तो उन्हों ने विष देने वाले को एक दोशाला और ५०) रुपए देकर दौड़ जाने को कहा ताकि दिन चढ़ते पकड़ा न जाय। पर स्वामी जी के मुद्रित पत्र ऐसी अन्याय युक्त करुणा का निषेध करते हैं। पत्र विज्ञापन, पृष्ठ ४०८ पत्र (३४४) 'यदि वद्री ब्राह्मण का विष देने का कर्म प्रसिद्ध हो गया है तो उस को जेल भेज दिया है वा नहीं। ठीक साबूती हो तो उस को अवश्य जेल खाने में भिजवा देना चाहिये'। पं० वि० पृष्ठ ४४५ पत्र (३७० 'यदि दोनो सवार और मशालची बग्घी के साथ होते तो इतना कष्ट न उठाना पड़ता। इस लिये उन को शक्त दण्ड दो'।

पं० वि. पृष्ठ ४८२ पत्र (४०५) 'और वहाँ किसी वकील से पूछ निश्चय कर लिखना कि मुन्शी बखतावर सिंह पर नालिश की जाय (तो) प्रयाग में हो सकती है व नहीं'। प. वि. पृष्ठ ५०३ पत्र (४२६) एक कहार स्वामी जी की कुछ वस्तुएँ चुरा ले गया था उस को पकड़ने के लिये यह पत्र लिखा गया।

भला स्वामी जी दुष्टों को दण्ड दिये बिना छोड़ना वैदिक न्याय के विरुद्ध होने से कब अपना सकते थे, यह तो चेलों की रची लीला है और महाराना जी को असत्य कहने की क्या आवश्यकता पड़ी थी।

स.प्र. चौथा समु. पृष्ठ ८५–'वर्ण व्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होना चाहिये।' समीक्षा– इस विषय में एक भी ऐसा

प्रमाण नहीं दिया जो यह सिद्ध करे। इस के विपरीत जन्म से वर्ण व्यवस्था के विषय में बहुत प्रमाण मिलते हैं। और सत्यार्थ-प्रकाश पृष्ठ ३९८ पर भी जाति और जाति भेद परमेश्वर कृत माने हैं, जैसे वृक्षों में आम्र गूलर आदि और फिर आम्र के कई अवान्तर भेद। इसी प्रकार मनुष्य-जाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और फिर इन में भी अवान्तर भेद, जो भारत में अभी तक देखे जाते हैं। आर्योद्देश्य रत्नमाला के ७८ नं० में स्वामी दयानंद ने स्वभाव का लक्षण ऐसा किया है 'जिस वस्तु का जो स्वभाविक गुण है जैसे कि अग्नि में रूप और दाह अर्थात जब तक वह वस्तु बनी रहे तब तक वह उस का गुण भी नहीं छूटता इसलिए उस को स्वभाव कहते हैं और इसी पुस्तक के ३८ नं० में जाति का लक्षण इस प्रकार लिखा है 'जो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त बनी रहे तथा जो अनेक व्यक्तियों में एक रूप से प्राप्त हो और जो ईश्वर कृत हो वह जाति कहलाती है।' जाति और स्वभाव इन दोनों के उपर्युक्त लक्षणों पर विचार करने से दोनों आपस में अन्योऽन्याश्रय प्रतीत होते हैं। जाति में स्वभाव और स्वभाव में जाति आपस में अन्योऽन्याश्रित हैं।

सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ५१ पर 'योऽवमन्येत ते मूले' इस २।११ मनु के पद्य के व्याख्यान में वेद निंदक नास्तिक को जाति पंक्ति और देश से बाहिर कर देना चाहिये' ऐसा लिखा है। प्रश्न है कि वह कौनसी जाति है जिस से बाहिर कर देना है। मनुष्य से पशु तो बनाने से रहे? जन्म से ब्राह्मण आदि जाति के अतिरिक्त और अर्थ बन ही नहीं सकता। निरुक्त में 'वर्णो वृणोतिरिति' ऐसा प्रमाण मिलता है जिस से स्पष्ट हो जाता है

कि ब्राह्मण आदि वर्ण चुने जाने से बनते है। अब विचारना है कि यह चुनना मनुष्य के अपने आधीन है अथवा ईश्वर के। हम संसार में देखते हैं कि स्वामी नौकर को उस की योग्यता के अनुसार अपने काम के लिए चुनता है न कि नौकर अपनी मरजी के काम को चुने। अनुशासन तो तभी भली प्रकार चलता है जब नौकर स्वामी की आज्ञानुसार चले। श्रुति इस बात की पुष्टि करती है कि ईश्वर हमारे कर्मों अनुसार हमें भिन्न भिन्न योनियों में जन्म देता है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्त रमणीयां योनि मापद्येरन ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। छान्दोग्य ५- ०-७

अर्थ—अब वह जिन का वर्ताव यहां सुहावना, शुद्ध रहा है, वह जल्दी उत्तर जन्म को प्राप्त होंगे, ब्राह्मण के जन्म को, वा क्षत्रिय के जन्म को, वा वैश्य के जन्म को। पर वह जो यहां नीच वर्ताव वाले रहे हैं, वह जल्दी ही नीच योनि को प्राप्त होंगे, कुत्ते की योनि को वा सूअर की योनि को, वा चाण्डाल की योनि को। भगवद्गीता ४। १३ में भी जन्म ही से वर्ण व्यवस्था मानी गई है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम ॥

अर्थ—तथा हे अर्जुन! गुण और कर्म के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं, उन के

कर्ता को भी मुक्त अविनाशी परमेश्वर को तूं अकर्ता ही जान। महर्षि पतञ्जली भी महाभाष्य में जन्म से ही जाति मानते हैं।

'विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मण लक्षणम्।
विद्या तपोभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव स॥'

अर्थात्— विद्या और तप से हीन ब्राह्मण भी योनि के कारण जाति का ब्राह्मण ही है। बात ठीक भी है जैसे लङ्गड़े घोड़े से गधा अच्छा होने पर भी घोड़ा नहीं कहा जाता है दोनों ही पशु जाति के ऐसे ही मनुष्य जाति के अवान्तर भेद जान लो।

'सनिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा'। योगदर्शन सूत्र २। १३ भी जन्म से जाति की पुष्टि करता है।

ब्राह्मण दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पिता पुत्रौ विजानीयात ब्राह्मणस्तु तयो पिता॥ मनु. २।१३५

अर्थ— दश वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय इन को आपस में पिता पुत्र जानना चाहिये, इन में ब्राह्मण पिता है और क्षत्रिय पुत्र है। आर्य्य-समाज के सिद्धान्त अनुसार तो गुरुकुल से लौटने पर पुत्रों का कर्म, गुण और स्वभाव देख कर अदला बदला होना चाहिये था। यह मन-घड़ित बात किसी भी प्रमाण और इतिहासिक उद्धरण से सिद्ध नहीं की जा सकती, परन्तु भगवान् मनु ने ब्राह्मण कुमार को भी श्रेष्ठ बताया और इसी बात की पुष्टि कठ उप० १। ९ करता है 'नमस्तेऽस्तु ब्रह्मण स्वस्ति मेऽस्तु'। हे ब्राह्मण! तुम्हें नमस्कार हो और मेरे लिये कल्याण हो। निचकेता बालक होने पर भी श्रेष्ठ माना गया तभी तो यम महाराज ने उसे नमस्कार किया और अपने लिये

स्त्रयं कल्याण मांगा क्योंकि सन्देह था कि ब्राह्मण कुमार शास्त्र विरुद्ध न बोल बैठे। आज कल परस्पर नमस्ते कहने की प्रथा किसी भी प्राचीन आर्य्य-साहित्य से सिद्ध नहीं की जा सकती इस लिये यह अवैदिक है।

छान्दोग्य उपनिषद में राजा प्रवाहण और राजा अश्वपति से ब्राह्मणों ने ब्रह्म-विद्या सीखी पर ब्रह्म-वेत्ता होने पर भी ब्राह्मणों को शिष्य नहीं बनाया और वृहदारण्यक उप० २। ।१५ में तो इस बात को स्पष्ट ही कर दिया। सहोवाचाजातशत्रुः. 'प्रतिलोमं चैतद्. यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद, ब्रह्म मे वक्ष्यतीति'।

अर्थ– अजातशत्रु ने कहा 'यह उल्ट है कि ब्राह्मण क्षत्रिय के पास आये ' इस लिये कि यह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा'। सो मैं तुझे यूं ही (उपनयन के विना ही) निवेदन करूँगा। वलाका का पुत्र गार्ग्य ब्रह्म को न जानता हुआ भी ब्रह्म-वेत्ता राजा से योनि के कारण क्षत्रिय से श्रेष्ठ ही माना गया वरना आर्य्य-समाज के सिद्धन्त अनुसार तो राजा को ब्राह्मण होना चाहिये था। राजा स्वयं इस बात को शास्त्र से उल्ट बताता है, इस लिये कहना पड़ता है कि जन्म से जाति न मानना कृश्चियन संस्कृति का प्रभाव है न कि वैदिक सिद्धान्त।

(क्षतृभ्य:) क्षत्रिय की स्त्री में शूद्र से उत्पन्न हुये वर्णशङ्कर के लिये। यजु० १६। २६

(आन्त्याय) नीच वर्ण में उत्पन्न हुये। यजु १८।२८

(सूतम) क्षत्रिय से ब्राह्मणों में उत्पन्न हुये सूत को। यजु. ३०।६

दयानन्द भाष्य में इन शब्दों का ऊपर लिखा अर्थ किया है। मेरी समझ में आता नहीं कि वर्णशङ्कर और नीच

वर्णों की सङ्गति आर्य-समाज अपने सिद्धान्त अनुसार कैसे लगा सकता है। स० प्र० पृष्ठ- ८० पर दिये प्रमाणों और युक्तियों को भी तनिक परख देखें।

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्य, पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ यजु० ३१।११

अर्थ- ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य उरु और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इस लिये जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और न क्षत्रियादि ब्राह्मण हो सकते।

उत्तर- इस मन्त्र का अर्थ जो तुम ने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब यह निराकार है तो उस के मुखादि अंग नहीं हो सकते. जो मुखादि अङ्ग वाला हो तो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं, और जो व्यापक नहीं वह सर्व-शक्तिमान, जगत का स्रष्टा, धर्त्ता प्रलयकर्त्ता जीवों के पुण्य और पापों की व्यवस्था करने हारा. सर्वज्ञ. अजन्मा, मृत्यु रहित आदि विशेषण वाला नहीं हो सकता इस लिये इस का यह अर्थ है कि जो (अस्या) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख उत्तम हो वह (ब्राह्मणः। 'ब्राह्मण- इत्यादि' समीक्षा— निराकार से सृष्टि रचना तो किसी ने भी नहीं मानी। स्वामी दयानन्द स्वयं यजु० ३२।४ के भावार्थ में लिखते हैं 'वह 'ईश्वर' भूत, भविष्यत कल्पों में जगत की उत्पत्ति के लिये पहले प्रकट होता है।'

ब्रह्म-ज्येष्टा भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे। अथर्व.१९।२३।३०
सब प्राणियों में पहिले वही ब्रह्मा रूप से प्रकट हुआ।

'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं' श्वेता० ३ । ४ जिस ने पहले पहल हिरण्यगर्भ को प्रकट किया ।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह ॥

मुण्डक उप० १ । १

अर्थ — देवताओं के मध्य में ब्रह्मा पहले प्रकट हुआ, जो विश्व का कर्ता और भुवन का रक्षक है। उस ने ब्रह्म-विद्या जो सब विद्याओं की बुनियाद है, अपने सब से बड़े पुत्र अथर्व को बतलाई । अब विचारिये कि सृष्टि-कर्ता साकार है अथवा निराकार। ईश्वर को केवल निराकार मानना भूल है। जब मुक्त जीव में यह सामर्थ्य है कि वह निराकार भी रहता है और चाहे तो साकार भी हो जाता है। फिर सदा मुक्त ईश्वर में ऐसी सामर्थ्य का अभाव नहीं माना जा सकता।

'द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः' । वे. द. ४ । ४ । १२

अर्थ— द्वादशाह यज्ञ के समान दोनों प्रकार ठीक हो सकते हैं, वादरायण आचार्य यह मानते हैं। अर्थात् जैसे द्वादशाह यज्ञ दो प्रकार का सङ्कल्प पाये जाने से सत्र और अहीन कहा जा सकता है एवं मुक्त अवस्था में सङ्कल्प के भावाभाव से शरीर रहता भी है और नहीं भी रहता। रहता इस प्रकार है कि जब मुक्त पुरुष शरीर का सङ्कल्प करता है तभी उस के शरीर का सामर्थ्य हो जाता है। नहीं इस प्रकार कि जब वह अशरीरता की कल्पना करता है तो अशरीरी हो जाता है क्योंकि वह सत्य सङ्कल्प है, इस लिये उसके लिये शरीरी अशरीरी होना कोई बड़ी बात नहीं। (आर्य्य-भाष्य)। पूर्ण वेदज्ञ वेदव्यास जी का वचन वेद विरुद्ध तो हो नहीं सकता। इस से ईश्वर के

साकार स्वरूप को स्वीकार करना ही चाहिये और इस विषय में तो अनेक श्रुतियां पाई जाती हैं कि सृष्टि-रचना ईश्वर के सङ्कल्प - मात्र से होती है । अवतारवाद भी इस न्याय से सिद्ध ही है ।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं' । बृह. उप. २ । ३ । १

अर्थ—दो ही ब्रह्म के रूप हैं मूर्त (मूर्ति वाला=Material) और अमूर्त (जिस की कोई मूर्ति नहीं=Immaterial) ।

परं चापरं च ब्रह्मयदोंकार । प्रश्न उप० ५ । २

अर्थ— हे सत्यकाम! यह है परब्रह्म और अपरब्रह्म, यह जो 'ओम्' अक्षर है अर्थात ओंकार पर और अपर दोनों की प्राप्ति का अचूक साधन है। दो ईश्वर तो कोई भी नहीं मानता, इसलिये एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। जो मन, वाणी का अविषय है वह उसका पर अर्थात शुद्ध स्वरूप है और जो अपनी महिमा में आप व्यापक है, उसी का एक पाद अपनी माया से विशिष्ट हुआ जगत कर्ता बन कर जगत में व्यापक है और उस के इस स्वरूप को शबल, अपर, हिरण्यगर्भ, ब्रह्म और प्रजापति कहते हैं और ब्रह्म का यही स्वरूप उपासनीय है। वेद मंत्रों द्वारा अग्नि वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र आदि नामों से ब्रह्म का शबल स्वरूप ही अभिप्रेत है, और भिन्न भिन्न कामनाओं के लिए भिन्न भिन्न नामों से उसी की उपासना की जाती है। वह सूर्य में इसी भांति व्यापक है जैसे शरीर में जीवात्मा । वर्षा के लिए उसे इन्द्र रूप से उपासा जाता है और तेज के लिये अग्नि रूप से। जैसे एक ही राज्य अधिकारी को जुदा जुदा अधिकार प्राप्त होने से जुदा जुदा नामों से पुकारा जाता है। उद्धरण अर्थ डिपटी कमिश्नर, डिसट्रिक्ट मजिसट्रेट,

परैज़ीडंट सोलजरज़ बोर्ड और चेयरमैन डिसट्रिक्ट बोर्ड आदि। डिसट्रिक्ट बोर्ड के कार्य के लिये हम उसे चेयरमैन डिसट्रिक्ट बोर्ड के नाम पर प्रार्थना करें तभी स्वीकार होगी। अब बात समझ में आ जानी चाहिये कि वेद मंत्र का अर्थ जो शब्दों द्वारा बनता है कि ब्राह्मण उस के मुख से उत्पन्न हुये ठीक है वरना इसी अध्याय के अन्य मन्त्रों के अर्थों की संगति कैसे लगेगी। उस के श्रोत्र, चक्षु मन और नाभि आदि अवयव भी तो बताये गये हैं और चन्द्रमा की मन से, सूर्य की चक्षु से, श्रोत्र से वायु, मुख से अग्नि नाभि से अन्तरिक्ष, शिर से द्यौ, पैर से भूमि इत्यादि की उत्पत्ति भी तो लिखी है। केवल निराकार मानने से तो उस में सङ्कल्प का भी अभाव मानना होगा फिर जगत रचना कैसे कहोगे। केवल निराकार वाद तो इस गुथ्थी को सुलझा नहीं सकता और न ही किसी कल्पना से सन्तोष-जनक उत्तर बन पड़ेगा इसलिये कहना पड़ता है कि यजु ३१।११ का सत्यार्थप्रकाश में किया अर्थ कपोल कल्पित है और पृष्ट ८८ पर अपने इस अर्थ को युक्ति से सिद्ध करने के लिये लिखा कि 'जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसे मुख का आकार गोल माल है वैसे ही उन के शरीर का भी गोल माल मुखाकृति के समान होना चाहिये।' यह तर्क तो बुद्धि पूर्वक नहीं, क्योंकि अग्नि भी तो उसी पुरुष के मुख से उत्पन्न हुई है और अग्नि की आकृति भी मुख के समान गोल माल नहीं। जगत का उपादान कारण भी महर्षि व्यास ईश्वर को मानते हैं—

'जन्माद्यस्ययतः' वेदान्त द १।१।२ और ईश्वर आर्य समाज के मत में केवल निराकार है, तब निराकार से उत्पन्न जगत उपादान कारण के सदृश निराकार क्यों न बना ? यदि प्रकृति को ही उपादान कारण मान लें तो वह भी अदृश्य है क्योंकि सत्व रज तम की जो 'साम्यावस्था' है, वह किसी को दिखाई नहीं देती। तब अदृश्य प्रकृति से दृश्य जगत कैसे बन सकता है। इस बात को भी जाने दीजिये। हम संसार में योनि प्रदेश से उत्पन्न होने पर भी मनुष्यों का आकार योनि के सदृश नहीं पाते इस का कारण सोचने पर कुतर्क का वाजार भांओ मालूम हो जायेगा। शूद्रो ब्राह्मणतामेति...... मनु १०। ६५ यह श्लोक तो प्रमाण में दे दिया परन्तु इस से पहला श्लोक छोड़ दिया। वह है—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान्श्रेयंसी जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात ॥ मनु १०। ६४

अर्थ—शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न होते होते सात जन्म तक यदि इसी क्रम से पैदा होता जाय तो सातवें जन्म में जाकर शूद्र ब्राह्मण के सदृश हो जाता है। दोनों श्लोकों का एक साथ अर्थ करने से सत्यार्थप्रकाश के लेखिक का मन्तव्य सिद्ध नहीं हो सकता था इस लिये जोड़ा काट दिया व्याकरण की रीति से युगपत अर्थ दोनों श्लोकों का एक साथ अर्थ करना होना चाहिये था, ऐसो ही बात आपस्तम्ब के सूत्रों के अथ करने में की है क्योंकि 'धर्मचर्य्या—अधर्मचर्य्या' इन दो सूत्रों में आये हुये 'जातिपरिवृत्तौ' इस सप्तम्यन्त पद का सत्यार्थप्रकाश में अर्थ नहीं किया! यह पद मरने के बाद जन्मान्तर में क्रमशः जाति - परिवर्तन का बोधक है, इसी कारण से सूत्र में 'पूर्वं पूर्वं' यह पद आये हैं और,

'चत्वारो वर्णा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रा'। 'तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान'। यह दो सूत्र भी तो आपस्तम्ब के ही हैं। इन में चारों वर्णों में पहला 'जन्मतः' जन्म से श्रेष्ठ है, ऐसा बतलाया गया है। वह ऋषि ही नहीं जो अपनी बात का आप ही प्रतिवाद करें, आपस्तम्ब ऋषि ऐसा क्यों करते ? कहना पड़ता है कि ऋषि के सूत्रों का सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने अर्थ नहीं अनर्थ किया है।

पृष्ठ ८५ पर लिखा है कि 'छान्दोग्य में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय, मतंग ऋषि चांडाल कुल से ब्राह्मण हो गये'। यह भी ठीक नहीं क्योंकि जाबाल ब्राह्मणवीर्योत्पन्न थे, तभी तो 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति' ब्राह्मण के सिवाय ऐसा कोई नहीं कह सकता, ऐसा उनके विषय में छान्दोग्य में लिखा है। विश्वामित्र के विषय में 'चरुपरिवर्तन' का आख्यान महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ३ में विस्पष्ट लिखा ही है। रहा मतंग वह एक जन्म में क्या कई जन्मों में भी ब्राह्मण नहीं बना। इस का उपाख्यान महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय २७ से लेकर २९ तक बराबर लिखा है पर वहां कहीं भी मतंग का ब्राह्मण होना नहीं लिखा। लाला जीवनदास लाहौर के पत्र के उत्तर में स्वामी दयानन्द जी का उत्तर 'जो आप लोगों में यज्ञोपवीत होता और धरावट अर्थात् विधवा को पुनः दूसरे के घर में बैठाना नहीं होता तो शूद्र वर्ण में गणना आप लोगों की नहीं'। प० वि० पृष्ठ ३३५ पत्र (२७४)।

अब तो अधिक कहने की जरूरत नहीं कि स्वामी दयानन्द जी भी जन्म से जाति मानते थे, जो कहीं अन्यथा लिखा तो

चित्रग्रीव नीति को अपनाकर वरना हो नहीं सकता कि वह शास्त्रों से अनभिज्ञ थे।

पृष्ठ १००—'जो श्रद्धा से कर्म किया जाये उसका नाम श्राद्ध है, जिस २ पितर कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जावें उस का नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिये मृतकों के लिये नहीं।' पहली सत्यार्थप्रकाश तीसरे समुल्लास में संस्कृत में दिये गये मंत्र और श्लोकों द्वारा तो लिखा 'पित्रादकों में जोई जीता होय उसका तर्पण न करें, और जिनने मर गये होय उनका तो अवश्य करें।' 'यज्ञोपवीत को सव्य असव्य और कण्ठ में धारण करने और देव तर्पण में एक वार, ऋषि तर्पण में दो वार और पितृ तर्पण एक वार मन्त्र पढ़ के अञ्जलि देवे। पितृकर्म में तर्पण और श्राद्ध करना चाहिये'। यह प्रकरण पूरे दो पृष्ठों पर लिखा है। पीछे विज्ञापन में केवल इतना कहने से कि मृतक के स्थान में जीवित का होना चाहिये, कुछ अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि शेष क्रिया जीवित पितरों के विषय में घट ही नहीं सकती क्योंकि दक्षिणाभिमुख और अपसव्य होने और पृथ्वी पर जल अञ्जलि छोड़ने से जीवित पितर को क्या लाभ? जीवित पितर को श्रद्धा से सेवा करने में ऐसी क्रिया करने और मन्त्र पढ़ने का क्या प्रयोजन? इस बात का न कहीं उल्लेख है और न ऐसी विधि करता कोई देखा ही गया है। जिन के सुधार का स्वामी जी ने बीड़ा उठाया था उन की भी कुछ बातें मानली और यह जानते ही थे कि संस्कृत और शास्त्रों के पठन पाठन से जनता को यथार्थ ज्ञान हो ही जायेगा और हुआ भी ऐसा ही।

श्री रामदीन जी चोखानी कलकत्ता आर्यसमाजी ने 'पितृ यज्ञपद्धति' नामक ग्रन्थ लिख यह दिखलाया कि वेदों में मृतक श्राद्ध है. सत्यार्थप्रकाश में जो जीवित पितरों का श्राद्ध लिखा है वह वेद विरुद्ध है।

श्री चन्द्रमणी स्नातक गुरुकुल काँगड़ी ने 'महर्षि पतञ्जली और तत्कालीन भारत' में यह लिखा कि महर्षि पतञ्जलि के समय में वेदों में अश्वमेधादिक यज्ञों का विधान मूर्तिपूजा, अवतार तथा मृतक श्राद्ध है। इस पुस्तक की समालोचना वेदप्रकाश नवम्बर सन१९१५ में आरम्भ हुई। जब स्वामी श्रद्धानन्द जी को इस पुस्तक के छपने का पता लगा तब आप ने श्री चन्द्रमणी विद्यालङ्कार को राजी कर पुस्तक का नामोनिशान तक मिटा डाला क्योंकि यह पुस्तक आर्यसमाज के लिये बड़ी खतरनाक थी। इस लिए इस की भी गति वही हुई जो पहली सत्यार्थ प्रकाश और पहली संस्कारविधि की हुई थी जो अब ढूण्ढने से भी नहीं मिलती। पं० मङ्गलदेव तड़ितकांत वेदालङ्कार गुरु कुल कांगड़ी ने एक 'यम और पितर' नामक पुस्तक लिख कर. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के प्रेस औंध जिला सतारा में छपवाई और पुस्तक मिलने का ठिकाना भी यही है। इस पुस्तक में चारों वेदों के पन्द्रह सौ मन्त्र लिखे हैं और इन सब मन्त्रों से मृतक श्राद्ध की सिद्धि होती है। आर्यसमाज पञ्जाब ने 'आर्य-पर्व-पद्धति' छोटी सी पुस्तक छपवाई, उस में दिवाली के दिन, जिस दिन स्वामी दयानन्द जी का दाह-संस्कार हुआ था स्वामी जी के नाम पर छः (६) आहुतियां अग्नि में देनी लिखी हैं। क्या अब भी सत्याथप्रकाश में लिखा जीवित पितरों का श्राद्ध सच्चा ही रहेगा। मृतक श्राद्ध

का खण्डन श्राद्ध शब्द के यौगिक अर्थ और तर्क पर निर्भर है वरना धर्म-शास्त्र तो मृतक श्राद्ध की पुष्टि करते हैं। इस बात को भी परख लेते हैं। यदि श्राद्ध के रूढ़ि अर्थ न माने तो सभी संस्कार श्रद्धा से किये जाते हैं, उन सभी की गणना श्राद्ध में क्यों न की जाये ? भय इतना ही है कि किसी महाशय के पुत्र के विवाह समय यदि पूछ लिया जाये कि तुम्हारे पुत्र का श्राद्ध कब समाप्त होगा तो पूछने वाले की खोपड़ी की खैर नहीं, वह वेभाओं की पड़ें कि छटी का दूध याद आ जाये। कुत्तिया को लाने वाले को अगर पूछ बैठें कि इस कुत्तिया से कब विवाह किया तब भी अपनी बुद्धि का दारू ढूण्डना पड़े। यद्यपि ठीक ही पूछा था क्योंकि विवाह भी तो 'वह' धातु से बनता है जिस के अर्थ हैं प्राप्त करना, लेजाना। विवाह के रूढ़ि अर्थ को त्याग यदि यौगिक अर्थ मानें तो घोड़ी, गाय, भैंस और छेरी आदि खरीद कर घर लाने में सभी हमारी वधु कही जा सकती हैं। यदि वेद मन्त्रों द्वारा अर्पण किया श्राद्धीय अन्न ब्राह्मण के मुख में डाला हुआ मृतक पितरों को नहीं पहुंच सकता तो यह कैसे मान लिया जाये कि अमावस्या के दिन और अश्लेषा नक्षत्र में उत्पन्न हुये पुत्र के नामकरण-संस्कार में तिथि और उसके देवता पितर, नक्षत्र और उस के देवता सर्प को अग्नि-कुण्ड में डाली हुई घी की एक २ आहुति, इन को कैसे पहुंचती है। सम्मुख बैठे पितर को प्राप्त होती देखी नहीं जाती। गर्भाधान के पश्चात् मर जाने वाले पिता को मिलने का निश्चय ही कैसे हो सकता है ? सर्प तो वेदि के निकट प्रकट भी हो जाये तो याज्ञकों को दौड़ते बने पर सर्प को भी

घर बैठे ही घी की आहुति पहुंचती ही होगी। और यह बात भी नहीं भूलनी चाहिये कि घी सर्प का खाद्य-पदार्थ भी तो नहीं फिर घी किसी रूप में उसे मिलता ही होगा। महाशय जी ऐसी बात है तब तो अपनी सन्तान का नाम-करण-संस्कार भी नहीं करना चाहिये जब तक कि इस बात को तर्क द्वारा सिद्ध न कर लें। केवल संस्कारविधि में लिखा होने से तो कोई प्रमाण नहीं मानना चाहियं। आर्य्य-समाजी भाई जड़ पदार्थ की पूजा से कोई लाभ नहीं मानते, फिर न जाने वे तिथि और नक्षत्र के नाम पर आहुति क्यों देते हैं जबकि उनके सिद्धान्त अनुसार वे जड़ हैं। एक ही देवता को मानने वालों ने इतने देवता यों ही क्यों घड़ मारे। जीवित पितर का अमावस्या से क्या सम्बन्ध और सर्प का अश्लेषा नक्षत्र से, इस बात को तनिक युक्ति से सिद्ध तो कर दिखायें। मैं तो मृतक पितर श्राद्ध और तर्पण में बड़ा लाभ देखता हूँ, जन्म दाता माता पिता आदि के उपकारों को न भूलना और उनकी मृत्यु से अपनी मृत्यु को अवश्य भावी मान कर पाप से बचना और सदा के लिये जन्म मरण के चक्कर से छूटने के लिये ईश्वर स्मरण करना, यह दोनों बातें ही कल्याणकारी हैं।

नारायण इस संसार में जो चाहें कल्याण।
एक न भूलो मौत को दूजे श्री भगवान् ॥

जब रामायण में दशरथ, महाभारत में भीष्म का अपने मृतक पिता का श्राद्ध और गीता १।४२ 'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्त पिण्डोदक क्रिया'। लोप हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले इन के पितर लोग भी गिर जाते हैं ऐसा मिलता है फिर मृतक पितर श्राद्ध अवैदिक कैसे ? क्या महर्षि बाल्मीक और व्यास

जी रामायण और महाभारत ग्रन्थों के कर्ता वेदों से अनभिज्ञ थे। संस्कारविधि समावर्तन प्रकरण पृष्ठ १२६ 'इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले अपसव्य और दक्षिण मुख हो के—

ओं पितरः शुन्धध्वम । पार कां० २ । कं० ६

'इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ के सव्य हो के' (शेष अगली क्रिया) क्या यह क्रिया जीवित पितरों के लिये हो सकती है ? यज्ञोपवीत को बायें कन्धे से दायें कन्धे पर करके और दक्षिण की ओर मुंह करके हे पितरो ! मझे शुद्ध करो इस प्रार्थना के पश्चात् जल को भूमि पर छोड़ने और फिर अगली क्रिया के लिये जंजू को फिर से बायें कन्धे पर करने से जीवित पितरों की सेवा का इस में क्या भाव हो सकता है ? ऐसा तर्पण तो मृतक पितरों का ही किया जाता है। वेद के प्रमाणों के लिये यम और पितर पढ़ लो मुझे अधिक कहने की जरूरत नहीं। आप लोग भी तो मृतक पितरों के नाम पर स्कूल, कालिजों में कमरे बनवाते और औषधालय खोलते हैं यदि ऐसे करने से पितरों का अथवा तुम्हारा कुछ भला होता है तो मेरा श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणों के पालन-पोषण में पितरों के निमित्त सहायक बनना हानिकारक कैसे हो सकता है। जबकि मैं मानता हूँ कि ब्राह्मण को खिलाये हुये अन्न का सूक्ष्म भाग पितर खाते हैं जिस के लिये केवल शास्त्र प्रमाण है, प्रत्यक्ष से तो हम यह भी सिद्ध नहीं कर सकते कि भौरा फूल में से कुछ निकाल ले गया है क्योंकि अभी तक उस को तोलने वाला तुला और वाट नहीं बने परन्तु फूल पर बैठ कर भौरा खाली नहीं गया, मधुमक्खी के छत्ते में मधु का होना इस का प्रमाण है। तर्क द्वारा तो कोई भी अपने जनक का भी पूरा परिचय नहीं

दे सकता इस के लिये हमें माता आदि के कहने पर ही विश्वास करना होता है। अंधेर है कि धर्म जो शास्त्र प्रमाण का मुख विषय है उसके लिये आज अशास्त्रिय तर्क प्रधान हो रहा है।

पृष्ठ ११८ वेद मन्त्रों के प्रमाणों से नियोग सिद्धि मानो बालू (सिता) से तैल निकालना है। स० प्र० में ऐसा निष्फल यत्न किया है जबकि नियोग अवैदिक है और इस को अपनाने का आज तक किसी महाशय ने साहस्य तक नहीं किया और न ही कभी किया जायेगा। स्वयं आर्यसमाजियों ने इस का खण्डन किया है। पं० बद्रीदत्त जोशी आर्यसमाज के वैतनिक उपदेशक ने 'सनातन-धर्म-पताका' मुरादाबाद को नियोग को अवैदिक सिद्ध कर एक लेख दिया जो सन् १९१२ में पताका के कई अङ्कों में छपा।

पं० नरदेव प्रिंसिपल ज्वालापुर महाविद्यालय अपनी बनाई पुस्तक 'आर्यसमाज का इतिहास' पृष्ठ ८३ में नियोग का वर्णन करते हुये लिखते हैं— 'इस सिद्धान्त पर बहुत कुछ विचार हो सकता है। मनुस्मृति में धर्म जानने के जो चार मार्ग बतलाये हैं उनमें से किस के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थिति है? पृष्ठ ८४ में लिखते हैं कि 'चारों वेदों में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं जिस में स्पष्ट रीति से इसका प्रतिपादन किया हो। 'कुहस्विद्दोषा कुहवस्तोरश्विना' ऋ० १०—४०—२। १०—१८—८ इत्यादि इस मन्त्र में 'विधवेव देवरम' ऐसा आया है, परन्तु यह नियोग प्रतिपादक नहीं हो सकता। यह केवल मृत पति का स्त्री के विषय में है'। ...इस लिये हम तो यह स्पष्ट कह सकते हैं कि वेद इस सिद्धान्त का पोषक नहीं— यह आपत्काल सिद्धान्त

है। नीच जातियों में यह प्रथा किसी न किसी रूप में अब भी है।

न ते नाथ यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा ३ सं पपृच्याम।
अन्येन मत प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत ॥
अथर्व. १८। १। १३ वेदामृत पृष्ठ २३६

अर्थ— हे यमी मैं यहां तेरा नाथ नहीं हूँ तेरे शरीर को अपने शरीर से नहीं मिलूंगा। इस लिये मेरे से भिन्न दूसरों के साथ आनन्द मना। हे भाग्यवती स्त्री तेरा भाई यह नहीं चाहता'। यम-यमी सूक्त ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों वेदों में आया है और अन्तर केवल इतना है कि यह मन्त्र अथर्ववेद में तो है पर ऋग्वेद में नहीं। अन्य मन्त्रों का पाठ भेद भी नहीं। वेदामृत में दोनों वेदों के मन्त्र अंक दिये हैं और इस सूक्त को भाई बहन के विवाह के निषेध में लगाया है और अथर्व मन्त्र १८। १। १३ की विद्यमानता में यह सूक्त नियोग पक्ष लग ही नहीं सकता क्योंकि यम अपने आप को यमी का भाई मानता है और उसके पति होने को अस्वीकार करता है। जब विपक्षियों ने इस वेदामृत ग्रन्थ में दिये गये कई मन्त्रों पर अक्षेप किये जो कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खण्डन करते थे तो इस पुस्तक की प्रकाशक श्रीमती आर्य-प्रति-निधि-सभा पञ्जाब लाहौर को इस का दूसरा संस्करण छपवाना पड़ा और पुरानी प्रथा अनुसार अपने मतलब का हेर फेर कर दिया। यम-यमी सूक्त से अथर्ववेद मन्त्र के अंक उड़ा दिये और केवल ऋग्वेद का सूक्त रहने दिया और इस प्रकार नियोग का खण्डन करने वाला मन्त्र वहां से लुप्त हो गया। फिर क्या था सूक्त को नियोग पर लगा दिया और भ्राता के अर्थ पति और स्वसा के

पत्नि कर मारे। धार्मिक-सभा का कर्तव्य तो जनता को अंधेरे से निकाल प्रकाश की ओर ले जाना है न कि इसके उल्ट। तनिक दोनों पुस्तकों की भूमिका मिला देखो तो विदित हो जायेगा कि अपनी प्रतिज्ञा की आप हानि की है क्योंकि तुलना करने से मन्त्र सूची ही सिद्ध कर देगी कि क्या कुछ गड़बड़ की गई है। मन्त्र सूची का थोड़ा सा दिग्दर्शन करा देता हूँ। प्रतिज्ञा है कि कुछ नहीं निकाला गया।

पहला संस्करण मन्त्र	दूसरा संस्करण मन्त्र
अ—३४०	अ—१६
आ—९४	आ—४२
इ—१११	इ—५८
ई—४०	ई—२
उ—८३	उ—४५
ऊ—१०	ऊ—३

मैं जान बूझ कर आर्यसमाजी विद्वानों के किये अर्थ बता रहा हूँ और उनकी अपनी पुस्तकों के ही प्रमाण दे रहा हूं क्योंकि वह सब सज्जन जिन को आर्यसमाज से वासता पड़ा है जानते हैं कि विपक्षी के ठीक अर्थ को भी आर्यसमाजी अशुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया करता है और उनकी इस नीति से संस्कृत से अज्ञ जनता भ्रम से निकलने में सफल नहीं हो सकती। उन का आपस का विरोध हो तो पुस्तक फूंकने, बदलने अथवा और इसी प्रकार के षट्यन्त्र रचना उनके लिये कोई बुरी बात नहीं। जहां असमर्थ हों वहां मौन धारणा उनकी नीति है जैसे—

स. प्र. सप्तम समु. पृष्ठ १९३— 'मा नो महान्तमुत'। यजु. १६ । १५ का अर्थ ऐसा लिखा है 'हे रुद्र ! (दुष्टों को पाप के दुःख रूप फल को दे के रुलाने वाले परमेश्वर) आप हमारे छोटे बड़े जन, गर्भ, माता, पिता और प्रिय, बन्धुवर्ग तथा शरीरों का हनन करने के लिये प्रेरित मत कीजिये ऐसे माग से हम को चलाइये जिस से हम आप के दण्डनीय न हों' परन्तु दयानन्द वेद-भाष्य में इसी मन्त्र का अर्थ ऐसा किया है। 'हे युद्ध की सेना के अधिकारी विद्वान पुरुष आप हमारे उत्तम गुणों से युक्त पूज्य पुरुष को मत और छोटे क्षुद्र पुरुष को मत, हमारे गर्भाधान करने हारे को मत और हमारे गर्भ को मत, हमारे पालन करने हारे पिता को मत और हमारी मान्य कराने हारी माता को भी मत मारिये और हमारे स्त्री आदि के पियारे शरीरों को मत मारिये।' एक नहीं प्रायः सत्यार्थप्रकाश में आये हुये सभी वेद मन्त्रों के अर्थ दयानन्द वेद-भाष्य से मिलते नहीं। अर्थ विरोध का कारण पूछने पर चुप साध लेना आर्यसमाजी प्रथा है। उन का पोल खोलने और उन का मुंह बंद कराने के लिये यही एक मात्र उपाय है और यही ढंग उन को यथार्थ मार्ग दिखाने के लिये ठीक है। अपनी ओर से न कुछ कहो न सुनो, उन के घर की बातें ही बताओ, मानना न मानना उन का अपना काम है। यह ढंग मैं ने इसी सत्संग में सीखा है, आया था आर्यसमाज का प्रचार करने पर मुंह की खा कर तकले की नाई सीधा हो गया हूँ। सत को अपनाकर पशु से मनुष्य बनने का यत्न कर रहा हूँ। आर्यसमाज की खातर क्यों पाप की गठड़ी बांधूँ। झूठ बोलना बड़ा पाप है। आर्य समाज ने तो अपने सिद्धांत

को सिद्ध करने के लिये वेद मन्त्र भी अशुद्ध बना लिया, देखो— ऋ. मं. १० सू. ८५ मन्त्र ३ 'अघोरचक्षु...। वीरसूर्देवृकामा...।

सभी छपे और हस्त लिखित ऋग्वेद में 'देवकामा' पाठ है और पार. सूत्रों में भी 'देवकामा' ही है। आर्यसमाज को शोभा नहीं देता कि नियोग को वैदिक सिद्ध करने के लिये वेद मन्त्र का पाठ ही बदल डाले। मनु महाराज ने तो नियोग को पशु धर्म बताया है और यह है भी बड़ा घृणित। चारों वेदों में तो नियोग का शब्द तक नहीं मिलता, हां इतिहास में इस का कहीं कहीं वर्णन है। इस से यदि नियोग को वैदिक और अनुकरणीय मान लें तो फिर चोरी, जूआ आदि कुकर्मों का भी तो इतिहास में वर्णन है। इतिहास ने तो बुरी भली सभी प्रकार की जीवन घटनायें बतानी हैं, इस से सभी वैदिक तो नहीं बन जातीं। पाण्डवों के बारे में तो भारतसार में लिखा है—

न मैथुनेन सम्भूता निष्पापा पाण्डवाभवन्।

अर्थ— पाण्डव लोग मैथुन से उत्पन्न नहीं हुये इस लिये ये निष्पाप हैं। इस विषय में महाभारत लिखता है कि—

विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये सम्प्रतिपादनम।
धर्मस्य नृषु सम्भूतिरणी माण्डव्य शापजा ॥ १००
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिवरदानजा।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च सम्भवः ॥ १०१

महाभारत आदि अ. २

अर्थ— विचित्रवीर्य का राजतिलक पाने के पश्चात् माण्डव्य के शाप से धर्मराज का विदुर रूप से मनुष्य जाति में जन्म और कृष्णद्वैपायन से धृतराष्ट्र तथा पांडु की उत्पत्ति एवं पांडवों

का उत्पन्न होना यह प्रसूति सन्तानें वरदान से उत्पन्न हुई हैं। इन प्रमाणों को देख कर क्या कोई मनुष्य यह कह सकता है कि ऊपर लिखी सन्तानें मैथुन से उत्पन्न हुई हैं। धर्मशास्त्र में ब्राह्मण, वैश्य जाति में नियोग की आज्ञा नहीं दी. इसी कारण इतिहास में एक भी कथा ऐसी नहीं कि जिस में किसी ब्राह्मणी या किसी वैश्यपत्नी के नियोग का प्रसङ्ग आया हो. धर्मशास्त्र ने नियोग को आप्तकाल धर्म केवल क्षत्राणी के लिये कहा है वह भी सभी क्षत्राणियों के लिये नहीं केवल रानी के लिये रानी के लिये भी कामपूर्ति के लिये नहीं किन्तु वंश नष्ट होते समय वंश चलाने के लिये, वह भी सब मनुष्यों से नहीं किन्तु ऐसे मनुष्यों से जो विना भोग किये सन्तान की उत्पत्ति कर दें। आज कल ऐसे महापुरुष कहाँ ? इसी लिये धर्मशास्त्र ने कलियुग में नियोग का निषेध किया है। आर्यसमाज है जो नियोग को वैदिक सिद्ध करने के लिये उधार खाये बैठा है। शोक अतिशोक ऐसे वेद प्रचार पर जिस में झूठ कहने से भी भय न हो।

स. प्र. पृष्ठ २१२— 'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः। शत. ११।४।२।३ प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक एक वेद का प्रकाश किया'। समीक्षा— तथा के साथ अङ्गिरा जोड़ने से तो काम नहीं चल सकता। ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि अङ्गिरा के आत्मा में अथर्ववेद प्रकाश हुआ। इस के प्रतिकूल मुण्डक. उप. १।१ और श्वेत. उप. ६।१८ में ब्रह्मा जी ने ऋषियों को वेद ज्ञान दिया, इस विषय में और देखिये—

प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत । एक एव सोऽकामयतस्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्ते पानात्त्रयो-लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षंद्यौः ॥ १ ॥

स इमांस्त्रींल्लोका नभितताप तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योती ँ ष्य-जायन्ताग्निर्योऽयं पवेत सूर्यः ॥ २ ॥

स इमानित्रीणि ज्योति ँ ष्यभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदाअजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोयजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥ ३ ॥

स इमांस्त्रीन्वेदा नभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यास्त्रीणिशुक्राण्यजा-यन्तभूरित्युग्वेदादभुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तदृग्वेदे-नैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यंव ँ सामवेदेनोदगीथं यदेवत्राप्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम ॥४॥ शत पथ. ११–५–२ श्रुति १ से ४ तक—

अर्थ— प्रजापति सृष्टि से पहले अकेला वर्तमान था उसने इच्छा की कि मैं प्रजा बनु । उसने इसका निश्चय कर तप किया । उस श्रान्त और तपे हुये प्रजापति ने पृथिवी अन्त-रिक्ष और द्यौ ये तीन लोक रचे ॥ १ ॥

फिर उसने इन तीनों लोकों को तपाया, उन तपे हुये तीनों लोकों से अग्नि, पवन, और सूर्य ये तीन ज्योतियां उत्पन्न हुईं ॥ २ ॥

पश्चात् उसने अग्नि, पवन, सूर्य इन तीनों ज्योतियों को तपाया, इन तीन तपी हुई ज्योतियों से क्रमशः अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद, ये तीन वेद उत्पन्न हुये ॥ ३ ॥

बाद में उस प्रजापति ने इन तीन वेदों को तपाया, इन तपे हुये तीन वेदों से क्रमशः ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः, सामवेद से स्वः ये तीन शुक्र उत्पन्न हुये।

ऋग्वेद से होत्र, यजुर्वेद से अध्वर्यव, साम वेद से उदगीथ उत्पन्न किया, यह वेदत्रयी से शुक्र उत्पन्न हुआ अत एव ब्रह्म कहलाया ॥ ४ ॥

शतपथ में अग्नि, वायु, सूर्य ये ज्योतियां (तत्व) माने हैं न कि ऋषि० स० प्र० पृष्ठ २३७ में भी ब्रह्मा का पुत्र विराट, विराट का मनु, मनु के मरीच्यादि दश... यहां भी सृष्टि के आदि में इन ऋषियों की गणना न होने से उन को ऋषि कौन माने जबकि इस विषय में कोई प्रमाण ही नहीं मिलता। 'प्रजापति लोंकानभ्यतपत' । छां० ४ - १७— १, २, ३ में भी अग्नि, वायु, सूर्य को ज्योतियां ही लिखा और 'प्रजापतिरकामयत' एतरेय ब्रां १५। ७ में भी अग्नि, वायु, सूर्य को ज्योतियां ही माना है। इतने श्रुति प्रमाणों के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश की बात को अप्रमाणिक कैसे कहें ? शतपथ का एक वाक्य और मनु के श्लोक के मन माने अर्थ विद्वानों को धोखा नहीं दे सकते, साधारण जनता को अंधेरे में रखना कोई शुभ कार्य नहीं।

अष्टम समु स० प्र० पृष्ठ २१८ (प्रश्न) यह जगत परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है वा अन्य से ? (उत्तर) निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है परन्तु इस का उपादान कारण प्रकृति है' । पृष्ठ २१९— 'अजामेकां .. ' श्वेताश्वते ४–५ से प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात जिन का जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात ये तीन

सब जगत के कारण हैं इन का कारण कोई नहीं।' आओ इस बात का निर्णय कर देखें। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन देवात्म शक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।' श्वेताश्वे १—३

अर्थ— उन्हों ने ध्यान और समाधि में मग्न हो अपने कार्यों के अन्दर छिपी हुई परमात्मा की निज शक्ति को प्रत्यक्ष देखा। शक्ति शक्तिमान से भिन्न पदार्थ नहीं होता इसलिए प्रकृति कोई जुदा तत्त्व नहीं। दूर जाने की जरूरत नहीं स्व० दयानन्द जी स्वयं इस त्रित्यवाद का खण्डन करते हैं। यह बात मैं महाराज के बनाये ग्रन्थों से ही स्पष्ट करने का यत्न करता हूं। पहली सत्यार्थप्रकाश में तो ईश्वर को जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना ही है, उस पुस्तक को अप्रमाणिक भी मान लें तो भी उन के बनाये अन्य ग्रन्थ उसी की पुष्टि करते हैं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ११७ सृष्टि विद्या विषय. (नासदासीत्) जब यह काय सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर और दूसरा जगत का कारण अर्थात जगत बनाने की सामग्री विराजमान थी। जो सज्जन प्रकृति को जगत बनाने की सामग्री बताते हैं उन को पृष्ठ ११६ देखना चाहिये जहां लिखा है कि '(नोसदासीत्तदानीं) तस्मिन्काले सत्प्रकृत्यात्मक सव्यक्त सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपिनो आसीन्नावर्त्तत, अर्थात् जगत का कारण प्रकृति भी नहीं थी, आगे लिखा है 'प्रमाणु भी नहीं थे व्योम भी नहीं था, तब क्या था। किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्म सर्वस्यास्य परमकारण संज्ञकमेव तदानी समवर्त्तत, अर्थात् परब्रह्म की सामर्थ्य जो इस सब जगत का अति सूक्ष्म कारण है वह विद्यमान थी। पृष्ठ ११७ पर (परमेव्योमन्) तस्मिन्परमाका-

शात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद्व्यापके परमेश्वरएवेदानीमपि सर्वा सृष्टि वर्त्तते। प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति।'

अर्थात् आकाश की नाईं व्यापक परमेश्वर में ही यह सब जगत वर्तमान है और प्रलय समय में परब्रह्म की सामर्थ्य में जो सब का आदि कारण है लय होता है। नियम है कि कार्य अपने उपादान कारण में लय हुआ करता है न कि निमित्त कारण में। जैसे घट टूट कर मिट्टी में लय होगा न कि कुलाल में, जोकि घट का निमित्त कारण है। इस लिये ईश्वर की सामर्थ्य ही इस जगत का उपादान कारण है। यह बात स्पष्ट हो जाये कि प्रकृति जगत का उपादान कारण नहीं देखो पृष्ठ १२ '(ततो विष्वङ् व्यक्रामत) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है (साशना न०) सो दो प्रकार का है एक चेतन जोकि भोजनादि के लिए चेष्टा करता और जीव संयुक्त है दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिए बना है क्योंकि उस में ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत के बनाने की सामग्री है।' पृष्ठ १२५— 'और जो ब्रह्माण्ड का रचन पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत बनाने की सामग्री कहते हैं।' यदि अब भी प्रकृति को ही जगत का कारण मानना है तो और देखिये। पृष्ठ १३२— (अद्भ्यः संभूतः०) अग्निश्चवायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित आकाशः प्रकृतेः प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च' अर्थात् ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य से प्रकृति पैदा की और प्रकृति से आकाश, आकाश से वायु,

वायु से अग्नि, इसी प्रकार अग्नि से जल, और जल से पृथिवी और पृथिवी से घास पर्यन्त जगत की रचना।' इसी प्रकार पञ्चमहायज्ञविधि, सन्ध्योपासन मन्त्र 'ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोध्याजायत' में (सत्य) त्रिगुणमयं प्रकृत्यात्मकमव्यक्त स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणंचाध्याजायत यथा पूर्वमुत्पन्नम्' अर्थात् जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्वरजो और तमोगुण से युक्त है जिस के नाम अव्यक्त अव्याकृत सत् प्रधान प्रकृति है जो स्थूल और सूक्ष्म जगत का कारण है सो भी पूर्व कल्प के समान उत्पन्न हुआ है। स्वामी दयानन्द जी ने सृष्टि रचना विषय में एक भी वेद मन्त्र ऐसा नहीं लिखा जो यह सिद्ध करे कि प्रकृति अज है और वही जगत का उपादान कारण है किन्तु प्रकृति को पैदा हुआ माना है और ऐसा ही वैदिक सिद्धान्त है जिस को सभी वेदज्ञ ऋषि, मुनि स्वीकार करते हैं।

यस्माज्ज तं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सँ रराणास्त्रीणि ज्योतीँषि सचते स षोड़शी।

यजु ३२।५

अर्थ— जिस परमेश्वर से पहिले कुछ भी नहीं उत्पन्न हुआ जो सब लोक लोकान्तर आप ही हो गया। प्रजापति प्रजा के साथ भली प्रकार रमण करता हुआ तीनों ज्योतियों (बिजली, सूर्य, चन्द्र) को समवेद करता है वही सोलह कला वाला है। यह बात पहले बता चुका हूँ कि ब्रह्म ने आप ही ब्रह्मा बन कर सब जगत को रचा सो यह रचना दो प्रकार की है जड़ और चेतन। यह मन्त्र स्पष्ट वर्णन करता है कि सोलह कला वाला अर्थात् जीवात्मा भी

वही है और जड़ पदार्थों बिजली आदि में भी वही सम्वाय सम्बन्ध से रहता है। और यह अटल सिद्धान्त है कि कारण ही अपने कार्यों में व्यापक होता है जैसे घट, शराब, कर्क आदिकों में मृतिका ही व्यापक है कुम्भकार नहीं। इस मत्र में 'सचते' इस बात का सूचक है कि परमेश्वर जो इस मंत्र का देवता है अपने कार्यों में कारण भाव से विद्यमान है। स्वामी दयानन्द जी ने भी 'सचते' का अर्थ 'समवैते' संस्कृत भाष्य में किया है और इस शब्द की सिद्धि भी षच (धातु आदे ष = स) से होती है जिस के अर्थ कारण काय भाव अर्थात् सम्वाय सम्बन्ध से रहना, बात भी ठीक है क्योंकि निरवयेव होने से परमेश्वर का संयोग संबन्ध तो बन भी नहीं सकता। और इसी बात की यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८ भी पुष्टि करता है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यन्न विश्वं भवत्येकनीड़म।
तस्मिन्निदँ सञ्च विचैति सर्वँ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

अर्थ — हे मनुष्यो! जिस में सब जगत एक आश्रम वाला होता उस बुद्धि वा गुप्त कारण में स्थित नित्य चेतन ब्रह्म को पंडित विद्वान् जन ज्ञान दृष्टि से देखता है उस में यह सब जगत प्रलय समय में संगत होता और उत्पत्ति समय में पृथक स्थूल रूप भी होता है, वह त्रिविध प्रकार व्यापक हुआ प्रजाओं में ठाडे सूतों में जैसे वस्त्र तथा आढे सूतों में जैसे वस्त्र वैसे ओत-प्रोत हो रहा है वही सब को उपासना करने योग्य है। दयानन्द भाष्य)। यह बात तो आप में से किसो से भी छुपी हुई नहीं कि कुर्ता, धोती, पगड़ी, पाजामा, कोट और टोपी आदि सभी वस्त्र नाम और रूप में पृथक २ होते हुये भी सूत के सिवाय कुछ

नहीं। नाम और रूप व्यवहार के लिये हैं वास्तव में सूत में जो ताने वाने के रूप में वस्त्र आकार दिखाई देता है कोई परिणाम नहीं हुआ, सूत था, सूत है और सूत ही रहेगा क्योंकि कार्य्य कारण में ही लय होता है। और इसी बात को यह मन्त्र सिद्ध करता है कि परमात्मा ही, जो इस मन्त्र का देवता है, जगत का उपादान, निमित्त और साधारण कारण है। प्रकृति को जुदा तत्त्व के रूप में जगत का उपादान कारण मान कर तो ब्रह्म जगत में व्यापक ही नहीं हो सकता क्योंकि किसी भी निमित्त कारण की व्यापकता का उदाहरण ढूण्डने से भी नहीं मिल सकता। एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति। ऋग्वेद १।१६४।४६ ज्ञानी एक ही सत्य तत्त्व को अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, इस से भी मानना पड़ता है कि सत्य एक ही है दो तीन नहीं। दूसरी बात यह है कि कुम्भकार को तो पात्र बनाने के लिये मृत्का की जरूरत है तो उस को दंड-चक्र आदि की भी आवश्यकता है और हाथों के बिना बना भी नहीं सकता। आर्यसमाजी भाई यह नहीं मानते कि जगत बनाने के लिये ईश्वर को किसी साधारण कारण और हाथों की जरूरत है फिर न जाने वे पृथक उपादान कारण मानने पर हठ क्यों करते हैं। पहली दो बातों का निषेध भी तो वे शास्त्र प्रमाण के आधार पर ही करते हैं वरना युक्ति से तो इस बात की भी सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में वे वेद प्रमाण क्यों नहीं मानते कि ईश्वर की सामर्थ्य ही जगत का उपादान कारण है न कि कोई पृथक प्रकृति। ब्रह्म को आकाश की नाईं व्यापक बताया जाता है। आकाश भी अपने कार्यों वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि में व्यापक है, जीवात्मा में आकाश की

व्यापकता को कोई नहीं मानता क्योंकि वह उस का कार्य्य नहीं। आर्य्यसमाज प्रकृति को सत; जीवात्मा को सत, चित और परमात्मा को सत, चित आनन्द स्वरूप मानता है पर वह सत का ऐसा कोई लक्षण नहीं कर सकता जो उसकी मानी हुई तीन अनादि अनन्त सत्ताओं पर एक जैसा घट सके। प्रकृति तो बदलने वाली है फिर सत कैसे ? क्योंकि तीन कालाबाधित एक रस पदार्थ को सत कहते हैं। यदि परिणामी सत भी मान लें तो भी एक सत से ही सब काम चल सकता है अन्य दो की जरूरत नहीं। वेद प्रकृति को पृथक नहीं बताता। जैसे—

वृहन्तो नाम ते देवा योऽसतः परिजज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः पुरो जनाः॥ अथर्व १०।७।२५

बड़े ही वह देव हैं जो प्रकृति से उत्पन्न हुये हैं। वह प्राकृतिक एक अँग उस आधारस्तम्भ का ही है। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य कहते हैं। (परमात्मा का चेतनरूप एक अँग है उसको 'सत' कहते हैं। उसी का दूसरा अँग है जिसको 'असत' किंवा प्रकृति कहते हैं। इस असत प्रकृतिरूप अँग से ही अग्नि, वायु, सूर्यादि सब बड़े देव बने हैं। यह बात प्रसिद्ध ही है)।

(वेदामृत पृष्ट ४१९)—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥

अथर्व. १०—८ १३

प्रजापति गर्भ के अन्दर विचरता है, वह न दीखता हुआ बहुत प्रकार से होता है। आधे भाग से सब भुवन को उत्पन्न किया और जो इसका आधा है वह किस का चिह्न है ? प्रजापति परमात्मा सब पदार्थ मात्र के अन्दर है

वह दीखता नहीं तथापि विविध प्रकार से प्रकट हो रहा है। उसका प्रकृति रूप जो आधा भाग है, उस से सब जगत उत्पन्न होता है, परन्तु जो इसका दूसरा आधा भाग अर्थात् आत्मिक अँश है, उसका कोई दर्शन स्पष्ट रीति से नहीं होता। उसको प्रत्यक्ष करने के जो जो चिह्न होंगे, उनका ही विचार करना चाहिये। (वेदामृत पृष्ठ ४२७)

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत परिषिच्यते ॥ अथर्व १०।८।२९

अर्थ—पूर्ण से पूर्ण का उदय होता है, पूर्ण को पूर्ण ही जीवन देता है अब आज वह हम जानें जिस से वह चारों ओर सींचा जाता है। (वेदामृत पृष्ठ ४३०) अब तो कोई कसर बाकी नहीं रहती कि प्रकृति कोई जुदा तत्त्व है, ईश्वर की सामर्थ्य ही जगत का कारण है। यदि वेद में इसके विरुद्ध पाया जाता है तो परस्पर विरोध का अपहार कैसे किया जायेगा ? जिसके किये बिना वेद ईश्वरीय ज्ञान ही सिद्ध न होंगे। आर्य्यसमाज की प्रमाणिक दस उपनिषदें भी इन्हीं वेद मन्त्रों का अनुकरण करती हैं कि प्रजापति ने ख्याल किया कि मैं ही प्रजा रूप हो जाऊँ न कि अन्य प्रकृति से जगत को रचूँ। परन्तु छः दर्शनों में परस्पर विरोध पाया जाता है जिस का समन्वयः स्वामी दयानन्द जी ने पहली सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार लगाया है कि वेदांत प्रथम सृष्टि का वर्णन करता है जो कि अत्यन्तक प्रलय के पश्चात् आरम्भ होती है और जब एक अद्वितीय ब्रह्म को छोड़ और कुछ नहीं होता, न्याय और वैशेषिक प्रलय के बाद की सृष्टि का वर्णन करते हैं जब कि प्रमाणु और जीव प्रलय में बने रहते हैं, सांख्य

और योग महाप्रलय के बाद की सृष्टि रचना को बताते हैं जबकि प्रकृति और पुरुष बने रहते हैं। ऐसा न मानने वाले तो विरोध का परिहार कर नहीं सकते। संक्षिप्त से इतना ही कहा जा सकता है, विशेष ज्ञान के लिये आप वेद और शास्त्रों को पढ़ेंगे तो यही निश्चय होगा कि जगत का मूल एक तत्व परमात्मा ही है। विज्ञान भी इसी वैदिक सिद्धांत पर आ गया है। अब तनिक जीवात्मा के विषय में भी विचार लें। स्वामी दयानन्द जी ने यजु. ३२। ५ भावार्थ में सोलह कला के बारे में प्रश्न उपनिषद छटे प्रश्न का हवाला दिया है। जब हम प्रश्न उपनिषद देखते हैं तो वहां ऐसा लिखा मिलता है। सुकेशा— भारद्वाज के सोलह कला वाले पुरुष के पूछने पर भगवान् पिप्पलाद ने उत्तर दिया, हे सौम्य ! यहाँ ही शरीर के अन्दर वह पुरुष है जिस में यह सोलह कलाएं उत्पन्न होती हैं।

स ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन्वा प्रतिष्ठते प्रतिष्ठास्यामीति। ६। ३। स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्राद्धां .. ६। ४— उस ने सोचा किस के निकलने पर मैं निकलूंगा और किस के ठहरने पर ठहरूंगा -३- (यह सोच कर) उस ने प्राण को रचा, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति (अग्नि) जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म्म, लोक और लोकों में नाम। ४। — यह तो ज्ञात ही है कि आकाश आदि की रचना ईश्वर करता है न कि जीव। ईश्वर ने प्राण को रचने का कारण बताया है कि जिस के रहने से वह (ईश्वर) शरीर में रहेगा, जिस के निकलने पर निकल जायेगा। शरीर में रहना तब तक होगा जब तक प्राण रहेंगे, यह बात

जीव के विषय में ठीक है क्योंकि ईश्वर तो मृतक शरीर में भी व्यापक होता है। ईश्वर का शरीर में ठहरना और निकलना तो बन ही नहीं सकता, इस लिये मानना पड़ता है कि 'जीवः=प्राण धारणे' प्राणों को धारणे से ही ईश्वर की जीव संज्ञा है। इस सोलहकला सूक्ष्म शरीर का ही आवागमन होता है और चेतन का तो इस में आभास है और यही जीव कहा जाता है और इसी से नाम और रूप विख्यात होते हैं। अन्य उपनिषदें भी ऐसा ही वर्णन करती हैं—

या आपो याश्च देवता या विराड ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥ अथर्व ११।१०।३०

अर्थ— जो आप तथा जो अन्य देवतायें हैं और ब्रह्म के सह वर्तमान जो विराट है, ब्रह्म ही उन सब के साथ शरीर में प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीर में अधिष्ठान हुआ है। (वेदामृत पृष्ठ १०)। व्यापक ब्रह्म का शरीर में प्रवेश जीव रूप से ही बन सकता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः॥
अथर्व १०।८।२७

अर्थ— तू स्त्री, तू पुरुष, तू कुमार और तू ही कुमारिका है तू वृद्ध होकर डंडा लेकर चलता है और तू ही सवत्र मुख वाला होता है। (वेदामृत पृष्ठ ४३०) यह वेद मन्त्र भी यही सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म ही नाना रूप धारण कर रहा है। माया उपाधि से ईश्वर और अविद्या उपाधि से जीव।—

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ अथर्व ११।७।२३

अर्थ— जो प्राण से जीवन प्राप्त कर रहा है और जो आंख से देखता है, वह सब तथा जो देव द्युलोक में आश्रित है वे सब अवशिष्ट परमेश्वर से बने हैं (वेदामृत पृष्ठ ४३४)

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरिषु पुत्रान्॥
ऋग्वेद १०।१८३।३

अर्थ— ईश्वर कहता है कि मैं ने वनस्पतियों में फल आदि के लिये गर्भ स्थापन किया है। सब लोकों में मैंने ही गर्भ स्थापन किया है। पृथिवी पर प्रजायें मैं ने ही उत्पन्न की हैं। तथा प्रजनन क्रिया द्वारा स्वकीय स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न करता हूं। अर्थात् हे मनुष्यो! तुम अपनी शक्तियों से ही सन्तानोत्पत्ति किया करो। (वेदामृत पृष्ठ २७१)। कौन नहीं जानता कि जीवात्मा ही मैथुन द्वारा पुत्र पैदा करता है न कि निराकार ईश्वर पर वेद ईश्वर को स्त्री में पुत्र उत्पन्न करने वाला बताता है। इस से यही सिद्ध होता है कि जीव और ईश्वर एक ही चेतन के उपाधि भेद से दो नाम हैं। वेदज्ञ ऋषि भी ऐसा ही कहते हैं। कठ उपनिषद भी इसी बात की पुष्टि करती है। निचकेता को तीसरे वर में अध्यात्म-विद्या बताते हुए यम महाराज ने आत्मा के दोनों स्वरूपों का उपदेश किया। वर एक था दो प्रश्न बन ही नहीं सकते कि एक में जीवात्मा के बारे में पूछे और दूसरे में परमात्मिक विषयक प्रश्न हो। भगवत गीता १३-२ में भी जीव ईश्वर के अभेद का वर्णन है 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'। और हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रों में (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ अर्थात जीवात्मा भी मेरे को ही जान। वेद में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं मिलता जिस के साथ

निश्चयात्मिक अव्ययों अर्थात एव, ही, खलु इत्यादि का प्रयोग द्वैतावाद में हुआ हो और अद्वैतवाद में ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिन से एक ही चेतन की सिद्धि होती है जैसे 'पुरुष एवेदं सर्वं ।' निश्चय यह सब कुछ पुरुष ही है। यह मन्त्र चारों वेदों के पुरुष सूक्त में पाया जाता है। इस की पुष्टि 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' माण्डूक्य २— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' छा: ३—१४ और भी बहुत से मन्त्र करते हैं। बहुत सुनने और पढ़ने से भी बहुतों को इस बात का निश्चय नहीं होता। इस के लिये एक मात्र उपाय साधन है और आत्म-साक्षात्कार के लिये मनुष्य के जन्मते ही हिन्दू घरानों में जो जात कर्म संस्कार किया जाता है वही पर्याप्त है और सकल संसार ने इसी साधन को शान्ति की प्राप्ति के लिऐ किसी न किसी रूप में अपनाया हुआ है। बालक के जन्मते ही उसे नहला धुला कर शुद्ध करके उस की जिह्वा पर सोने की शिलाखा से घी मिले मधु से 'ओ३म्' लिखा जाता है और उस के दक्षिण कान में 'वेदोसीति' कहा जाता है। पहला भक्ति मार्ग का अचूक साधन है कि वाणी से ईश्वर का नाम रटो और उस के अर्थ विचारो। यह बीज शनैः शनैः मन में अंकुरित होता हुआ स्वरूप साक्षात्कार के रूप में फूट निकलता है और दूसरा ज्ञान मार्ग कि तू ज्ञान स्वरूप है। ऐसा अभ्यास करना कि मैं सब का जानने वाला हूं ज्ञाता ही मेरा स्वरूप है मैं किसी इन्द्रिय से जाना नहीं जा सकता। तात्पर्य दोनों का एक है कि मन संकल्प विकल्प से रहित हो जाय, तभी सच्चिदानन्द स्वरूप का भान होता है और सब दुःखों का अभाव हो जाता है। यह बात हमारे अनुभव सिद्ध है कि सुषुप्ति में जब मन अपने कारण

में लीन होता है तो दुःखी मनुष्य भी उस समय आनन्द में होता है। महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन में योग का यही लक्षण करते हैं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' १।२ चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है। इस का फल है द्रष्टा की स्वरूप स्थिति वरना दूसरी अवस्था में द्रष्टा वृत्ति के समान रूप वाला होता है। महात्माओं का कथन भी है—

'मिटे जो मन की खट पट। दर्शन होवें झट पट॥'

ज्ञान भी यही है कि सकल दृश्य का अपने को द्रष्टा जानना और अविद्या के कारण अपने आप को जो उल्टा समझता था, उस अविद्या की निवृत्ति से अपने यथार्थ स्वरूप का भान होना— 'अहं ब्रह्मास्मि' योग और ज्ञान का जहां तक तो कोई भेद नहीं किन्तु उपासना में भेद है। योग-भेद उपासना से आरंभ करता है और ज्ञान अभेद, दोनों का प्राप्य स्थान एक ही है। 'सर्वमस्मीत्युपासीत' मैं सब कुछ हूं ऐसा ध्यान करे, छा. २।२२।४ ऐसे ही नाना प्रकार की अहंग्रह उपासनायें शास्त्रों में वर्णित हैं योग में भी कई प्रकार के साधन हैं जिन से समाधि की प्राप्ति होती है और समाधि का निकटतम साधन ध्यान है और ध्यान का तात्पर्य ही अफुरता है और ऐसा ही महर्षि कपल सांख्यदर्शन के कर्ता का मत है 'ध्यानं निर्विषयं मनः'। सा. ६।२५ मन को विषयों से रहित करना ध्यान कहाता है। पुरुष का वास्तविक स्वरूप क्योंकि अकर्ता है, इस लिये जब तक यह चित्त से अपने आप को निखेर कर देख नहीं लेता तब तक इस का भ्रम दूर नहीं होता। ज्ञानी तो शास्त्र वाक्य पर श्रद्धा कर ऐसा मान लेता है कि 'अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः'। सां. ६।५४ अहङ्कार

कर्त्ता है, पुरुष नहीं और उसको यह भी निश्चय है कि 'ज्ञानान्मुक्ति'। सां. ३। २३ ज्ञान से मुक्ति है। पर ऐसी धारणा योग भ्रष्ट की ही यथार्थ रूप से हो सकती है, तोते की नाईं रट लगाने से नहीं। ओंकार की उपासना के विषय में ज्ञानी और योगी दोनों सहमत हैं अन्तर केवल इतना है कि ज्ञानी अभेद से और योगी भेद से चिन्तन करता है। ज्ञानी का पक्ष इस लिये भी प्रबल है कि भेद-वादि को भी अन्तिम अभेद ज्ञान ही होता है। योग दर्शन समाधिवाद सूत्र २४ से २६ तक ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करते हैं, जिन में जीव और ईश्वर का भेद स्पष्ट पाया जाता है। सूत्र २७ 'ओ३म्' ईश्वर का नाम बताता हैं और सूत्र २८ उस 'ओ३म्' का जप और उस के अर्थ का चिन्तन करना (योग मार्ग वाला) और ज्ञानी सूत्र में आये शब्द 'भावनम्' के सीधे और सरल अर्थ 'वैसे ही होने की भावना' करना मानता है। उस का कथन है कि यदि चिन्तन का अभिप्राय होता तो दर्शनकार चिन्तनम का क्यों न प्रयोग करता। सूत्र २९ इस उपासना का फल इस प्रकार बताता है। 'ततः प्रत्यक् चेतनादिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' उस से जीवात्मा की प्राप्ति (अपने स्वरूप का ज्ञान भी होता है) और विघ्नों का अभाव होता है। इस सूत्र पर व्यास भाष्य

'ये तावदन्तराया व्याधि प्रभृतयस्ते तावदीश्वर प्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूप दर्शनमप्यस्य भवति यथवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलः अनुपसर्गः तथायमपि बुद्धेः प्रतिसवेदी यः पुरुषः इत्येव मधिगच्छति।'

जितने भी व्याधि आदि विघ्न हैं वह ईश्वर प्रणिधान से नहीं होते इस को स्वरूप दर्शन भी होता है, जैसा ईश्वर

पुरुष शुद्ध आनन्द स्वरूप अद्वितीय और क्लेश रहित है वैसा ही यह भी है जो बुद्धि के कारण उलट समझने वाला (जीवात्मा) ऐसे ही (स्वरूप) को प्राप्त होता है। यही व्यास भाष्य, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ १७६ पर दिया है। अब उपाधि को छोड़ जीव ईश्वर के यथार्थ स्वरूप में भेद कैसे सिद्ध हो सकता है और वेद भी ऐसा ही वर्णन करता है। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' यजु० (माध्यन्दिनीय) ४०-१७। जो वह प्राण या सूर्य मण्डल में पूर्ण परमात्मा है वह मैं हूँ। 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' यजु० (काण्व) ४०—१६ जो वह वह पुरुष सत्यब्रह्म वह मैं हूँ। यह तो हुआ उपासकों का वर्णन जिस का उपास्य उपासक का भेद अन्त में मिट जाता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ यजु ४०—६

अर्थ—जो सब भूतों को आत्मा में देखता है और सब भूतों में आत्मा को देखता है,उस से वह नहीं छिपता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ यजु ४०-७

अर्थ— जहां (पहुंच कर सब भूत आत्मा ही हो गया, वहां एकता को देखते हुये विज्ञानी को क्या मोह और क्या शोक है।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ यजु ४०—८॥

अर्थ— वह चमकते हुए शरीर व्रण और नाड़ियों से रहित और पाप से न बीधे हुये शुद्ध को पहुंच गया है, जिस विद्वान अनादि उपदेष्टा सब के घेरने वाले स्वयम्भू ने सदा के लिये ठीक

ठीक अर्थों का विधान किया है (तरतीव दी है)। यह मन्त्र भी अभेद ही दिखाते हैं। ज्ञान मार्ग का पथिक पहले ही से एकता की भावना करता है और जब इस का फल निकलता है तो बात स्पष्ट हो जाती है और वह अपने शवल स्वरूप से शुद्ध को प्राप्त होता है। बाहर जगत में शवल के दर्शन करना है और बुद्धि रूपी गुफा में शुद्ध के, फिर भेद भाव कहां। ज्ञानी विचार का आलम्बन करता है, मूर्ख उस की हंसी उड़ाते हैं कि मक्खी की टांग तो बना नहीं सकता और भावना करता है अहम ब्रह्म की। तनिक विचारें तो पता चलता है कि भात पके हुये चावलों को कहते हैं परन्तु पाचक अनपके चावलों के लिये भी भात का ही प्रयोग करते हैं, पूछने पर यही कहता है कि भात बना रहा हूँ। ऐसे ही कच्ची सामग्री का नाम रसोई बताता है। ऐसे ही हंसी उड़ाने के स्थान में उस की भावना को इस रूप में समझ लें तो हानि की कौनसी बात है? ज्ञान मार्ग पर तो वही चलता है जो जन्म जन्मान्तरों से कर्म और उपासना द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करता आ रहा है, 'सर्व मिति वासुदेवः सः महात्मा सुदुर्लभः' भगवत् गीता। यह सिद्धि तो अन्तिम जन्म में हुआ करती है जिस के पीछे आवागमन ही मिट जाता है। यदि अद्वैत समझाना चाहो तो इतना ही काफी है कि स्वयम्भु शब्द का प्रयोग केवल परमात्मा के लिये देखा गया है, प्रकृति और जीव की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता होती तो उन के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता, इस के और अन्य पर्यायवाचक शब्द के अभाव में उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता मानी नहीं जा सकती। जीव रूप से अबोध बालक और बुद्धिमान वृद्ध एक जैसे हैं पर बालक अपने में उन

कार्यों के करने की सामर्थ्य न देखता हुआ जो वह वृद्ध के किये कामों में देखता है, अपने आप को वैसा नहीं जानता। समय उसकी इस भूल को ठीक किया करता है। जीव मरण धर्मा नहीं पर इसका निश्चय तो ज्ञानी और योगी को ही होता है। इसी बात को अभेद ज्ञान में भी लागू कर लो। अभ्यास करते जाओ उसका परिणाम रूप फल तुम्हारी सर्व शङ्कायें मिटा देगा। मरण जन्म के चक्कर से छूटने के लिये मन को वश करना ज़रूरी है। मन का कम सङ्कल्प विकल्प है जो मनुष्य जब चाहे इस को अफुर कर सके मानो उसका मन उसके आधीन है। इस को वश करने के कई साधन हैं पर मुख्य तीन ही हैं जैसा कवि का कथन भी है–

मन फुरने से रहित कर, जिस उपाय से होय।
भक्ति चाहे योग से, चाहे ज्ञान से होय॥

ज्ञान मार्ग लक्ष्य को सीधा बीधना सिखाता है। दूसरी श्रेणी का विद्यार्थी भी जानता है कि विजाति पदार्थों का एक जोड़ नहीं हो सकता। एक मन ग्यारह सेर तीन छटांक, दो रुपये नौ आने चार पाई और पांच गज़ दो गिरह एक इञ्च का एक जोड़ कौन कर सकता है? ऐसे ही यदि प्रकृति, जीव और ईश्वर तीन पृथक् सत्तायें हों तो वेद का यह आदेश ठीक नहीं कि एकता का अनुभव करने वाले को मोह और शोक कहां? यदि तीन होते हुये जीव प्रेम रत्त ऐसा अनुभव करता है तो यह उसकी अवस्था अज्ञान की है न कि ज्ञान की। क्योंकि ज्ञान तो वस्तु आधीन होता है। अर्थात् ज्यों का त्यों जानना न कि किसी भी कारण से विपरीत ज्ञान को ज्ञान कहा जा सकता है। अज्ञान का फल मोह शोक की निवृत्ति किसी ने मानी नहीं,

अब या तो वेद झूठा अथवा त्रित्यवाद। ईश्वर सर्वज्ञ है, यदि प्रकृति और जीव भी अनादि अनन्त हों और स्वतन्त्र सत्तायें उस से भिन्न हैं तो उन का अन्त कोई भी नहीं जान सकता और न ही उन का अन्त ही हो सकता है और विजाति होने से वह एकमेक भी नहीं हो सकते पर वेद का कथन है कि प्रलय में प्रकृति और जीव ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। उनका अन्त जाना जाये तो वे अनन्त कैसे और ईश्वर न जान सके तो वह सर्वज्ञ किस प्रकार। अनेक श्रुतियों और युक्तियों से तो सदैकवाद ही सिद्ध होता है। 'वैदिक-धर्म' औन्ध जिला सतारा में 'सदैकवाद' लगभग डेढ वर्ष तक छपता रहा पर किसी भी भेदवादि को उसका प्रतिवाद करने का साहस आज तक नहीं हुआ। झगड़ने की कोई बात नहीं, भगवद्गीता १८ अध्याय में कहा है कि एकता सात्विक ज्ञान का विषय है। राजस ज्ञान हर एक प्राणधारी में जुदा २ चेतन और तामस शरीर को ही आत्मा जानना और मानना है। कोई भी मनुष्य अपने आप को असत (वह नहीं है) नहीं मानता और सत उसे कहते हैं जो अमर, अविनाशी हो और नाम रूप वाली वस्तु का नाश होते हम प्रत्यक्ष में देख ही रहेहैं। देहात्यवादि को छोड़ अन्य तो आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से परे और उनका प्रकाशक मानते हैं। जैसे घर में रहने वाला घर से जुदा होता है वैसे ही आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में व्यापक होता हुआ उन से भिन्न है और वही जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था त्रिय का साक्षी है। जिस प्रकार जीवात्मा शरीर में रहता हुआ देखा नहीं जाता ऐसे ही परमात्मा विश्व

में व्यापक होता हुआ दिखाई नहीं देता। उस के होने में यही युक्ति है कि यदि वह न हो तो संसार नियम में बन्धा नहीं रह सकता, सूर्य उदय हो या न हो। जैसे जीव से त्यागा हुआ शरीर नियम रहित होकर गलने सड़ने लग जाता है, और देह में कार्य करने का सिलसिला टूट जाता है, परमात्मा के न होने से यही कुछ सर्व संसार में होना चाहिये था। अपने को अथवा ईश्वर को जानने के लिये यह जरूरी है कि 'अस्ति' अर्थात् है इस बात पर विश्वास करना ही होगा। भक्ति और ज्ञान कोई भी साधन अपनाओ दोनों इस बात पर सहमत हैं कि ईश्वर और जीव दोनों चेतन स्वरूप हैं, स्वभाव दोनों का पवित्र अविनाशी और धार्मिकता आदि है, यह बात सत्यार्थप्रकाश पृष्ट २०७ में भी मानी गई है, आश्चर्य तो इस बात का है कि जीव अपने स्वरूप को भुला हुआ क्यों है? ईश्वर में तो भूल कोई मानता नहीं, फिर जीव तो वास्तव में ईश्वर से भिन्न नहीं, इसमें भी भूल होनी नहीं चाहिये। दृष्टान्त द्वारा इस बात को इस प्रकार समझ सकते हैं कि पांच दश घड़ों में जल भरा हुआ है, सूर्य हर एक घट में प्रतिबिम्बित हो रहा है पर जल के गंदला होने से सूर्य भी गंदला और जल के हिलने से हिलता हुआ प्रतीत होता है परन्तु सूर्य में ये दोनों बातें नहीं। सूर्य से मेघ बनते हैं और सूर्य को ढांप लेते हैं। पर मेघों के पीछे सूर्य जूं का तूं प्रकाश स्वरूप विद्यमान है। अपनी माया से जगत रचना करके ईश्वर सूर्य की नाईं मेघ के स्थान में माया से ढका हुआ है। जभी यह आवर्ण दूर होता है तो भूल का कोई चिह्न नहीं मिलता। ज्ञान मार्ग का जिज्ञासु पहले ही से अविद्या की निवृत्ति का यत्न करता है क्योंकि अन्य चार

क्लेशों, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु का भय) की उत्पत्ति की भूमि यही है। अनित्य, अपवित्र दुःख और अनात्मा में नित्य, पवित्र, सुख और आत्म बुद्धि करना अविद्या कहलाती है। इस धारणा की शंका करना कि मैं शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, निर्विकार और नित्य चेतन हूँ। ऐसे जिज्ञासु को कुमार्ग-गामी कहने वाला कोई शास्त्र अनभिज्ञ ही हो सकता है क्योंकि ऐसा साधक तो दुःख की जड़ देह अध्यास को मिटाने पर तुला हुआ है। आत्मा से भिन्न सभी अनित्य, दुःख और जड़ रूप है। ज्ञान मार्ग ही नहीं योगदर्शन भी ऐसा ही बताता है।

स्व स्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः। यो. द. २—२३

स्वशक्ति और स्वामीशक्ति के स्वरूप के साक्षात् करने का हेतु संयोग है। 'तस्य हेतुरविद्या। यो. द. २—२४ उस संयोग का कारण अविद्या है। विद्वान तो वही है जिस के अविद्या आदि पांच क्लेश मिट गये हों, वह विद्वान नहीं जो शब्दार्थ का अन्वय मात्र संस्कृत पढ़ कर सत्य भाषण पक्षपात रहित न्याय का आचरण रूप धर्म नहीं करता। विद्वान का ऐसा ही लक्षण स्वामी दयानन्द जी ने यजु. ४०—१२ के भाष्य के भावार्थ में लिखा है। शास्त्रों की तोता रट लगाने के स्थान में यदि जिज्ञासु किसी विद्वान से शास्त्र रहस्य समझने का यत्न करे तो वह बहुत लाभदायक हुआ करता है। कहा भी है —

करिये ज्ञानी का संग। भूल भ्रम होय भंग॥

समुद्र का खारी जल मेघ द्वारा पृथिवी पर मीठा हो कर बरसता है, ऐसे ही संस्कारी जीवों को छोड़ अन्य मनुष्यों को

किसी तत्त्ववेत्ता गुरू की शरण लेनी चाहिये ऐसा ही शास्त्रों का आदेश है।

आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्टं प्रापयतीति। छ॰ ४।९।३ आचार्य से ही जानी हुई विद्या असली भलाई तक पहुँचाती है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। मु॰ १। २। १२॥ उस ब्रह्म के जानने के लिये वह समिधा हाथ में लेकर उस गुरू की ही ओर जाये, जो वेद का जानने वाला और ब्रह्म में निष्ठा वाला है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वेता॰ ६।२३

जिसकी परमात्मा में परम भक्ति है और जैसी परमात्मा में है, वैसी गुरू में है, उस महात्मा को ये कहे हुये विषय प्रकाशित होते हैं। स्वामी दयानन्द जी भी यजु॰ ४०।१२ के भावार्थ में लिखते हैं 'जो चेतन ब्रह्म तथा विद्वान् का आत्मा है वह उपासना के योग्य है और संस्कृत भाष्य में तो 'उपासनीयं सेवनीयं च' ऐसा लिखा है। इस से भी स्पष्ट हो गया कि विद्वान् का आत्मा और ब्रह्म एक है दो नहीं। गुरुडम (Gurudom) की रट लगाने वाले महात्माओं के निकट तक नहीं फटकते और चाहते हैं ब्रह्म ज्ञान जो केवल पुस्तक ज्ञान से प्राप्त नहीं हो सकता। पुस्तक ज्ञान भी उन ही को लाभदायक होता है जो उनकी शिक्षा का अनुकरण करते हैं। 'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम'। केन॰ ४।८ उस (उपनिषद् = ब्रह्मविद्या) के तप, दम और कर्म यह पाओं अर्थात् बुनयाद हैं, वेद सारे अंग हैं और सत्य घर है। शीत उष्ण, स्तुति निन्दा, हानि लाभ, जय पराजय, मान अपमान,

सुख दुःख आदि द्वन्दों को सहारना तप कहलाता है। इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना दम कहा जाता है, वेदोक्त अग्नि-होत्रादि को कर्म कहते हैं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये इन साधनों की ज़रूरत है और वह रहेगी वहां जहां सत्य हो।

सत् बराबर पुण्य नहीं, झूठ बराबर पाप।
जां हृदय सत् है, तां प्रकटे प्रभु आप॥

यदि हम केवल सत्य को अपनालें तब परमात्मा की माया का भेद जान सकते हैं और माया-पति को भी। बातों से तो यह सन्देह भी नहीं मिट सकता कि आसानी से न पिसने वाला चमकदार सफेद बहुमूल्य हीरा और उस के विपरीत सहज से पिसने वाला काला कौड़ियों के मोल बिकने वाला कोयला, दोनों एक ही कारबन के भिन्न २ रूप हैं। और कि लाल, गुलाबी, हरा, पीला, नीला इत्यादि कई रङ्ग कोयले से बनाये जाते हैं। विज्ञानिक इस रहस्य को जानता है, उसके कथन पर विश्वास करो वरना स्वय साईंस और कैमिस्टरी पढ़ कर लेबोरेटरी (रसायनशाला) में परीक्षा करके निश्चय रूपी ज्ञान की प्राप्ति करा। वेदज्ञ ऋषि मुनियों के वचनों पर श्रद्धा करो अथवा आप योग, भक्ति या ज्ञान द्वारा परमात्मा का साक्षात करो, तब यही अनुभव होगा कि अनादि अनन्त तत्व एक ही है न कि दो तीन। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर ईश्वर विषय में कैसे विश्वास किया जाये जब कि तिमिर रोग से आवृत आँख एक के स्थान में दो चन्द्र देखती है। और आरोग्यचक्षु भी आकाश को कटाह की नाईं और चन्द्र को उसके असली आकार से

अति छोटा देखता है। नाव अथवा रेल के चलने से किनारे के खड़े वृक्ष दौड़ते दिखाई देते हैं। ईश्वर शब्द प्रमाण अथवा साक्षात्कार का विषय है। वेद में तो ढूंढने से भी नहीं मिलेगा कि निश्चय ही तीन अनादि अनन्त सत्ताएं हैं और एक अद्वितीय ब्रह्म के विषय में तो पहले ही बता चुका हूं कि निश्चय सत एक ही है और नान. मानने वाले को बार २ मौत के मूँह में जाना पड़ता है। वेद ने एकत्व ज्ञान का लाभदायक और नानात्व को हानि कारक बताया है। यदि इस के विपरीत वेद से कोइ सिद्ध करसके तब तो बुद्धिमान् त्रित्ववाद की ओर ध्यान भी दें। ऐसा होने से रहा फिर त्रित्ववाद वैदिक सिद्धान्त कैसे ? विज्ञान भी एक तत्व पर पहुँच रहा है, वह दिन दूर नहीं जब फिर से अद्वैत्य वाद का डंका सकल संसार में बजेगा और मन मानी कल्पना करने वालों को पछताना पड़ेगा। मैं तो समझ चुका हूँ कि अद्वैतवाद ही सुख और शान्ति मूलक सिद्धान्त है।

स. प्र. पृष्ठ २५२ 'मुक्ति सदा नहीं रहती।' यह बात स्वामी जी के अपने लेख के विरुद्ध है, देखो प्रथम सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मुक्ति विषय पृष्ठ १८९—१९७ तक जहां एक भी ऐसा प्रमाण नहीं दिया जिस से मुक्ति से लोटना सिद्ध हो किन्तु मुक्ति को सदा के लिये माना है और सदा, नित्य, सर्वदा और सदैव आदि पर्यायवाचक शब्द हैं। यदि इन शब्दों का ऐसा अर्थ मान लें कभी होना कभी न होना अथवा किसी नियत समय तक होना तो ईश्वर को भी इसी प्रकार का नित्य मानना होगा। अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से तो मुक्ति किसी आचार्य ने मानी नहीं, विद्या अर्थात् यथार्थ

ज्ञान से मोक्ष माना है। ऐसा ही स प्र. पृष्ठ २४४ पर लिखा है। कर्मजन्य फल अनित्य होता है मुक्ति कर्मजन्य नहीं, फिर अनित्य कैसे ? आर्यसमाजी विद्वानों का भी इस विषय पर एक मत नहीं है। स्वामी हरि प्रसाद मुक्ति को नित्य मानता है। देखो वेदान्त-दर्शन ४-४-२२ पर उस का भाष्य।

स. प्र. पृष्ठ २५९— 'जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है।' विद्वान इस बात पर कब विश्वास करेगा जब कि वह जानता है कि यह कथन शास्त्र अनुकूल नहीं।

'संस्कार साक्षात् करणात् पूर्व जाति ज्ञानम्।' योग-दर्शन ३—१८

सस्कारों के साक्षात करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। जैसे अपने संस्कारों के साक्षात करने से अपने पूर्व जन्म का ज्ञान होता है, वैसे ही दूसरे के संस्कारों के साक्षात करने से दूसरे के पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। (देखो व्यास, वाचस्पति आदि भाष्य)। सत्यार्थप्रकाश के ऐसे वैदिक ज्ञान से तो विज्ञानिक ही अच्छा जो अपनी सामर्थ्य को तुच्छ तो नहीं मानता। स्वामी दयानन्द जी ने कंवलनैन जी से कहा, शरीर का कुछ भरोसा नहीं, न जाने किस वक्त छूट जाये और मैं इस काम के लिए दोबारा भी जन्म लूंगा और इस समय जो मेरे विरोधी हुये हैं वे सब शान्त हो जायेंगे, आर्यसमाजों की उन्नति से भी बड़ी भारी सहायता मिलेगी, मैं उस समय वेद का शेष भाष्य कर दूंगा।' यह उन बातों मे से एक है जो स्वामी दयानन्द जी ने अन्त समय कहीं थीं और जो महाशय लक्ष्मण जी ने अपने बनाये जीवन चरित्र पृष्ठ ९०४—९०५ पर

लिखी हैं। प्रश्न होता है कि स्वामी जी ने अगामी जन्म के विषय में कैसे जान लिया कि भारत में ही जन्म लेंगे और आर्यसमाज के अधूरे कार्य को पूर्ण करेंगे। न जानें वह कब प्रकट हों, थे तो सत-संकल्प ही निराश होने की कोई बात नहीं। भय इतना ही है कि सत्यार्थप्रकाश का लेख अशुद्ध हो जायगा क्योंकि ऐसी बातें जीव नहीं जान सकता।

स. प्र. दशम समुल्लास में माँस को अभक्ष कहा है परन्तु प्रथम स. प्र. में माँस भक्षण का समर्थन है और वेद भाष्य भी इस की पुष्टि करता है, हम किस को वैदिक-सिद्धांत मानें? उदाहरणाथ देखिये यजु० २१—६० दयानन्दभाष्य "(सरस्वत्यै) वाणी के लिये (मेषेण मेढा से (अक्षन) भोग करें (उपयोग लें)' पूरा मन्त्र भाष्य देना उचित नहीं समझा, पाठक स्वयं देख सकते हैं और भी कई मन्त्र इस विषय में भाष्य में मिलते हैं और माँस भोजी उन मन्त्रों को शास्त्रार्थों में उपस्थित किया करते हैं। प्रश्न तो केवल इतना है कि मेढ़े की पूजा तो आर्यसमाज मानता नहीं फिर वाणी के लिये मेढ़े का किस प्रकार इस्तेमाल करें (गूंगे, थथले अथवा धीरे बोलने वाले के लिये प्रार्थना करनी चाहिये कि हे मेढ़ा देवता! इस मनुष्य की वाणी को ठीक कर दो या......।

दूसरा- 'शूद्र के पात्र तथा उस के घर का पका हुआ अन्न आपत्ति काल के विना न खावें, शूद्र आर्यों के घर में जब रसोई बनावे, तब मुख बांध के बनावे। (प्रश्न) कहो जी मनुष्य मात्र के हाथ की की हुई रसोई के खाने में क्या दोष है? क्योंकि ब्राह्मण से ले कर चांडाल पर्यन्त के शरीर हाड़, मांस, चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है वैसा ही

चांडाल आदि के । पुनः मनुष्य मात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है ? (उत्तर) दोष है, क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोष रहित रज, वीर्य उत्पन्न होता है वैसा चांडाल और चांडालनी के शरीर में नहीं। क्योंकि चांडाल का शरीर दुर्गन्ध के प्रमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इस लिये उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चांडालादि नीच भंगी चमार आदि का न खाना। भला जब कोई तुम से पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधु का है वैसा ही अपनी स्त्री का भी है तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्त्रियों के समान वर्तोगे ? तब तुम को संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है वैसे दुर्गंध भी खाया जा सकता है तो क्या मलादि भी खाओगे ? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है ?' हिंसक तथा कुत्तों के पालने वाले चाण्डाल आदि को दूर बसावें।' (दयानन्द भाष्य भावार्थ यजु० ३०-७)। 'भंगी के शरीर में आया वायु दुर्गन्ध युक्त होने से सेवने योग्य नहीं होता।' (दयानन्द भाष्य भावार्थ यजु० ३०-२१)। 'पादरी क्लाक महाशय एक दिन स्वामी जी के पास आकर कहने लगा– आओ हम और आप मिल कर एक दिन एक ही मेज़ पर भोजन करें। द० ऐसा करने से क्या लाभ ? पादरी महाशय बोले—इकट्ठा खाने से परस्पर प्रीति बढ़ जायगी, इस पर स्वामी जी ने कहा शीया और सुन्नी मुसलमान एक ही बर्तन में खाते हैं। रूसी और अंग्रेज़ इसी प्रकार आप और रोमनकैथलिक ईसाई एक

ही मेज पर जीम लेते हैं। परन्तु ये सब जानते हैं कि परस्पर कितना वैर विरोध है। एक दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है ?' यह सुन पादरी महाशय अवाक हो गये।' दयानन्दप्रकाश पृष्ठ २९९) 'इस बात का जब पता कृपा राम जी को लगा तो वे भोजन का थाल ले कर श्री सेवा में पहुंचे। उस समय घोष महाशय का भी थाल आ गया था। कृपा राम जी ने निवेदन किया, भगवन! घोष महाशय के घर में भङ्गिन पाचिका है, इस लिये उस का भोजन पीछे लौटा दीजिये! निज जन की रूखी सूखी चपाती स्वीकार कीजिये। महाराज ने उसी समय घोष महाशय का थाल लौटा दिया। और कृपा राम जी का अन्न ग्रहण किया।' (दयानन्दप्रकाश पृष्ठ ३६)। इन बातों पर टीका टिपणी की कोई आवश्यकता नहीं। समाजी महाशय स्वयं छूत-छात, सहभोज और तर्क की प्रधानता पर ध्यान दें और विचारें कि छू मन्त्र से रज वीर्य तुरन्त शुद्ध कैसे हो सकते हैं ? क्या यह वही बात नहीं कि हाथी के दान्त खाने के और दिखाने के और। गुरु वचनों और आचरण का विरोध भले पुरुषों को शोभा नहीं देता, वेद के नाम पर कृश्चियन-संस्कृति के प्रचार का उपालम्भ ऐसी अवस्था में आर्य-समाज पर चरितार्थ हो रहा है।

स. प्र. एकादश समुल्लास पृष्ठ ३०४ 'जो जीव ब्रह्म की एकता जगत मिथ्या शङ्कराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत को स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।' 'वेदान्त दर्शन पर वात्स्यान मुनिकृत भाष्य अथवा बौध्यायन मुनिकृत भाष्य पढ़ने चाहिये। ये न मिलें तो शङ्कराचार्य्य कृत भाष्य

पढ़ना चाहिये। ऐसा प्रथम सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। पहले दो भाष्य तो मिलते नहीं, शङ्कर-भाष्य मिलता है और उस में जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध की है और जैसे पहले कह चुका हूं वेद भी इसी बात की पुष्टि करता है। विस्तार-भय से अधिक न कहता हुआ यही पर्याप्त है कि स्वामी दयानन्द जी पर तो यह बात घट भी सकती है क्योंकि उन्हों ने स्वयं मुसलमानों और ईसाईयों से शास्त्रार्थ करते समय नौ बातें न मानने के विषय मे लिखा भी है जो बातें मैं पहले बता भी चुका हूं और उचित समय पर जीव-ब्रह्म की एकता के विषय में सिद्धांत रूप में प्रमाणिक और युक्तियुक्त कुछ और भी कहा जायेगा।

स. प्र. पृष्ठ ३२३ '(प्रश्न) मूर्तिपूजा कहां से चली ? (उत्तर) जैनियों से। (प्रश्न जैनियों ने कहां से चलाई ? (उत्तर) अपनी मूर्खता से।' पृष्ठ ३३० 'किन्तु मूर्ति-पूजा करते २ ज्ञानी तो कोई न हुआ प्रत्युत सब मूर्तिपूजक अज्ञानी रह कर मनुष्य जन्म व्यर्थ खोके, बहुत से मर गये और जो अब हैं वा होंगे वे भी मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति रूप फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे'। पृष्ठ ३३१ 'तीसरा स्त्री पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई, बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। चौदहवां जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़ बुद्धि हो जाता है। मूर्ति-पूजा के निषेध में यजु. ४०।९ 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते' और 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' यजु ३२।३ स. प्र. पृष्ठ ३२७ पर यह प्रमाण दिये हैं. अन्य जो कुछ भी मूर्तिपूजा के निषेध में लिखा है, उस की आधार-शिला केवल मनोकल्पित तर्क है। दूर जाने की जरूरत नहीं यदि इसी बात को विचारें कि स. प्र. पृष्ठ ५६५

'जिन को तुम बुतपरस्त समझते हो वे भी उन २ मूर्तियों को ईश्वर नहीं समझते किन्तु उनके सामने परमेश्वर की भक्ति करते हैं'। तो फिर मूर्ति-पूजा का निषेध कैसा, मूर्ति द्वारा ईश्वर-भक्ति का नाम ही तो मूर्तिपूजा हो जाता है। स्त्री-पुरुषों का मेला तो सप्ताहिक, दैनिक, वार्षिक और कन्या-विद्यालाओं, गुरुकुलों के उत्सवों पर भी होता ही है, उनको बन्द क्यों नहीं करते। आप के मेलों से वही दोष उत्पन्न क्यों न होंगे जिनके होने की मन्दिरों में सम्भावना बताते हो। स. प्र. पृष्ठ १९६ 'मन को नाभि प्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवें' इनमें से भी तो कोई स्थान चेतन नहीं, मन को जड़ शरीर के उपरोक्त अंगों में स्थिर करने से आत्मा तुम्हारी युक्ति अनुसार हाड़, मांस रुधिर और बाल रूप क्यों नहीं बनेगा ? उस परमेश्वर की कोई प्रतिमा=मूर्ति नहीं, ऐसा क्यों नहीं मानते कि उस के तुल्य कोई नहीं क्योंकि शास्त्र अनुसार तो परमार्थ में दूसरी वस्तु है ही कोई नहीं और जो कुछ दिखाई देता है उसी के रूप अथवा मूर्तियां हैं और उन्हीं को ब्रह्म मान उपासना करने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जिस विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं उनमें से कुछ उपस्थित करता हूँ 'अंगुष्ठ-मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' कठ २।४।१२ श्वेता. उप. ३।१३ में हृदय का परिमाण अंगुष्ठमात्र बताया है। मनुष्य का हृदय परमात्मा की उपलब्धि का स्थान है इस लिये परमात्मा को यहां अंगुष्ठमात्र कहा है। ऐसे ही वह कौन सी वस्तु है जिस के भीतर भगवान् विराजमान नहीं

और कोई कारण नहीं हो सकता कि जहां भी खोजा जाय प्राप्ति न हो। वस्त्र का होना सूत पर निर्भर है सूत के बिना वस्त्र कहां ? ऐसे ही जगत का अधिष्ठान प्रभु वह कौन सा वस्तु है जहां न हो। उनकी सत्ता और चेतनता से तो सब कुछ सत्तावान और चेतन हो रहा है। मृत्तिका के घट आदि को पकड़ने से हम मृतिका को ही तो पकड़ रहे हैं। फिर संसार में वह वस्तु ही कौनसी है जिस में भगवान् विद्यमान न हों। पृथ्वी का कोई स्थल नहीं जिसके नीचे जल न हो। मरु भूमि में भी अवश्य निकलेगा, फिर मूर्ति द्वारा उपासना करने से भगवान् का साक्षात अवश्यमेव होगा। बृहदा. उप. ५।७।१ में भी परमात्मा को हृदय के अंदर धान व जौ की नाईं (छोटा सा) बताया है। ऐसा ही छा. ३।१४।३ में भी कहा है। 'सिमाक के चावल से भी छोटा है और पृथ्वी अन्तरिक्ष, द्यौ और इन सब लोकों से वड़ा है, है हृदय के अंदर'। 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत', छा. ३।१८।१ मन ब्रह्म है, यह उपासना करे। 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः', छा. ३।१९।१ सूर्य ब्रह्म है यह आदेश है। 'अन्ये मनुष्येभ्यः इति' छा. ४।९।२ बैल, अग्नि हंस, मुद्गु, (पानी में डुबकी लगाने वाला पक्षी विशेष) से ब्रह्म-विद्या का उपदेश पाकर जब सत्यकाम आचार्य के घर पहुँचा तो आचार्य ने कहा, सोम्य तुम ब्रह्म-वेत्ता की तरह चमक रहे हो, किस ने तुझे शिक्षा दी है ? उस ने उत्तर दिया, 'मनुष्यों से अन्यों ने अर्थात् मनुष्यों से नहीं,' तब आचार्य ने उसे वही विद्या सिखलाई जो बैल आदि ने उसे बताई थी और कहा कि इस में कुछ छोड़ा नहीं गया, (यह विद्या पूर्ण है, हां कुछ छोड़ा नहीं गया)। तनिक विचारिये तुम्हारे मत में जड़ अग्नि और ब्रह्म-विद्या की शिक्षा फिर

मूर्ति-पूजा का निषेध कैसे? ऐसा ही उपकोसल को अग्नियों ने शिक्षा दी। देखो छा. ४।१४।२

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ गीता ४। २४

अर्थ— अन्नादिक भी ब्रह्म है, हवि अर्थात् हवन करने योग्य हव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्म रूप कर्ता के द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है, इस लिये ब्रह्म रूप कर्म में समाधिस्थ हुये उस पुरुष द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है। नाम, वाणी, मन, सङ्कल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण आदि जो सभी जड़ हैं उन को ब्रह्म के तौर पर उपासना लिखा है और इन से भिन्न २ लाभ भी बताये हैं जैसे वह जो आशा को ब्रह्म के तौर पर उपासता है। आशा के द्वारा उस की सारी कामनाएं परिपूर्ण होती हैं, उस की प्रार्थनाएं खाली नहीं जाती हैं, जहां तक आशा की पहुंच है वहां तक इस के लिये कोई रोक नहीं होती, जो आशा को ब्रह्म के तौर पर उपासता है। प्राण को ब्रह्म के तौर पर उपासने वाला अतिवादी होता है और वस्तुतः अतिवादी वह है जो सत्य ब्रह्मा को सब से बढ़ कर कहता है, ऐसा नारद के प्रति सनत्कुमार का उपदेश है जो छा. प्रपाठक ७ में पूर्णतया देख सकते हो। क्या इस से मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं होता? मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिये ऐसा तो वेद में कोई भी मन्त्र नहीं मिलता और यजु० ४०।९ का जो भाष्य मूर्ति-पूजा के खण्डन में किया है, वह तो वेद विरुद्ध होने से माननीय नहीं क्योंकि—

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।
यजु० ३१ । १८

अर्थ— परमात्मा को जाने विना मुक्ति का कोई और मार्ग नहीं। इस लिये यजु० ४० । ९ का अर्थ हिरण्यगर्भ की उपासना और प्रकृतिलय ठीक है जोकि प्राचीन आचार्यों ने किया है। और कार्य-कारण प्रकृति के ज्ञान से तो मुक्ति किसी भी आचार्य ने नहीं मानी। हां, ब्रह्म को ही प्रकृति योनि, व्यास जी ने भी वेदान्त-दर्शन में माना है और हिरण्यगर्भ को कार्य-ब्रह्म कहा है। रही बात यह कि मूर्तिपूजा से कोई भी ज्ञानी नहीं हुआ, सो यह बात भी ठीक नहीं, परमहंस रामकृष्ण काली देवी की और स्वामी रामतीर्थ जी कृष्ण-भक्ति से ज्ञानी हुये, इन बातों को कौन झुठला सकता है। महाभारत में लिखा है कि द्रोणाचार्य की मूर्ति बना एकलव्य भील ने धनुर्वेद सीखा, यह बात भी झूठी नहीं कह सकते। वाल्मीकीय रामायण के उत्तर-काण्ड सर्ग ३१ । ४२ में रावण के जांबुनटमय लिंग का वर्णन है। '(जीविकार्येचापण्ये)' ५ । ३ । ६६ इस सूत्र में पाणिनी ने और इस के भाष्य में पतञ्जलि मुनि ने भी प्रतिमा पूजन माना है। भक्तमाल में तो अनेक गाथायें हैं जो मूर्ति-पूजा द्वारा भगवद् प्राप्ति बताती हैं। मीराबाई की कृष्णभक्ति किस से भूली है। महात्मा गान्धी को रामभक्त कौन नहीं मानता, जिन का नित्य प्रिय भजन ही था— 'रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम'। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में देवता को विद्वान् मनुष्य मान कर उस का पूजन, उसकी छाया को उलङ्घन न करना, उस के मन्दिर को न तोड़ना, ऐसे ऐसे सारे शास्त्र वाक्यों का मूर्तिपूजा के विरोद्ध में तात्पर्य

निकालना कदापि ठीक नहीं क्योंकि देवता योनि विशेष है न कि विद्वान् मनुष्य, इस बात की पुष्टि निरुक्त का देवता काण्ड, शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र करते है। निरुक्त में वर्णन है कि देवता एक ही समय नाना रूप धारण कर लेता है, आप ही रथ, रथ के घोड़े और सवार बन सकता है, मनुष्य में ऐसी सामर्थ्य कहां ? मनुष्य जो युवा हो, पर नेक युवक हो और (वेद) पढ़ा हुआ हो। बड़ा फुर्तीला, बड़ा दृढ़ और बड़ा बलवान् हो। यह सारी पृथ्वी धन की भरी हुई उस की हो, वह एक मानुष आनन्द (की चोटी) है। ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हों, वह एक मनुष्य गन्धर्व का आनन्द है। इसी तारतम्ता से एक का सौ आनन्द, अगले का एक आनन्द है और यह सिलसला इस प्रकार है —

(१) मनुष्य (२) मनुष्य गन्धर्व (और श्रोत्रय) (३) देवगन्धर्व (४) पितर (५) अजानज देव (६) कर्म देव (७) देव (८) इन्द्र (९) बृहस्पति (१०) प्रजापति (११) ब्रह्मा। तैत्रि उप २। ८ यह विषय लगभग ऐसा ही शतपथ ब्राह्मण १४। ७। १। ३१ और काण्व शाखा की बृहदारण्य उप ४। ३। ३२ में भी आया है। स० प्र० पृष्ठ १०० 'विद्वांसो हि देव:' यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है—जो विद्वान हैं उन्हीं को देव कहते हैं। पर पूरी श्रुति इस प्रकार है जिसका सत्यार्थप्रकाश के बनानें वाले ने सिर और पाओं काट कर जनता को अन्धेरे में धकेलने का प्रयत्न किया है।

'उशिजो वह्नितमानिति। विद्वांसो हि देवा स्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति

शथपथ कां ३ अध्याय ६ । ३ । १० । यह श्रुति शथपथ ने यजु ६ । ७ । 'उपावीरस्युप' इस मन्त्र पर लिखी है ।

अर्थ—बुद्धिमान यजमान को स्वर्ग में पहुँचाने वाले देवताओं में श्रेष्ठ देवता बुद्धिमान हैं इसके ऊपर श्रुति कहती है कि देवता जन्म से ही विद्वान होते हैं । इस कारण से ही देवताओं को बुद्धिमान और वह्नितम कहा गया । श्रुति स्पष्ट कहती है कि समस्त देवता स्वभाव-सिद्ध बुद्धिमान होते हैं । वेदान्त-दर्शन अध्याय पहला पाद तीसरा सूत्र ३० । ३१ । और ३२ देवताओं को कर्म निषेध और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का अधिकार स्वभाव से ही विद्वान होने से ही बताता है ।

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । छा. ३ । ६ । १ देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देखकर ही तृप्त होते हैं । अब केवल विद्वान मनुष्य को ही देवता मानना तो सिद्ध नहीं होता क्योंकि मनुष्य का तो जीवन ही खाने पीने पर निर्भर है । जब विद्वान मनुष्य देवता न ठैहरा तो फिर देव मन्दिर को विद्वान मनुष्य का घर कैसे माना जाय । रामायण और महाभारत में विवाह और राज्य अभिषेक से पहले देव मन्दिरों में जाने का विधान मिलता है, इससे मूर्ति पूजा प्राचीन काल से चली आ रही है और जिस की पुष्टि में कई और प्रमाण दिये जा सकते हैं । विस्तारभय से थोड़ा सा दिग्दर्शन कराया जाता है ।

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि । नमोस्तु दैव्याय प्रस्ताय । अथर्व १६।२।६ शालगराम के आगे यह प्रार्थना मन्त्र है ।

अर्थ—तू ऋषियों द्वारा पूजनीय पाषाण है । तुझ देव स्वरूप

पाषाण को नमस्कार है । (शालग्राम की प्रतिमा में विष्णु बुद्धि से पूजा करने का विधान है ।)

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः ।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २२ ।
अस्तंयते नमोस्तमेष्यते नमोस्तमिताय नमः ।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २३ अथर्व १७ । १ । १

अर्थ—उदय होते हुये सूर्य को प्रणाम है, उदय हुये हुये को प्रणाम है, उदय होने वाले सूर्य को प्रणाम है, तीनों अवस्थाओं में क्रम से विराज, स्वराज और सम्राज संज्ञा धारण करने वाले सूर्य को प्रणाम है ।२२। अस्त हुये, अस्त होने वाले अस्त होते हुए सूर्य को प्रणाम है । तीनों दिशाओं में विराज, स्वराज सम्राज संज्ञा पाने वाले सूर्य को प्रणाम है । २३ । नमः शब्द के अर्थ दण्ड देना, अन्न देना, और प्रणाम करना है । महाशय जी पाषाण और सूर्य को न अन्न दे सकते हो न दण्ड और तुम्हारे मत में सूर्य जड़ है, इसको प्रणाम करना भी नहीं बनता, पाषाण के विषय में तो कहना क्या है । इन वैदिक मन्त्रों के और अर्थ भी नहीं हो सकते । आप लोगों को खेंचातानी से शालग्राम के अर्थ मनुष्य कर लेने का भी स्वभाव है ताकि आप का मनोरथ पूरा हो जाये । और उपासना आदि के लिये तो आप हर एक शब्द का अर्थ ईश्वर ही किया करते हैं पर यहां आपको दाल नहीं गलेगी क्योंकि ईश्वर में उदय अस्त आप बनाने से रहे । अब तो मूर्ति पूजा को वैदिक मान लो ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ गीता ९ । २६॥

अर्थ—पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से अर्पण करता है उस प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र आदि मैं प्रीति सहित खाता हूँ। यजु० ४० । १२ के दयानन्द भाष्य के भावार्थ में जो विद्वान के आत्मा की उपासना और सेवा करनी लिखी है, वह भी तो जड़ शरीर के द्वारा ही बनेगी, फिर निराकार का पूजन उपाधि के बिना हो ही कैसे सकता है ? इसलिये मूर्ति द्वारा ईश्वर पूजन ही सिद्ध है न कि मृतिका आदि का। 'अतस्मिन तस्य बुद्धि' को ही उपासना कहते हैं जैसे शालग्राम की प्रतिमा में विष्णु बुद्धि और सूर्यादि में ब्रह्म बुद्धि करके ध्यान करना जैसे वृह. उ. ६–२ खण्ड ९, १०. ११, १२, १३ में द्यौ, मेघ, लोक, पुरुष और स्त्री में अग्नि बुद्धि करने से पञ्चाग्नि विद्या समझाई गई है ऐसे ही उपासना में भी कल्पना करनी पड़ती है। आज भी जब किसी नदी, तालाब अथवा कूप आदि के जल की परीक्षा करनी होती है, तो उस में से थोड़ा सा जल किसी पात्र में लेकर ही ऐसा किया जाता है और उस परीक्षा के आधार पर सब जल के विशेषण ज्ञात हो जाते हैं। ईश्वर तो सर्व व्यापक है। उस के साक्षात अर्थ किसी परिछिन्न वस्तु में ही उपासना बन सकती है। जंगल के वृक्षों में व्यापक अग्नि भी तो परिछिन्न रूप में प्रकट हुये विना भाजन पाक और शीत निवारण नहीं कर सकती। यद्यपि अग्नि काष्ट में व्यापक है तो उस की व्यापकता से अग्नि के करने योग्य किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। समान रूप से व्यापक को विशेष रूप से प्रकट किये विना व्यापकता का निश्चय होना ही

अति कठिन है । समान रूप से कोई भी वस्तु जानी नहीं गई आज तक किसी ने भी नगर, नदी, पर्वत और स्वर्ण आदि नहीं देखा, जब देखा होगा तो अमृतसर नगर, व्यास नदी, शिमला पहाड़ और डली, रैणी, पासा और भूषणों के रूप में सोना । नर्वदेशर और सालिग्राम पाषाण होते हुये क्यों पूज्य हैं और हिमाचल पर्वत क्यों नहीं ? इस को यूं समझो कि पत्थर की कूंडी, नमक, मरच रगड़ने के लिये और चक्की आटा आदि पीसने में उपयोगी हैं हिमाचल नहीं । करंसी नोट से हम वस्तुयें खरीद कर आनन्द का उपभोग करते हैं पर वह कोरा काग़ज़ जिस पर नोट छापे जाते हैं, वह हमारे किसी काम का नहीं । नोट का मूल्य और आदर तो राज्य की मोहर के कारण है काग़ज़ से नहीं और विना काग़ज़ नोट छपे भी कैसे, ऐसे ही वेद मन्त्रों की छाप लगने से मूर्ति केवल पाषाण नहीं, किन्तु ईश्वर साक्षात का साधन और भक्त को मनो वांछित मनोरथों की प्राप्ति का उपाय देखी गई हैं, जैसा कि इतिहास बता रहा है । मनुष्य उपासनार्थ व्यापक ईश्वर को अपने हृदय में यदि परिछिन्न न मानता हुआ सर्व व्यापक की ही पूजा कर सकता है तो मूर्ति द्वारा सर्व व्यापक का पूजन भी बन सकता है । मूर्ति में परिछिन्नता के लिए जो भी युक्ति और तर्क उठाया जा सकता है वही हृदय पर भी लागू होगा । ईश्वर एक होता हुआ जब अनेक ज्ञानियों और योगियों के हृदयों में साक्षात्कार हो कर अनेक नहीं बनता तो भिन्न भिन्न मूर्तियों में उस के एक होने में आक्षेप क्यों ?

'यथाभिमतध्यानाद्वा' । योग. १ । ३९ व्यास भाष्य— 'यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत' । तत्र लब्ध स्थिति कमन्यत्रापि स्थितिपदं लभेत इति' ।

अर्थ— जो इच्छा के अनुकूल हो उस ही का ध्यान करे। उस में स्थिर होने से दूसरे स्थल में भी स्थिरभाव को प्राप्त होता है। मनुष्य नाना रुचि हैं, इस लिये जिस में जिस का चित्त लगे उसी में लगावे और ऐसा ही 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'। योग. ३।१ में कहा है— चित्त का नाभिचक्र आदि अथवा बाहर किसी स्थान या विषय में बाँधना (जकड़ना) धारणा है। इस से भी मूर्तिपूजा की पुष्टि होती है। फिर भगवान् राम, कृष्ण आदिकों के ध्यान से मन स्थिर क्यों न होगा जबकि योगदर्शन भी बताता है 'वीतरागविषयं वा चित्तम' योग. १।३७ अथवा वीत राग पुरुष को विषय करने वाला चित्त मन की स्थिति को बाँधता है। ज्यों ही मन स्थिर हुआ त्यों ही एकाग्रता प्राप्त होकर सबीज समाधी होने लगती है, जो तारतम्यता से निर्बीज का मूल बन जाती है और यही कैवल्य है जहां दुई का गन्ध तक नहीं, इसी को स्वरूप स्थिति अथवा पुरुष का साक्षात्कार कहते हैं। और पुरुष से परे कुछ नहीं ऐसा श्रुतियां वर्णन करती हैं। यदि सर्वाङ्ग मूर्तिपूजा का निषेध ही होता तो 'मूर्ति निर्माणाय तां वल्मीकवपां परिगृह्णाति'। शतपथ. ११।१।२।१० मूर्ति निर्माणाय वराहविहतां मृदं परिगृह्णाति'। शतपथ. ११।१।२।११ इन वचनों का क्या अर्थ होगा। बाट बनाने के लिये तो पत्थर, लोहा, पीतल, तांबा आदि बहुत धातें हैं। सर्प की वल्मी और सूअर की ग़ार की मिट्टी की क्या आवश्यकता है, यह वचन तो देव-प्रतिमा बनाने के विषय में ही सार्थिक हो सकते हैं। देवता योनि-विशेष न होते तो योग. द. २।३१ के भाष्य में व्यास जी यह न लिखते कि 'देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति'। देवता ब्राह्मण के लिये हिंसा करूंगा अन्यथा नहीं। कालीदेवी के निमित्त पशुवली आज भी दी जाती है।

जिस प्रकार गणित विद्या के ऐसे प्रश्नों का उत्तर कल्पना किये बिना बनता ही नहीं वैसे ही किसी अवलम्बन बिना ईश्वर पूजा भी नहीं बनती।

(प्रश्न) जब मैं घर से निकला मेरे पास कुछ रुपये थे, बाज़ार में मैं ने उस रकम के आधे से बीस रुपये अधिक खर्च लिये, जब बाकी रुपयों की गणना की तो मेरे पास उस रकम की तिहाई से चार रुपये कमती थे, बताओ कुल कितने रुपये थे ?

(उत्तर कुल छयानवें रुपये थे। यह ठीक उत्तर और अत्तर कल्पना की तुलना किये बिना आ ही नहीं सकता। किसी ने अज्ञात रकम के लिये क, किसी ने द भिन्न भिन्न कल्पना की और ठीक उत्तर सभी का छयानवें ही आया और अब अनाड़ी भी समझ सका कि $\frac{९६}{२}+२० = ६८, \frac{९६}{२}-४ = २८,$ $६८+२८=९६$। किसी भी अवलम्बन से जब देव साक्षात हो जाता है तो मत-भेद मिट जाता है, बातों से नहीं। 'एतदालम्बन श्रेष्ठ मेतदालम्बनं परम्'। कठ० १।२।१७ (ओं, यह सब से श्रेष्ठ आलम्बन (सहारा) है, यह सब से ऊँचा सहारा है। श्रुति ने जब सब से श्रेष्ठ आलम्बन कहा तो मानना पड़ा कि अन्य कोई श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ट अवलम्बनों का भी शास्त्रों में वर्णन होगा, वरना परम शब्द का प्रयोग ही अनर्थक ठहरेगा जो श्रुति में पढ़ा ही न जाता। इस कारण मूर्ति को भी ईश्वर पूजा का एक आसरा मान लेने से आकाश तो नहीं गिर पड़ेगा। ओं की आ मात्रा भी तो स्थूल जगत पर ही लागू होती है फिर स्थूल अवलम्बन का निषेध कैसे ? 'श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं

प्रपद्ये'। छा० ८।१३।१ में श्याम से शवल को प्राप्त होता हूं। शवल से श्याम को प्राप्त होता हूँ। पर और अपर ब्रह्म को श्याम और शवल नामों से वर्णन किया है। श्याम काला वर्ण और शवल, चितकबरा। ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप मन, वाणी से परे है वह अज्ञेय है, उस पर अन्धेरा है, इस लिये वह श्याम है। और शवल के धर्म सापेक्ष है (बाहर के पदार्थों की अपेक्षा से है) इस लिये उस का यह स्वरूप दोरंगा कहा है। ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप निराकार अथवा अरूप है, पर निराकार आकार से निकलने के कारण भी कह सकते हैं (आकाश निर्गतः = निराकाश)। कल्पित मूर्तिमान पदार्थों से भी तो ऐसा ही परिणाम निकलता है जैसे निराकार आकाश द्वारा दूसरे के कर्ण छिद्र में निराकार शब्द आकार अथवा निराकार पदार्थ को जना देता है। और साकार अक्षर और अंक निराकार शब्दों के ही कल्पित रूप हैं वरना सीधी, तिर्छी, गोल, लम्बी और टेढ़ी रेखा समूह और बिन्दू में आ, क, च आदि अक्षर और ९।८।७ आदि अंक कहां। यह सब तो अपने भीतरी भावों को लेख द्वारा दूसरों पर प्रकट करने के लिये हम ने कल्पना कर रखे हैं। जैसे भिन्न २ अक्षर लिपियां एक जैसा काम देती हैं वैसा ही तात्पर्य मूर्ति-पूजा का समझ लो। इस में हानिकारक बात ही क्या है जबकि वेद भी ईश्वर का शरीर वर्णन करता है—

'या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशी हि॥' श्वेता० ३।५

यही मन्त्र यजुर्वेद वाज० सं० १६।२ और तैत्रि० सं० ४।५।१।१ में भी आया है—

अर्थ— हे रुद्र, हे गिरिशन्त (कैलाश पर्वत में रहने वाले)

तेरा स्वरूप जो शिव है भयानक नहीं, जिस से कोई पाप नहीं प्रकाशता, उस सब से बढ़ कर कल्याणकारी स्वरूप से हमारे ऊपर दृष्टि डालो। वेद के ऐसे मन्त्रों के आधार पर यदि मूर्ति-पूजा की प्रथा सृष्टि के आरम्भ काल से ही पड़ी हो तो इस को कौन वेदज्ञ झुठला सकता है। साकार द्वारा निराकार की प्राप्ति नहीं हो सकती और निराकार का आभास और प्रतिबिम्ब नहीं होता। इन सब बातों का आकाश और शब्द के दृष्टान्तों द्वारा खण्डन कर दिया गया है। यदि मूर्ति-पूजा झूठी ही है तो काग़ज़ पर छपे स्वामी दयानन्द जी के चित्र (फोटो) का अनादर करने पर आर्यसमाजिक पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार को क्षमा मांगने पर बाधित करना अन्याय था। और स्वामी आलासागर पर कराची में आर्यसमाज ने नालिश क्यों की थी? बात तो इतनी थी कि जब आर्यसमाज कराची स्वामी आलासागर के प्रमाणों और युक्तियों को जो उन्होंने मूर्तिपूजा मण्डन विषय उपस्थित कीं, तो आर्यसमाज अपनी प्रथा का उल्लङ्घन न करता हुआ 'मैं न मानूं मैं न मानूं' की रट लगाता रहा, तो स्वामी जी इतना कह कर चले आये कि मैं भी मनवा कर दिखाऊँगा। तब उन्हों ने स्वामी दयानन्द जी का फोटो उठाकर बाज़ारों में घुमना आरम्भ कर दिया, जब तक कि आर्यसमाज ने उन पर स्वामी दयानन्द की तौहीन का मुकद्दमा न कर दिया। स्वामी आलासागर को कैद कराने के लिये आर्यसमाज ने एड़ी चोटी तक जोर लगाया पर स्वामी जी का बाल बींका न हुआ। स्वामी जी का ब्यान था कि जिस दिन का ज़िकर है, स्वामी दयानन्द जी तो कराची में थे ही नहीं और न जीवित ही हैं, मैं ने उनकी हत्तक कैसे की?

जब आर्यसमाजी वकील ने फोटो का ज़िकर किया, तब स्वामी जी ने फ़ोटो दिखा कर पूछा कि क्या तुम इस फ़ोटो को स्वामी दयानन्द मानते हो ? स्वीकार कौन करता, मुकद्दमा ख़ारज। स्वामी आलासागर ने मूर्ति-पूजा का इस प्रकार मण्डन किया और इस बात को एक छोटे से ट्रैक्ट में छपवा दिया, जो खेमराज श्री कृष्णदास वैङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से मिलता है। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, स्वामी दयानन्द जी का पं० ताराचरण तर्करत्न के साथ हुगली (कलकत्ता) में मूर्तिपूजा के विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। दोनों पक्षों ने अपनी २ विजय के ट्रैक्ट छपवा दिये। स्वामी दयानन्द जी का यह विज्ञापन-पत्र प्रतिमापूजन विचार के नाम से १८×२२ के आठ पृष्ठ वाले आकार के २८ पृष्ठों पर स्वामी जी ने स्वयं छपवा दिया था। यह विज्ञापन पत्र पं० भगवतदत्त बी. ए. के मुद्रित वि० और पत्र में ५ पृष्ठ पर छपा हुआ है। इस में पृष्ठ ७ पर ऐसा लिखा हुआ है।

तर्करत्न ताराचरण पं०— पातञ्जल सूत्रम (चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगो वितर्कः इति व्यास वचनम्) तर्करत्न के हाथ में पुस्तक भी थी। उस को देखा तब भी मिथ्या ही उन्हें लिखा क्योंकि योगशास्त्र पढ़ा होय तब उस शास्त्र को जान सकता है। तर्करत्न ने पढ़ा तो था नहीं। इस्से उन्ने अशुद्ध लिखा। जो पढ़ा भया होता है सो ऐसा भ्रष्ट कभी नहीं लिखता। देखना चाहिये कि ऐसा पातञ्जल शास्त्र में सूत्र ही नहीं है किन्तु ऐसा सूत्र तो है' विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी इति। सो इस सूत्र के व्याख्यान में नासिकाग्रे धारयत इत्यादिक वहां लिखा है। यह तो उन ने जाना भी नहीं। इस से उनका लिखना भ्रष्ट है। फिर लिखते हैं कि इति व्यासवचनम्।

इस प्रकार का वचन व्यास जी ने कहीं योग शास्त्र की व्याख्या में नहीं लिखा। इस से यह भी उनका वचन भ्रष्ट ही है'। पृष्ट १०— 'ताराचरण जी की बुद्धि विद्या के बिना बहुत छोटी है। जो प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही भूल जाती है। यह आप का दोष नहीं किन्तु आप की बुद्धि का दोष है। और आप के काम, क्रोध, अविद्या, लोभ, मोह, भय विषयासक्त्यादिक दोषों का दोष है'। छोटा मुंह बड़ी बात मैं तो इतना ही कहता हूं कि ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका उपासना विषय में पृष्ठ १७२ पर लिखा है 'इस की रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यास मुनि जी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं'। ऐसी प्रतिज्ञा करने पर भी पहले पाद के सूत्र २ से १२ तक स्वामी जी ने सूत्रों पर अपना भाष्य लिखा है जो केवल उन की प्रतिज्ञा की हानि ही नहीं किन्तु व्यासमुनि के भाष्य के प्रतिकूल भी है और आगे जो सूत्र दिये हैं उनका व्यास भाष्य लिखा है। सूत्र १। २३ से जब व्यास भाष्य दिया तो हो नहीं सकता कि सूत्र १। १७ के व्यास भाष्य को स्वामी जी जानते न हों तो फिर न मालूम यह कैसे कह दिया कि तर्करत्न का लिखा व्यास वचन, व्यास जी ने योगशास्त्र की व्याख्या में कहीं नहीं लिखा जबकि 'वितर्क विचाराऽनन्दाऽस्मताऽनुगमात् सम्प्रज्ञातः' योग १। १७ के व्यास भाष्य में ज्यों का त्यों मिलता है और इस से स्थूल विषय देहादि पर मन को ठहराना सिद्ध ही है और ऐसा होने पर मूर्तिपूजा का समर्थक भी। कोई माने या न माने मन पहले पहल रूपवान स्थूल पदार्थ पर ही शीघ्र और सहज टिक जाता है और सकल संसार मूर्त पदार्थों के प्रेम में ही जकड़ा हुआ है। अमूर्त से हित करने वाला कोई ढूँढो तो सही। प्रभु-भक्ति भी सेवा

करना ही है क्योंकि भजन 'भज सेवायाम धातु' से ही बनता है और अमूर्त की सेवा किसी प्रकार हो नहीं सकती है। सेवा तो देहधारी की ही बनेगी, इस लिये उन महापुरुषों का अनुकरण करो जिन्हों ने जनता रूप जनार्दन के कष्ट काटने और उन को सुख पहुँचाने में निष्काम भाव से अपने जीवन बता दिये। उन की मूर्तियों के ध्यान से शुभ भावना बनेगी और निष्कामकर्म करने से तुम्हारा अन्तःकरण भी शुद्ध होकर मनुष्य जन्म के अन्तिम पद प्राप्ति के योग्य बन जायेगा। मन शुद्ध और स्थिर करने का यह सुगम उपाय है जिस के बिना ईश्वर पूजा ऐसी ही है जैसे सीढ़ियों बिना कोठे पर चढ़ने का यत्न करना। आत्मा के शुद्धि-स्वरूप का वर्णन तो ब्रह्मवादी ऐसा मानते हैं, कि न अन्दर की ओर प्रज्ञा वाला, न बाहर की ओर प्रज्ञा वाला, न दोनों ओर की प्रज्ञा वाला, न प्रज्ञाधन, न जानने वाला, न न जानने वाला, वह अदृष्ट है, उसको व्यवहार में नहीं ला सकते, उसको पकड़ नहीं सकते, उसका कोई चिन्ह नहीं, वह चिन्ता में नहीं आ सकता, उसको बतला नहीं सकते, वह आत्मा है केवल यही प्रतीति उसमें सारहै, वहां प्रपञ्च का झगड़ा नहीं, वह शान्त है, शिव है और अद्वैत है, वह आत्मा है, वह जानने योग्य है।' माण्डूक्य उप. ७। ब्रह्म के तीन शाबलरूप जानकर फिर जब ब्रह्मदर्शी और आगे बढ़ता है तभी इस तुरीय के दर्शन करता है। पहली तीन अवस्थाओं में उसने ब्रह्म को स्थूल सूक्ष्म जगत में और फिर कारण जगत में अपनी अनन्त शक्ति से काम करते हुए देखा था। अब इस अवस्था में प्रकृति के सम्बन्ध को छोड़कर केवल परमात्मा के दर्शन करता है। यही उसका केवल स्वरूप है, यहां मन और वाणी की पहुँच नहीं। क्योंकि

उसका यह स्वरूप उन धर्मों से परे है, जो उसके विशिष्ट रूप में प्रतीत होते थे। इसलिये तुरीय का वर्णन सर्वत्र निषेधमुख (नेति नेति)से होता है, न कि विधिमुख से। अब आर्यसमाज बताए तो सही कि वह सर्वसाधारण को निराकार की पूजा किस भान्ति सिखा सकता है। उपासना तो ब्रह्म के साकार स्वरूप की ही बनेगी और वह भी किसी न किसी मूर्तिमान पदार्थ के आधार पर और यही तो कारण है कि संसार के सभी धर्मों ने किसी न किसी ढंग से मूर्ति-पूजा को अपना रक्खा है। नास्तिक भी अपने नेताओं के बुत्त खड़े करते देखे जाते हैं। अथवा गाथाओं में उन शरीर धारियों के ही गुणवाद गाते रहते हैं। मन को स्थिर करने के लिए साकार पूजा ही करनी होगी और यही मूर्ति द्वारा ईश्वर की पूजा है। वह चाहे माता पिता के रूप में अथवा गुरु के ध्यान से या भगवान् के विभूति सत्व सूर्य आदि से की जाय। रेखागणित विद्या में बिन्दू का लक्षण करते हैं जिसकी लम्बाई चौड़ाई न हो, पर यूं ही बिन्दु बनाया जाता है तो उस में दोनों बातें आ जाती हैं, बिन्दू से रेखा बनती है और रेखाओं से दोकोण, त्रिकोण, चकोण आदि, ऐसे ही निराकार ब्रह्म को समझाने के लिये कल्पित नाम रूपों के द्वारा ही उस अदृश्य को जनाने का यत्न करना मूर्ति-पूजा से ही सिद्ध हो सकता है।

स. प्र. पृष्ठ ३४४ 'जो जल स्थलमय हैं वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते क्योंकि " जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि " मनुष्य जिन करके दुःखों से तरे उनका नाम तीर्थ है। जल स्थल तारने वाले नहीं किन्तु डुबा कर मारने वाले हैं।' अब सुनिए वेद और वेदज्ञ ऋषि क्या कहते हैं। 'उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ यजु २६।१५ पर्वतों के

निकट और नदियों के मेल के स्थान में (बैठकर) ध्यान करने से मनुष्य ज्ञानी होता है। 'सर्व भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः छा.८।१५ तीर्थों के सिवाये सब प्राणियों को पीड़ा न दे। योगदर्शन सूत्र २।३१। के व्यासभाष्य में ऐसा लिखा है 'नैव देशावच्छिन्नान न तीर्थे हनिष्यामीति।' तीर्थ स्थान में अहिंसा न करूंगा। यह अहिंसा देश की हद में है। यदि जल और स्थलमय तीर्थ मारने वाले हैं तो तीर्थों की अन्य स्थानों से विशेषता क्यों? तीर्थों में देव-दर्शन और महात्माओं का मेल मनुष्य-जन्म की सफलता के लिये उपयोगी ही है न कि हानिकारक। प्राकृत आकर्षक दृष्य तीर्थ रटन करने वालों को ही प्राप्त होते हैं जिन से भगवान् की लीला मन को मोहितकर प्रभुभक्ति की ओर प्रेरती है और घर से कुछ समय के लिये बाहर रहने से मोह निवृत्ति में भी सहायता मिलती है और धन व्यय करने से कुछ उदारता भी आती है और लोभ भी घटता है। इस से अभ्यास और वैराग्य की परपाटी की बुनयाद पड़ कर बार बार तीर्थ-रटन से चित्त योग के योग्य भी बन जाता है। तीर्थ-रटन में लाभ ही लाभ है हानि कुछ नहीं। कभी उत्तर काशी की ओर जाकर तो देखो फिर पता चलेगा कि मसूरी आदि पर्वतों से वहां का वातावरण कितना विशेष लाभदायक है। मेरे ज्ञान में तो मनुष्यमात्र ने किसी न किसी स्थान विशेष को अपनाया हुआ है जिस की यात्रा करना वह अपना धर्म माने बैठा है। आर्यसमाज भी इस बात का परिचय दे चुका है जब कि उस ने स्वामी दयानन्द की शताब्दि मनाने के लिये मथुरा को चुना था और स्वामी वृजानन्द की कुटिया की धूली को आर्यसमाजी अपने सिरों और मस्तकों पर चढ़ाते देखे गये। रही बात

तीर्थवासियों के आचार की, काली भेड़ें हर जगह पाई जाती हैं, इससे हमें क्या प्रयोजन। तुम दुराचारियों को मत मुंह लगाओ, पाखण्डियों की पूजा के लिये कोई भी तुम्हें मजबूर नहीं कर सकता। तीर्थ पुण्यभूमि होती है और किसी न किसी शिक्षाप्रद इतिहासिक घटना से सम्बन्ध रखता है और प्रायः देखा गया है कि तीर्थ-स्थान चित्त की एकाग्रता में बड़े सहायक होते हैं क्योंकि वह तपस्वियों. ज्ञानियों. कर्मकाण्डियों और योगियों के निवास - स्थान होने और रह चुकने से उन के तपोबल से प्रभावित हो रहे हैं। मन्दिर, मस्जिद. गिरजा और गुरद्वारा आदि में जाने से यदि कोई लाभ मानते हों तो तीर्थ में ऐसा लाभ क्यों नहीं हो सकता। ईश्वर कैद तो किसी भी स्थान में नहीं है।

स. प्र. पृष्ठ ३४७ '(उत्तर) जो अठारह पुराणों के कर्ता व्यास जी होते तो उन में इतने गपोड़े न होते'। पुराण तो वेदव्यास जी के ही बनाये हुये हैं, इस में कोई सन्देह नहीं क्योंकि योगदर्शन १।१८ के भाष्य में व्यास जी का कथन है—

'तथाचोक्तम् स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्त' और यह वाक्य विष्णु पुराण को छोड़ और कहीं मिलता ही नहीं। यदि विष्णु पुराण को व्यास जी की कृति न भी मानो तो भी इस को व्यास से पहले का बना हुआ मानना होगा और फिर इस के बनाने वाले का नाम बताना भी आर्यसमाज के ही जुम्मे होगा। रही बात गपोड़ों की, यह बात तो आर्यसमाज की प्रसिद्ध ही है कि जो बात उनकी बुद्धि में न जम सके, वह गप्प। टैलीफून, वायरलैस, हवाई जहाजों और विषैली

गसों के आविष्कार से पहले यह लोग पुष्प-विमान, वाणों से सर्पों, अग्नि, जल आदि की वर्षा, सञ्जय का कुरुक्षेत्र से हस्तनापुर में बैठे राजा धृतराष्ट्र से युद्ध का समाचार सुनाने को गपौड़े कहा करते थे। विज्ञान ने इन के मुंह बन्द कर दिये। अब भी यदि किसी कारण रेल, तार, मोटरकार आदि मिट जाये तो आने वाली (भावी) सन्तान पुस्तकों में लिखे इन विज्ञानिक आविष्कारों को गप्पें कहें तो उनको फिर से विज्ञान के अतिरिक्त कौन विश्वास दिला सकेगा। पुराणों में साधारण जनता की नहीं इतिहास की नाईं विख्यात व्यक्तियों के ही चरित्र लिखे हुये हैं और योगी ज्ञानी, तपस्वी की शक्तियों को शास्त्रों से अनभिज्ञ मनुष्य क्या जानें। उनकी दृष्टि में तो वह काम जो साधारण मनुष्य न कर सकें, असम्भव और गप्प है। पर जब अपनी आंखों किसी नटनी को गढ़ा खोद उस में पानी भरवा मोती जुदा और नथ जुदा उस में छोड़ आप गर्दन को पृष्ठ की ओर से छाती तक पानी के गढ़े में डुबो कर नाक में मोती परोई हुई नथ सहित ग्रीवा को बाहर निकालती है तो सभी वाह वाह करते हैं। हम तो पानी से बाहर भी विना हाथों की सहायता से ऐसा कर नहीं सकते, नटनी ने अभ्यास के बल से जो कर दिखाया। जिस किसी ने भी कुछ योग साधना की उस में साधारण जनता से कुछ न कुछ विलक्षणता आ ही जाती है। हमारा आसन तो पृथ्वी से एक इञ्च भी ऊपर नहीं उठ सकता क्योंकि सहारे बिना अधर में ठहरना नहीं हो सकता पर स्वामी दयानन्द जी के विषय में दयानन्द प्रकाश पृष्ठ २३३ अन्त २३४ आरम्भ में लिखा है 'उन्हों ने यह भी देखा— महाराज का आसन धीरे धीरे भूमि से ऊपर उठ कर अधर में

अवलम्बित हो गया'। योग-दर्शन सूत्र ३। ४५ में वर्णित आठ सिद्धियां— [१] अणिमा=सूक्ष्म हो जाना [२] लघिमा=हल्का हो जाना [३] महिमा=बड़ा हो जाना [४] प्राप्ति=पहुंच (हर जगह) [५] प्राकाम्यम्=इच्छा में रोक न होना [६] वशित्व=वश में करना [७] ईशितृत्व=मालिक होना [८] यत्र कामावसायित्व= सत्य सङ्कल्प होना, भी इस बात की साक्षी है कि मनुष्य में योगबल से क्या २ शक्तियां आ जाती हैं, जो कि योगदर्शन के विभूति पाद में वर्णित हैं। हनुमान जी समुद्र फांद गये लङ्का में सूक्ष्म रूप से प्रवेश किया। विलबल और वातापी मेंडा बन जाते थे, जब एक भाई का मांस भक्षण कर लिया जाता तो दूसरे के पुकारने पर वह खाने वाले का पेट फाड़ बाहर आ जाता, फिर दोनों भाई उस मनुष्य शरीर को खा जाते। अगस्त ऋषि ने जब एक का मांस भक्षण किया तो दूसरे के पुकारने पर ऋषि ने उत्तर दिया, तुम ने कई ऋषि खाये हैं, अब तुम्हारा भाई भी सदा के लिये खाया गया है (वाल्मीक रामायण) पूतना राक्षसी ने अपना शरीर छोटा बना बृजांगना के रूप में भगवान् कृष्ण को विष पान कराने का यत्न किया, जब भगवान् ने उस के प्राण ही निकाल दिये तो उसका असली भौतिक शरीर प्रकट हुआ जो बहुत लम्बा चौड़ा था (श्रीमद्भागवत)। ऐसी २ कई घटनाएं पुराणों में लिखी हैं, पर वह कौन सी बात है जो योगिक दृष्टिकोन वाले मनुष्य को अथवा शास्त्र-विश्वासी को गप्प प्रतीत हो। संसार में कोई ऐसा मत-मतान्तर ढूंढो तो सही, जहां ऐसी २ घटनाओं का उस मत के महापुरुषों के जीवन में वर्णन न आया हो, जिस को साधारण जनता असम्भव समझती हो। उद्धरण के लिये

हज़रत ईसा का अन्धों को सुजाखा करना, मुर्दों को जीता करना इत्यादि. हज़रत मूसा के मुहज्ज़ों के विषय में और गुरुनानक देव जी का मक्के को घुमाना, रोटियों को निचोड़ने से लहू निकलना इत्यादि। पुराणों में हर प्रकार की लाभदायक शिक्षा भरी पड़ी है, मन्द भाग श्रद्धा से न पढ़ें तो उन की इच्छा। मनुष्य को गुणग्राही बनना चाहिये इसी में कल्याण है। पुराणों में जो व्यभिचार की बातें बताते हैं. वह ज्यों क्यों नहीं समझ लेते कि सत्यवादी अपने पाप कर्मों को भी छुपाया नहीं करते, यही तो उनका गुण विशेष है। तैत्रे उप. में भी आचार्य ने शिष्य को शिक्षा दी है कि हमारे शुभ गुणों का अनुकरण करना और हमारे दुराचारों का नहीं। इसी दृष्टिकोण से पुराणों का पढ़ना भी लाभप्रद ही होगा न कि हानिकारक।

स. प्र. पृष्ठ ३६५—'क्षुधा आदि से दुःख होता है, दुःख पाप का फल है। इससे भूखे मरना पाप है'। यह वैदिक सिद्धान्त तो नहीं किन्तु ईसाई लोग मृतिक शरीर को ठिकाने लगाने के लिये भी वह समय चुनते हैं जोकि उनकी चाय अथवा भोजन का न हो और दिन में पांच बार खाना उन का नियम सा बन गया है वरना वेद तो उपवास को ईश्वर प्राप्ति का साधन बताता है।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। बृह. उप. ४।४।२२ इस (परमात्मा को) ब्राह्मण वेद पढ़ने से जानना चाहते हैं, तथा यज्ञ से, दान से, तप से और न खाने से।

संजानाना उपसीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः॥

ऋ. १।७२।५ वेदामृत पृष्ठ ३९०— सम्यक ज्ञान धारण करने वाले तेरे पास बैठते हैं। धर्म-पत्नियों के साथ ज्ञानमय

नमस्कारार्ह तुझे नमन करते हैं। मित्र रूप तेरा दर्शन करने के कार्य में तेरे से रक्षित होते हुये मित्रजन अपने शरीर कृश करते हैं।

व्रत रखने से पाचन-शक्ति ठीक रहती है, भूख को सहारने से मनुष्य कुकर्म से अजीविका नहीं करता, दूसरे भूखे के दुःख का अनुभव होता है और भूखों की भूख मिटाने क लिये दया भाव पैदा होता है, मन की चंचलता घट कर संयम में सहायता मिलती है। अन्न के त्रास के समय सहनशीलता से थोड़ा खाकर भी निर्वाह कर सकता है। देश में अन्न का संकट हो तो व्रत उस कमी को पूरा करने का पूरा साधन है। आज यदि इस देश में व्रत की भावना के विरुद्ध प्रचार न हुआ होता तो एक ही चान्द्रायण व्रत हमारे अन्न के सङ्कट की निवृत्ति का अचूक उपाय था। एकादशी का व्रत रखने वाले परिवार आज भी प्रतिमास दो दिन व्रत रख राशन के घटने का इतना दुःख नहीं मानते जितना कि व्रत विरोधी और यही लोग चोर बाजारी को जीवित रखने वाले हैं और इन के लिये ही किसान अपना फालतू सारा अन्न सरकार को नहीं सौंपता क्योंकि इस प्रकार उस को अधिक मूल्य मिलता है। आज धनपतिका ही सब जगह बोल वाला है और यही कारण है कि हर कोई येन केन प्रकार से धनी बनना चाहता है और धन और मान की लालसा ही देशद्रोही उत्पन्न किया करती है। उपवास ईश्वर की निकटता का साधन होने से सदाचार का बीज भी है क्योंकि जिह्वा के रस को त्यागने से काम की उत्पत्ति घटती है। रसना इन्द्रिय का उपस्थ से विशेष सम्बन्ध है और काम का दूसरा नाम भी मनोजा है। मन जब ईश्वर चिन्तन की ओर झुकेगा तो फिर उस मन में

व्यभिचार नहीं रह सकता और सदाचारी से किसी अनर्थ की आशा हो नहीं सकती, इसलिये और नहीं तो अपने स्वास्थ्य के लिये ही उपवास करना सीखो। स० प्र० पृष्ठ ४०२—'(१४) और जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान ईसाईयों के सदृश बन बैठना यह भी व्यर्थ है जब पतलून आदि वस्त्र पहरते हो और 'तमगों' की इच्छा करते हो तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था? अब तो ब्राह्मो-समाज और प्रार्थना-समाज का ही आर्यसमाज में भी प्रायः अनुकरण हो रहा है। मैं ने एक दिन एक आर्यसमाज के मन्त्री को यह कहते हुये सुना कि 'शिखा और सूत्र में रखा ही क्या है, सन्यासी विद्या का चिह्न क्यों त्यागता है और क्या इन के विना अन्य देशों में विद्वानों का अभाव है? मैं ने त्याग दिये तो क्या हुआ'? ऐसा सुन कर मुझे शोक हुआ और ख्याल आया कि बस ऐसे हाथों में वैदिक धर्म की नैया डूबी कि डूबी। जहां विद्वानों के योग्य पदों पर ऐसे सज्जन आरूढ़ हों जो वैदिक-सिद्धान्तों की वर्ण-माला से भी अपरिचित हों। बहू-पक्ष नीति को मानने वालों में विद्या किस गिनती में है। आज तो उन की पूछ है जो धनवान हो अथवा जिस के साथ जन-समूह हो। धन चाहे अनर्थ से इकट्ठा किया हुआ हो और जन चाहे दुराचारी ही क्यों न हों। बहू-पक्ष की ही जय है और यही तो कारण है कि कोई भी धार्मिक अथवा राजनैतिक समाज अपनी जन-संख्या को बढ़ाने में तो लगा हुआ है पर घटने नहीं देता। ऐसी अवस्था में सदाचारी और दुराचारी में भेद वह करे जिस को अपने मान प्रतिष्ठा की जरूरत न हो।

स. प्र. पृष्ठ ६२५ 'चारों वेदो के ब्राह्मण, ६ : पाङ्ग, ६ : उपाङ्ग

चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं उन को परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेद विरुद्ध वचन हैं उन को अप्रमाण करता हूं।' यह तो मनो कल्पित सिद्धान्त है, चार मूल वेद और ११२७ शाखा के विषय में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, इस के विपरीत वेद शाखा रूप है। देखो महा भाष्य पहले आह्निक में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

चत्वारो वेदाः सांगा सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्यु शाखा। सहस्र वर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा वह्वृच्यन्नवधाऽथर्वणो वेदः॥

अर्थ— वेद चार हैं और ६ उन चार वेदों के अङ्ग हैं, उपनिषद वेदों के रहस्य हैं, वेदों में ग्यारह सौ इकत्तीस शाखायें (पुस्तकें) हैं, यजुर्वेद में एक सौ एक शाखा और सामवेद में एक सहस्र शाखा, ऋग्वेद में इक्कीस और अथर्ववेद में नव शाखायें हैं और जिन को आर्य समाज मूल वेद बनाए बैठा है वे भी तो चारों ही शाखा हैं। ऋग्वेद की किताब का नाम साकल शाखा और यजुर्वेद की किताब का नाम माध्यन्दिनी शाखा, सामवेद की कौथुमी और अथर्ववेद की शौनकीय शाखा। पूर्व आचार्यों के इन शाखाओं पर भाष्य मिलते हैं, किसी ने भी इन पर यह नहीं लिखा कि ईश्वर प्रणीत यजुर्वेद किन्तु यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा ऐसा ही लिखा है। वैदिक यन्त्रालय अजमेर में जो यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण छपता है उस पर 'माध्यन्दिनीय शतपथ' ऐसा लिखा जाता है, भाष्य यदि मूल यजुर्वेद का है तो शाखा लिखना व्यर्थ है। प्रथम सत्यार्थ प्रकाश में भी चार मूल वेद का वर्णन नहीं, तैत्रेय, कठ आदि

संहिता ही लिखी है। राजा शिवप्रसाद के प्रश्न 'क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते' का स्वामी दयानन्द जी की ओर से उत्तर 'मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता, किन्तु अन्य सब उपनिषद ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं। 'वे ईश्वरोक्त नहीं हैं'। ईशावास्य उपनिषद जब मूल वेद में मानी गई तो यह आर्य समाज के माने हुए मूल यजुर्वेद में अक्षर अक्षर मिलती क्यों नहीं? यह वेद का व्याख्यान भी सिद्ध नहीं की जा सकती। यह उपनिषद यजुर्वेद की काण्व शाखा की है और इस का ब्राह्मण शतपथ भी जुदा ही है। मन्त्र का ज्यूं का त्यूं लिख देना तो मन्त्र का व्याख्यान नहीं कहा जा सकता और इस उपनिषद में जिन मन्त्रों का पाठ भेद नहीं है वह दोनों शाखाओं में एक जैसे हैं। ईशावास्य उपनिषद यजुर्वेद काण्व शाखा का चालीसवां अध्याय है और बृहदारण्यक उपनिषद इस के ब्राह्मण का चालीसवां अध्याय। स्वामी जी के प्रमाणों के आधार पर ही है इस मनो-कल्पित मन्तव्य का मण्डन नहीं हो सकता। बृहद. उप. २-४-१० में भी लिखा है 'हे (मैत्रेयी) इस बड़ी सत्ता से यह बाहर की ओर सांस लिया गया है जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास पुराण, विद्याएं, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं, इसी के ही यह सांस लिये हुये हैं।' यजु. १५-१४ में (सामनी) सामवेद के दो भागों को (सङ्गत करो) यजु १९-९१ (त्रिधा) मन्त्र ब्राह्मण और कल्प इन तीन प्रकारों से यज्ञ बंधा हुआ है (दयानन्द भाष्य) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। अथर्ववेद ११—४—८—२४ भी पुराण का वेद के साथ ही प्रादुर्भाव बताता है। यदि आर्यसमाज की इस

बात को ही मान लिया जाय कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं और उन्हीं का नाम पुराण है (देखो स० प्र० पृष्ठ ७१) तो भी वह ईश्वरोक्त ही सिद्ध होते हैं। अगर ऐसा न मनें तो जब तक ब्राह्मण ग्रन्थ न बने होंगे, तब तक कोई भी यज्ञ और संस्कार हो नहीं सकता और आज भी संस्कार-विधि बताती है कि संस्कारों में प्रायः ब्राह्मण भाग ही मुख्य है। यह तो ऐसी ही बात है जैसे मनुष्य के ऊपर और निचला दो भाग हैं। ऊपर वाले भाग में ज्ञान-इन्द्रियां और निचले भाग में कर्म-इन्द्रियां, आज्ञा देने वाली ज्ञान-इद्रियां और आज्ञा पालने वाली कर्म इंद्रियां ऐसे ही ब्राह्मण मन्त्रों का नियोजक होने से सपाही की तुलना से कमांडर है। भाग एक जैसे होते हैं. यह नहीं कि मनुष्य के दोनों भाग मनुष्य के अङ्ग न कहायें। एक साईन्स विद्या के दो भाग फिजकस और कैमिस्टरी मिल कर साईन्स कही जाती है। इसी प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहलाते हैं और सभी ऋषि मुनि इस बात पर सहमत हैं। आर्यसमाज ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद इस लिये नहीं मानता क्योंकि उनमें इतिहास है। उस की इसी तर्क के आधार पर तो वेद भी वेद नहीं रहना चाहिये क्योंकि इतिहास इस में भी है जैसे देवापिका, त्वष्टा के पुत्र वृत्तासुर का, विश्वामित्र त्रित ऋषि आदि आदि अनेक इतिहास हैं और इन इतिहासों पर निरुक्त हैं. इस से अधिक इतिहास के होने में और क्या प्रमाण होगा? जबकि इन इतिहासों पर निरुक्त मौजूद है। और पं० राजाराम जी शास्त्री प्रोफैसर डी० ए० वी० कालिज लाहौर ने जो निरुक्त पर भाषा टीका किया है उन्हों ने इतना सुगम कर दिया है कि इन इतिहासों को हिन्दी वाले भी समझ लेते हैं। वैदिक-धर्म के पाठिक जानते हैं

कि श्री दामोदर सात्वलेकर जी भी वेद के सवोध भाष्य में वेद में इतिहास सिद्ध कर रहे हैं। और तो और स्वामी दयानन्द जी अपने वेद - भाष्य में, वेद में इतिहास सिद्ध कर रहे हैं देखो— 'वामदेऽयम' वामदेव ऋषि ने (ऋग्वेद अपना स्वरूप, छन्द यजुर्वेद के मन्त्र, नाम) जाने व पढ़ाये। यजु० १२।४ (दयानन्द भाष्य) (आङ्गिरसः) अङ्गिरा विद्वान् से किया हुआ विद्वान्। यजु० १९।७३ (द० भाष्य) इतिहास के होने से वेद के महत्व पर धब्बा नहीं लगता वरना उत्कर्ष अधिक बढ़ जाता है। विचार यह है कि लौकिक सज्जन मनुष्यों की लेखनी या बाणी इतिहास के पीछे २ चलती है। अर्थात् पहिले घटना होती है और फिर लेखिक उस का वर्णन करते हैं किन्तु सृष्टि के आरम्भ में होने वाले आदि ऋषियों की लेखनी के पीछे २ इतिहास चलता है। वेद या आर्य-ग्रन्थों ने पहले जैसा लिख दिया इतिहास में यह शक्ति नहीं कि उसके विरुद्ध जाय, जैसा लिखा वैसा ही होगा। ज्योतिषी की भविष्य वाणी के पीछे भी नियत समय पर घटना ज्यों की त्यों होती देखी जाती है फिर सर्वज्ञ ऋषि वाक्यों के सत होने में सन्देह कैसा? स० प्र० पृष्ठ ७१ 'चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि मुनि के किये ग्रन्थ हैं इन में जो जो वेद-विरुद्ध प्रतीत हो उस उस को छोड़ देना क्यों वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है, ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतः प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है'। सत्यार्थप्रकाश का लेखिक जो बात कहता है, अनोखी कहता है। उदाहरणार्थ कुछ तो कहा होता कि अमुक २ ब्राह्मण - ग्रन्थ में अमुक २ बात वेद-विरुद्ध है।

आर्यसमाज ने ईश आदि दस उपनिषद को तो प्रमाणिक माना ही है, उन में ही जो २ बातें वेद विरुद्ध हैं, जनता को उनकी सूचना अब भी दे दे।

स्वामी दयानन्द जी और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं और वे परतः प्रमाण हैं लेखबद्ध शास्त्रार्थ हुआ। राजा शिव प्रसाद जी ने सिद्ध किया कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं। इस शास्त्राथ के निर्णायक (G. THIBAUT) जी. थिबोट प्रेन्सिपल क्वीन्स कालज बनारस ने अपनी सम्मति स्वामी जी के विरुद्ध और राजा जी के पक्ष में दी। यह शास्त्रार्थ मुद्रित हुआ २ है। मध्यस्थ मानने की गलती दूसरी वार आर्यसमाज गुजरांवाला ने की जबकि लेखबद्ध शास्त्रार्थ (मृतक श्राद्ध वैदिक है) में इस शास्त्रार्थ के निर्णायक मिस्टर मैंकसमूलर ने आर्यसमाज के विरुद्ध और सनातनधर्म सभा गुजराँवाला के पक्ष में निर्णय दिया। इस के पश्चात् आर्यसमाज ने निर्णायक मानने की गल्ती कभी नहीं की क्योंकि वह जान गया कि उन के माने हुये सिद्धान्त प्रायः वेदानुकूल नहीं और उसका जीवन आधार प्रापेगैंडा है, और वह भी उन की चलाई संस्थाओं के बल बोते पर। अपने चलाये स्कूल, कालिज आदि यदि वह आज बन्द कर दे तो अपनी जीवन की अन्तिम आहुति भी डाल ले। कालिज सैक्शन ने स्कूल, कालिजों द्वारा आर्यसमाज के प्रचार को अपनाया तो दूसरे पक्ष ने गुरुकुलों को। पढ़े लिखे युवकों की आजीविका - अर्थ कालिज सैकशन ने स्कूलों, कालिजों का जाल बिछा दिया, बैंक खोले. विद्यार्थियों को आयुर्वेदिक चिकित्सा, इञ्जनियरी और नाना

प्रकार की शिल्पविद्या सिखाई। जनता की रुचि देख गुरुकुल सैकशन भी कालिज सैकशन का अनुकरण करने लगा। फिर क्या था, अन्य मत आलम्बी भी अपने २ स्कूल आदि खोलने लगे क्योंकि दूसरे मत वाले अपने कालिज के विद्यार्थी को विशेषता देते थे और उस पर भी यह ध्यान रखा जाता था कि वह उनका मत अनुयाई भी हो। सरकारी महकमों में भी वश चलने पर ऐसा ही पक्षपात होने लगा, जिस ने भारतवासियों में फूट को और भी सहायता दी और देश का बटवारा भी इसी फूट का एक परिणाम है। प्रकरण से थोड़ा सा बाहर जाने पर मैं क्षमा मांगता हूं और फिर से उसी विषय पर आता हूँ कि यदि ऋषि मुनि भी वेद के समझने में भूले थे तो फिर साधारण भाष्यों पर क्यों विश्वास किया जाय, और फिर ऐसे भाष्य पर जिस की आधार शिला ही तर्क हो। शास्त्र-विरुद्ध तर्क तो हिन्दु-युवकों को भी नास्तिकता की ओर ले जा रही है। कुछ दिन का ज़िकर है कि इसी सत्सङ्ग में एक युवक ने ऐसी शङ्कायें की थीं—

(१) यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तो मन्त्रों के देवता, छन्द, स्वर और ऋषि भी ईश्वर ने बनाये होंगे, परन्तु वेद में एक भी मन्त्र नहीं मिलता जिस में स्पष्टतया उन का वर्णन हो। जितने देवता आदि मन्त्रों पर लिखे हुये हैं, वह वेद से दिखाये नहीं जा सकते, इस से वेद में किसी न किसी अंश में मनुष्य का हस्ताक्षेप मानना पड़ेगा क्योंकि वेद के सभी ऋषि आदि सृष्टि में नहीं हुये।

(२) वेद को ईश्वरोक्त मानकर यह भी मानना होगा कि उसने मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के नाम पहले बताये और वह प्रकट पीछे हुये।

(३) यदि अध्याय एक एक विषय का वर्णन नहीं करता, एक एक मन्त्र का उसके देवता के अनुसार जुदा २ अर्थ ही ठीक है तो फिर ईश्वर को, वेद को मण्डल, सूक्त, काण्ड और अध्याय आदि में विभक्त करने का क्या प्रयोजन और उन में मन्त्र संख्या की न्यून अधिकता क्यों ?

(४) यदि वेद के ऋषियों कवषैलूष और एतरैयमहीदास को शुद्र ही मान लिया जाय तो चारों वर्ण भी जन्म से आदि सृष्टि से मानने होंगे। और उस को शूद्र नहीं मानना होगा जिस को पढ़ने पढ़ाने से भी कुछ न आये।

(५) यदि इन चार पुस्तकों को ही वेद मानना है जो मेरे हाथ में हैं तब यज्ञोपवीत छयानवें चप्पे सूत का क्यों बनाते हो ? मैं ने तो पढ़ा है कि वेद की एक लाख श्रुतियां हैं। अस्सी सहस्र कर्म काण्ड की, सोलह हज़ार उपासना और चार सहस्र ज्ञान काण्ड की। इस लिए सन्यासी इसे उतार देता है और द्विजों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तक इसे धारण करना आवश्यक है।

(६) वेद की सभी शाखाएं उपलब्ध नहीं होतीं फिर अधूरे वेद को मानने से क्या लाभ ?

(७) स्वर भंग होने से अथवा अशुद्ध उच्चारण से वेद मन्त्र हानि-कारक होता है। जो गाना नहीं जानता वह वेद से अपनी हानि आप क्यों करे ?

यह युवक और भी बहुत कुछ कहना चाहता था पर पं० अभय राम जी ने उसे कहा कि वह अपने प्रश्नों को छपवा दे। कोई न कोई वेद हितैषी उस का उत्तर छपवा देगा। इस पर युवक बोला, 'एक बात और कहने की आज्ञा दो फिर चुप चाप चला जाऊंगा और भविष्य के लिए आप के सत्सङ्ग में सुनने आऊंगा और बोलने नहीं। आज्ञा दे दी गई और युवक बोला—ऋषियों में भी वेद और उस के सिद्धान्तों के विषय में विरोध है, हम सत असत का निर्णय कैसे करें ? जैसे व्यास आदिक वेद को नित्य मानते हैं और सिद्धों में विख्यात कपल महाराज वेद को अनित्य बताते हैं जैसा कि—

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्व श्रुते। सांख्य द० ५—४५

वेदों का कार्यत्व सुनने से वे नित्य नहीं। तस्माद्यज्ञात्सर्व-हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे, यजु० ३१।९ ऋषि दयानन्द जी मुक्ति से लौटना मानते हैं और कपिल जी 'न मुक्तस्य पुनर्बन्ध योगोऽप्यनावृत्ति श्रुते' सांख्य० द० ६–१७। मुक्त को फिर बन्ध का योग नहीं, क्योंकि अनावृति सुनते हैं। न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते। छां० ८—१५। अनावृत्ति शब्दादन.वृत्ति शब्दात्। वेदान्त, ४–४–३३। यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम। भगवद्गीता। इतना कह वह चुप हो गया।

ब्राह्मण ग्रन्थों में तो जब कोई वेद विरुद्ध सिद्धान्त दिखलायगा तब देखा जायगा परन्तु मैं बताता हूँ कि आर्यसमाज ने कृश्चियन संस्कृति के अनुकरण में वेद के प्रतिकूल कई सिद्धान्त अपना रखे हैं। जिन का दिग्दर्शन कराता हूँ

(१) ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्परिपाल्येनम्।
अत्येनंबदुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥
अथर्व ६।११।११।२

अवस्था में बड़े को मारने के प्रभाव वाले ज्येष्ठा नक्षत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र, पिता, भाई आदि बड़ों को मारने वाला होता है और हिंसन प्रभाव वाले मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र सारे कुल का संहार करता है। अतः पाप नक्षत्र में उत्पन्न हुये इस कुमार को हे अग्ने ! आप यम के किये हुये मूलोच्छेद रूप कार्य में रक्षित रखिये' (अलग रखिये)। इसको सौ वर्ष के जीवन रूप दीर्घायु के लिये सब देवता पापों के पार पहुँचावें, अर्थात् इस के दुर्लक्षणों को शान्त करें। इस से अगला मन्त्र मूल नक्षत्र में जन्म लेने वाले पुत्र के विषय में है। इन नक्षत्रों में पैदा होने वाले बालक माता, पिता, भ्राता और कुल के लिये नाशकारी होते हैं। इन सब का नाश न हो इसके लिये मूल शान्ति का विधान है। फलित ज्योतिष को झूठ कहने वाले आर्यसमाजी इन वेद - मन्त्रों को विचारें वरना नामकरण संस्कार में स्वयं भी तिथि, नक्षत्र और तिथि और नक्षत्र के देवताओं को घी की आहुतियां देनी छोड़ दें क्योंकि जड़ ग्रह उन का क्या बिगाड़ सकते हैं जबकि नास्तिक का भी कुछ बिगाड़ते हुये ईश्वर को किस ने देखा है। यदि ईश्वर अगामी जन्म में फल देता है तो फिर यह भी मानना होगा कि देवी देवता भी तत्काल फल नहीं दिया करते, उन के निन्दक को भी पापकर्म का फल अगामी जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा। यदि नक्षत्र पुण्य और पाप रूप न हों तो संस्कार - विधि विवाह प्रकरण में 'पुण्ये नक्षत्रे दारानकुर्वीत' यह क्यों लिखा ? यदि सभी दिन एक जैसे हों तो महर्षि वेदव्यास जी योगदर्शन सूत्र २। ३१ के भाष्य में ऐसा क्यों लिखते— 'सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहुनि हनिष्यामीति'।

अर्थ — वही (अहिंसा) काल-सम्बन्धिनी भी होती है चतुर्दशी को या और किसी पुण्य-तिथि में हिंसा न करूँगा। स्वामी दयानन्द जी भी पृष्ठ ४८१ पत्र (४०३) में लिखते हैं। 'परन्तु इन्हीं शोलह रात्रियों में तीनों पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, पौर्णमासी और अमावस्या तिथि आवे तो उस रात्रि में भी ऋतुदान न देना चाहिये'।

(२) आर्यसमाज स्वर्ग और नर्क स्थान विशेष नहीं मानता, इस संसार में सुख स्वर्ग और दुःख का नाम नर्क रखता है। यह बात है वेद - विरुद्ध और आर्यसमाज की मनोकल्पित देखो शास्त्र-प्रमाण—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो य तनूत्यजः।
ये वा सहस्र दक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात ॥

अथर्व कां० १८ सू० २

यही मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। अर्थ — जो संग्राम में लड़ने वाले हैं जो सूरमे शरीर के त्यागने वाले (शहीद) हैं, वह जिन्हों ने कि सहस्रों दक्षिणाएं दी हैं (हे इस लोक से परलोक को जाने वाले तू उनको भी प्राप्त हो। यह मन्त्र संस्कार-विधि अन्तेष्टि संस्कार में भी दिया गया है। न मालूम ईश्वर को केवल न्यायकारी मानने वाला आर्यसमाज ऐसे मृतक प्राणी के लिये जोकि न तो शहीद हुआ है और न ही उस ने दक्षिणाओं वाले यज्ञ किये ऐसी प्रार्थना क्यों करता है ? ज्ञात होता है कि कहने मात्र को यह बात है वरना वह भी उस भगवान् को दयालु समझ कर ही ऐसी वैदिक प्रार्थना करता है। जिस लोक को यज्ञ करने वाले प्राप्त होते हैं उस का वर्णन कठ० १। १। १२ में ऐसा है।

'स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदेत स्वर्गलोके ॥

अर्थ – स्वर्गलोक में कोई भय नहीं, न ही वहां तू है 'हे मृत्यो' और न कोई बुढ़ापे से डरता है। भूख और प्यास दोनों से पार होकर और शोक की पहुँच से परे हुआ स्वर्गलोक में प्रसन्न रहता है। संसार में ऐसा स्वर्ग तो कहीं दिखाई नहीं देता।

'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'।
भगवद्गीता २। ३७

अर्थ— हे अर्जुन! मर कर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीत कर पृथ्वी को भोगेगा। इस से सिद्ध हुआ कि यदि इस लोक के सुख का नाम ही स्वर्ग है तो मरकर इसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। शुभ कर्मों का फल जब स्वर्ग-प्राप्ति है तो पाप कर्म नर्क को सिद्ध करते ही हैं। इस के लिये प्रमाण, 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' यो० द० ३। २६ का व्यास भाष्य, जिस में रौरव आदि सात नर्क स्थानों का भी वर्णन है और वेदान्त दर्शन सूत्र ३। १। ११। १२ में शुभकर्मियों की गति चन्द्रलोक, स्वर्ग बताई है और सूत्र १३। १४ में पापियों की गति नर्क लोक को दिखाई है और सूत्र में 'अपि च सप्त' नरक सात कहे हैं। यो०द० सूत्र ३। २२ के व्यास भाष्य में मृत्यु के निकटवर्ती अरिष्टों में एक अरिष्ट यह भी लिखा है—'तथाधिभौतिकं यमपुरुषान्पश्यति' अधिभौतक अरिष्ट यह है कि यम के दूतों को देखता है। नर्क यम और उसके दूत आर्यसमाज तो मानता नहीं परन्तु उस का स्वीकार किया हुआ पूर्ण वेदज्ञ महर्षि व्यास इनके होने को सिद्ध करता है।

(३) आर्यसमाज परदे को मुसलमानों से लिया हुआ बताता है और वेद परदे की आज्ञा देता है।

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥

ऋ० ८। ३३-१९ वेदामृत पृष्ठ २४०

अर्थ— हे स्त्री, नीचे देख, ऊपर न देख, गम्भीरता से पांव रख कर चल. तेरे अवयव किसी को दिखाई न दें। क्योंकि आत्मा ही स्त्रीरूप से तेरे अन्दर प्रकट हुआ है।

'ये सूर्य्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेवश्वशुराधि'। अथर्व ८।६।२४ अष्टम कांड। जो रोग उत्पादक कीटाणु (Germs) सूर्य से ऐसे छुपे जाते हैं जैसे श्वशुर (पति का पिता) से स्नुषा पुत्रवधु)। कवि कालीदास मुसलमानी राज्य से पहले था और उसके बनाये शकुन्तला आदि नाटकों में अवगुण्ठनवति (घुंघट वाली) शब्दों का प्रयोग परदे की सिद्धि करता है। रामायण में भी परदे का वर्णन है देखो अयोध्या कांड सर्ग ३३ श्लोक ८ और महाभारत भी परदा बताता है, देखो स्त्री पर्व २० अध्याय ८ श्लोक और शल्य पर्व ९। १४

(४) आर्यसमाज अकेली स्त्री जहां चाहे घूमती फिरे, इस के हक में है परन्तु मनु आदि महर्षि उसको ऐसी स्वतन्त्रता नहीं देते और वेद का भी ऐसा ही आदेश है।

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥

वेदामृत पृष्ठ ३५४

अर्थ— भ्रातादि बन्धुरहिता विपथगामिनी युवती स्त्रियों के समान और पतिविद्वेषिणी दुष्टाचारिणी मानस सत्यरहित वाचिक

सत्यरहित मनुष्यगण इस अत्यन्त अगाध शोकादि और रोगादि स्थान को उत्पन्न करते हैं। आशय— जिस हेतु स्त्रियों को बहकाने वाले बहुत पुरुष होते हैं, इस हेतु उन्हें कभी स्वतन्त्र छोड़ना उचित नहीं।

(५) आर्यसमाज पुरुषों के आभूषण धारण करने का विरोधी है। वेद इस की आज्ञा देता है, लाल रङ्ग और स्वर्ण के आभूषणों के धारण करने से आयु की वृद्धि बताता है और आर्यसमाज ऐसे पुरुषों का उपहास करके उन से छुड़ा देता है। 'चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे:' ऋग्वेद १।६४।४ वेदामृत पृष्ठ १६४ शरीर को विचित्र आभूषणों से सुशोभित करते हैं। छाती पर शोभा के लिये भूषणों को लगाते हैं— ये दिव्य तौर शरीर पर आभूषण. छाती पर कण्ठे और कन्धों पर शस्त्र धारण करके अपने विजयशक्ति से यशस्वी होते हैं।

'हिरण्य·हस्तों' यजु० ३४।२६ वेदामृत पृष्ठ १६८ हाथ में स्वर्ण के भूषण धारण करने वाला।

'अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो' ऋग्वेद ५।५४।११ वेदामृत पृष्ठ १७० कन्धों पर शस्त्र हैं, पावों में कड़े आदि हैं।

'नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते—' ऋग्वेद १।३५ वेदामृत २०६ न हिंसक. न मांस-भाजी इस को दबा सकते हैं कि यह देवताओं का पहिला सामर्थ्य है। जो बलवर्धक सुवर्ण धारण करता है, वह जीवों में दीर्घायु करता है।

'परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि।—' अथर्व १।२२ वेदामृत २२४ दीर्घ आयु की प्राप्ति के लिये तुझ को लाल रङ्गों से चारों ओर धारण करता हूँ। जिस से यह निरोग हो जाये, और पीलेपन से रहित हो जाये।

(६) आर्यसमाज भूत-प्रेत आदि को भ्रम बताता है पर वेद में इनका वर्णन है—

येषां पश्चात्प्रतिपदानिः पुरः पार्ष्णी पुरोमुखा। खलजाः शकधूमगा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भ मुष्का अपाशवः। तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतिबोधेन नाशय। अथर्व ८।३।६।१५

अर्थ— जिन राक्षस आदि के पीछे की ओर पैर की अंगुलियें हैं और सामने एड़ियें होती हैं एवं मुख एड़ियों की तरफ होता है ऐसे राक्षसों को और धान्य शोधन देश खल में होने वाले राक्षसों को, मुण्ड रहित राक्षसों को, मुट मुट शब्द करने वाले राक्षसों को, घड़े के समान अंडकोशों वाले राक्षसों को और वायु के समान शीघ्रगामी राक्षसों को हे वेदराशि के स्वामिन् वृहस्पति नामक देव ! आप सरसों के बल से नष्ट करिये। वेद ने भूत को राक्षस के नाम से याद किया है और इस भूत सूक्त में २६ मन्त्र हैं, दृष्टान्त के लिये एक बता दिया। इस प्रकार के मनुष्य संसार में दिखाई देते नहीं और न हों ऐसे गन्धर्व जो किसी प्राणी के भीतर प्रवेश कर जायें और वहां से विद्वान् मनुष्यों जैसी वाणी भी बोलें किन्तु वृह० उप० में लिखा मिलता है। 'तस्यासीद दुहिता गन्धव गृहीता' वृह० ३।३।१ उसकी एक कन्या गन्धर्व के वशीभूत थी। 'गन्धर्व'. कोई अमानुषसत्व अथवा धिषण्य अग्नि ऋत्विग देवता क्योंकि सत्व मात्र को ऐसा विज्ञान नहीं हो सकता (शङ्कराचार्य)। 'तस्यासीद भार्या गन्धर्वगृहीता' । वृह० ३।७।१ उसकी भार्या को गन्धर्व आवेश था। प्रथम सत्यार्थप्रकाश में भी भूतों के होने को माना गया है।

(७) आर्यसमाज मनुष्य का विवाह काल २५ वर्ष में बताता है। यदि ऐसा वैदिक सिद्धान्त होता तो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का विवाह सोहलवें वर्ष न होता, न ही भगवान् कृष्ण छोटी आयु में विवाहित होते। छोटी आयु में विवाह करने के दोष महात्मा गांधी जी के जीवन से दिखाये नहीं जा सकते और महात्मा जी छोटी आयु के विवाह के पक्षपाती थे और उन्हों ने इस में दोषों की तुलना से गुण अधिक बताये हैं। वेद और धर्मशास्त्र के प्रमाण देखने हों तो ऋग्वेद १०। ८५। ४०, अथर्व १४। २। २। ४, मनु० ९। ९४, पराशर स्मृति ७। ६। ७ और ऐत्री आदि स्मृतियां देख लें। विस्तार भय से कहा नहीं।

(८) एक साथ एक पुरुष के दो स्त्रियों के होने को आर्यसमाज वेद-विरुद्ध कहता है परन्तु यह नहीं विचारता कि यजु० ३१। २२ 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे' श्री और लक्ष्मी आप (भगवान्) की दो पत्नियों के तुल्य हैं। इस वैदिक उपमालङ्कार को क्या झूठा मानें जब कि हम महर्षि याज्ञवल्क्य की भी मैत्रयी और कात्यथानी दो स्त्रियों का एक साथ होना बृह० उप० में पढ़ते हैं। अधिक न कहता हुआ इतने पर ही बस करता हूँ कि आर्यसमाज वेद पर क्रिश्चियन संस्कृति की छाप लगाने पर तुला हुआ है और केवल तर्क को कसौटी बना रखा है। पर अपनी शिक्षा के लिये इस को भी नहीं अपनाता क्योंकि स्वयं भी अपने सिद्धान्तों को युक्ति से सिद्ध करके नहीं दिखा सकता। उसकी चाल दोरङ्गी है कहीं शास्त्र प्रमाण को और कहीं युक्ति को प्रधान मान चित्त पुट दोनों मेरी के प्रापैगैण्डे के बल पर ठेकेदार बनना चाहता है और

यही कारण है कि विद्वानों ने इस मत को अपनाया नहीं वरना विद्वान् द्वेषी कम ही हुआ करते हैं। आर्यसमाज की कुछ बातें तर्क द्वारा परख कर देखते हैं।

[१] 'घृतेन सीता मधूना समज्यताम'। यजु० १२।७० खेत के पटीले जिसे किसी २ देश में चौकी कहते हैं जिस से खेत की मिट्टी एक सी की जाती है। इस पटीले पर घी चढ़ाओ, दूध और शक्कर चढ़ाओ तथा पानी चढ़ाओ क्योंकि यह पटीला तुम्हें घी, शहद, दूध, शक्कर देगा (दयानन्द भाष्य) यह बात किसी महाशय जी से पूछ लेना कि पटीला शहद कैसे देगा ?

[२] हे विद्वान् ! जैसे 'त्रिवरुथः' तीन अर्थात् भूमि, भूमि के नीचे और अन्तरिक्ष में जिस के घर है वह (इन्द्र) परमैश्वर्यवान (देव) विद्वान् ! (दयानन्द भाष्य यजु० २१।५५) इन्द्र एक वचन है ऐसा कौन सा विद्वान् है जिसका घर तीन स्थानों पर हो। अन्तरिक्ष में तो उड़ने वाले पक्षी का भी घोंसला नहीं दिखाई देता। जब होगा किसी वृक्ष आदि के आसरे। इन्द्र को योनि विशेष देवता आर्यसमाज मानता नहीं। इन्द्र का अर्थ ईश्वर इस मंत्र में किया नहीं और तर्क से यह अर्थ विद्वान् में घटता नहीं।

[३] (इन्द्र) परमेश्वर्य्युक्त विद्वान् आप (गोमद्भिः) जिन में बहुत चमकती हुई किरणें विद्यमान उन पदार्थों और (गावभिः) गर्जनाओं से गर्जते हुये मेघों के साथ (आ, याहि) आइये। यजु० २६।५ (दयानन्द भाष्य) महाशय जी इन्द्र देवता तो आप जुदा मानते नहीं, ईश्वर ही देवता है, उस में आना बनता नहीं, मनुष्य में ऐसी सामर्थ्य देखी नहीं जाती। वेद ने यह क्या कह दिया तनिक युक्ति द्वारा समझाइये तो सही।

[४] संस्कार-विधि पृष्ठ ६० जात-कर्म-प्रकरण,' जन्मते ही बालक की जीभा पर 'ओ३म्' शहद, घी मिले से सोने की शलाका से लिखना और बालक के कान में 'वेदोसीति' कहना उसको क्या लाभ दे सकता है, शहद तो चाट लेगा अन्य बातों से वह उस समय परिचित होने के योग्य नहीं। संस्कृत और वेद पढ़े बिना आर्यसमाज किसी को विद्वान् मानता ही नहीं, अबोद्ध बालक को सूचित करना कि तू ज्ञानस्वरूप है तर्क से सिद्ध तो करो।

[५] स० वि० पृष्ठ ७२ निष्क्रमण प्रकरण- तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपे— 'अस्मे प्रयन्धि...' ऋ० ३। ३६। १०, 'इन्द्र श्रेष्टानि...' ऋ० २। २१। ६ इस मन्त्र को वाम कान में जप के पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे और मौन करके स्त्री के शिर का स्पर्श करें तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठ के बालक को सूर्य का दर्शन करावे और नम्नलिखित मन्त्र वहां बोले :— जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आ के पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ अञ्जली भर के चन्द्रमा के सन्मुख खड़ी रह के 'ओं यददश्चन्द्रमसि'... मं० ब्राह्मण १। ५। १३ इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति कर के जल को पृथ्वी पर छोड़ देवे तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सन्मुख आ के पति से पुत्र को ले के पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर आ बालक का उत्तर की ओर

शिर दक्षिण की ओर पग रख के खड़ी रहे और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर 'ओं यददश्चन्द्रमसि' इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना कर के जल को पृथ्वी पर छोड़ के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें। इस कवायद से क्या लाभ, यह कवायद कौन से मूल वेद में लिखी है, पृथ्वी पर जल छोड़ने का क्या मतलब और इस संस्कार में ब्राह्मण ग्रन्थ के मन्त्र से प्रार्थना क्यों ? व्याख्यान तो महाशय जी आप के मत में मन्त्र भाग नहीं। जब आप भी मनुष्यकृत ग्रन्थों से ईश्वर के सन्मुख प्रार्थना करते हो तो दूसरों पर आक्षेप क्यों ? ईश्वर तो सर्वज्ञ होने से सभी भाषाओं को जानता ही होगा। जब माता पिता अपने तोतले बालक की भाषा समझ लेते हैं तो ईश्वर अपने पुत्रों की बोली न समझे। इस बात को कौन झुठला सकता है।

[६] सं० वि० पृष्ठ ७६— चूड़ाकर्म - संस्कार 'चार शरावे ले एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भर के वेदी के उत्तर में धर देवे'। ऐसा क्यों करे और उत्तर में ही शरावे क्यों धरे, ऐसी आज्ञा किस वेद में है ? पारास्कर गृ० सूत्रों को वेद माना तभी तो उनको मन्त्र कहा और उनको बोल केशों को भिगोने और काटने की विधि लिखी।

[७] सं० वि० पृष्ठ ८३ उपनयन - संस्कार। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के बालकों का आयुभेद, व्रत में खाने के पदार्थों की भिन्नता किस आधार पर लिखी जबकि मनुष्यमात्र एक जाति है। जाति निर्णय तो गुरुकुल से समावर्तन समय आचार्य ने करना था। शूद्र के बालक का उपनयन क्यों नहीं लिखा, शूद्र संज्ञा तो तब बनती यदि उसको पढ़ने पढ़ाने से भी

कुछ न आता। उपनयन किये बिना वेद आरम्भ कैसे और फिर वैदिक-धर्मी को—

'ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात।

आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

पार० कां० २ के इस सूत्र से यज्ञोपवीत क्यों धारण करना चाहिये, क्या मूल वेद में यज्ञोपवीत धारण करने का कोई मंत्र नहीं। आर्यसमाज के सिद्धान्त अनुसार तो पारस्कर सूत्र सृष्टि के आदि में बने ही नहीं थे। उस समय वेद के कौन से मन्त्र से यज्ञोपवीत धारण किया जाता था। आर्यसमाज को उस वैदिक मन्त्र की खोज करनी चाहिये वरना इस मन्त्र के अर्थ तो युक्ति सिद्ध नहीं। प्रजापति का यज्ञोपवीत संस्कार किस ने किया, सूत कहां से आया था और इस धागे को पहनने से अच्छी आयु, बल और तेज की प्राप्ति कैसे सिद्ध करते हो।

(८) सं० वि० पृ० २४० स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छः मन्त्रों से छः आहुति देकर कांस्यपात्र में उदम्बर, गूलर, पलास के पत्ते, शाद्वल तृण विशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को ले के उन सब वस्तुओं को मिला कर संस्कारविधि में लिखे चार भिन्न २ मन्त्रों द्वारा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर द्वारों के समीप उन को बिखेरे और जल प्रोक्षण भी करे। दही, शहद और घृत जैसे अमृत पदार्थों में गाय का गोबर आदि मिला कर बिखेरने से तो यह क्या अच्छा हो यदि किसी भूखे को खिला दिये जायें जबकि उन को पृथ्वी पर बिखेरने से प्रत्यक्ष में कोई तो लाभ दिखाई नहीं देता और न ही किसी युक्ति से इन के बिखेरने में कोई फायदा बता सकते हैं।

(९) महाशय जी कोई तो संस्कार बताओ जिसमें केवल आप के मूल वेदों द्वारा संस्कार करने की विधि लिखी हो, फिर आप वैदिक धर्मी कैसे और दूसरे पौराणिक क्यों ? तर्क को तो आप के सिद्धान्त भी नहीं सह सकते और यह बात आप मानते नहीं कि धर्म श्रद्धा का विषय है और शास्त्र विरोध तर्क का नहीं। 'नैषा तर्केणमतिरापनेया' कठ० १।२।९ 'तर्का प्रतिष्ठा-नादप्यन्यथा...' वेदान्त २।१।११ तर्क से ब्रह्म-विद्या प्राप्त नहीं होती—तर्क प्रतिष्ठत नहीं। परन्तु—

'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धन्ते स धर्मं वेदनेतरः' ॥ मनु० १२।१०६

अर्थ— ऋषियों के सिद्धान्त और धर्मोपदेश इन को वेदशास्त्र अविरोधी तर्क से जो निर्णय करता है वही जानता है। महाशय जी स्वामी दयानन्द जी यह बात जानते थे कि जो संस्कार पद्धति प्रचलित है उस में कोई दोष नहीं पर आप जैसे बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से यह संस्कार-विधि बनाई गई जैसा कि इस की भूमिका में लिखा है। पहले संस्करण में मन्त्रों का भाषा टीका भी था, जिस के होने से साधारण मनुष्य को भी यह ज्ञान हो जाता था कि छुरे और ओखली मूसल आदि का पूजन करना तथा जूते से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना करना भी आर्यसमाजियों का परम धर्म है। और अन्न-प्राशन संस्कार में बालक को तीत्तर का शोरवा खिलाना भी लिखा था। स्वामी जी की मृत्यु के पश्चात सत्यार्थ-प्रकाश की नाईं संस्कारविधि की भी काया पलट दी गई जिस की सिद्धि के लिये एक ही प्रमाण काफी होगा, विशेष देखना हो तो 'दो खरी खरी बातें' पढ़ लेना।

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धु दुरितात्यग्निः ॥

ऋग्वेद १ । ९९ । १ सं० वि० पृष्ठ २२२ यह मन्त्र स्वामी जी कृत पञ्चमहायज्ञविधि में सन्ध्या के मन्त्रों में नहीं है और इस से आगे मन्त्र पीछे से आगे और आगे से पीछे किये हुये हैं। स्वयं दोनों पुस्तकों की तुलना करके देख सकते हैं। ऐसी अवस्था में दोनों पुस्तकों का बनाने वाला एक को कैसे माना जाय।

(१०) सं० वि० पृष्ठ २४ यदि वर्तमान संस्कारविधि किसी वेदज्ञ की बनाई हुई होती तो वह 'ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इत्यादि तैतरी० प्र० १० अनु ३२ । ३५ के मन्त्रों से सन्ध्या आदि करने से पहले आचमन की विधि कदापि न लिखता क्योंकि इस मन्त्र से तो भोजन समय आचमन करना होता है और 'ओं अमृतोपिधानमसि स्वाहा' से भोजन के पीछे, क्योंकि पहले मन्त्र से अन्न को बिछौना और दूसरे से ओढ़ना देने का विधान है। छान्दोग्य उपनिषद में भी जल को अन्न का वस्त्र कहा गया है। पञ्चमहायज्ञ-विधि में भी आचमन के लिये इन मन्त्रों का प्रयोग नहीं लिखा।

(११) कर्णवेध संस्कार तो कोई करता नहीं और सं० वि० पृष्ठ ३०७ 'केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्त पुरस्तात' शिर के बाल, दाढ़ी, लोम और नाखुन कटवा डाले। अन्त्येष्टि संस्कार में इस आज्ञा का पालन करने वाला तो कोई आर्यसमाजी देखा नहीं जाता। यदि मृतक शरीर को मूण्डना है तो उसी को मूण्ड डाला करो और स्त्रियों के लिये स्त्री नापी भी उत्पन्न कर लो, और ईश्वर से प्रार्थना करो कि वह मरने से पहले मरने वाले को

सूचना दे दिया करे ताकि वह संस्कार के लिये गढ़ा आदि भी स्वयं खोद रखे। क्योंकि सभी विधि जो फूंकने से पहले आठ मन्त्रों द्वारा करनी लिखी है, उस में से सात तो मृतक के लिये जीवित करें और एक मुण्डन हो मृतक का, यह बात महाशय जी ही समझा सकते हैं। आश्चर्य है कि महाशय जी वेद की इस आज्ञा का भी पालन नहीं करते कि यज्ञ-कर्ता को अश्नान कर शुद्ध अनसिले वस्त्र धारण कर यज्ञ करना चाहिये। नृयज्ञ (मृतक का दाह संस्कार) करने वाले सनातन धर्मी तो इस मर्यादा को नभा रहे हैं परन्तु उन को पौराणिक होने का उपालम्ब देने वाले महाशय जी शुद्ध वस्त्र धारण करने तो दूर रहे, इस यज्ञ को करने के लिये नहाते तक नहीं और ढींग मारते हैं वैदिक धर्मी होने की।

(१२) कहा तो जाता है कि आर्य समाज का जन्म ही हिन्दु धर्म की रक्षा और संघटन के लिये हुआ था पर अपनी जुदा संस्कारविधि बना कर फूट का बीज बो दिया। उन की देखा दाखी उन मत मतान्तरों के अनुयायी भी जिनके संचालक अपने को हिन्दू जानते और मानते थे और हिन्दू रीति से ही विवाह आदि संस्कार किया करते थे अब वैदिक रीति को छोड़ बैठे हैं और हिंदू कहाने में भी अपना अपमान समझते हैं। हिंदू के अर्थ चोर का प्रचार आर्यसमाज की कृपा का ही फल है। फारसी भाषा में हिन्दू काले को भी कहते हैं। यदि इस शब्द को मुसलमानों ने ही भारतवासियों के लिये प्रयोग किया हुआ मान लिया जाय तो भी अपने गौर वर्ण की अपेक्षा ऐसा कहा होगा क्योंकि भारतवासियों के सदाचार की महिमा तो उन्हों ने भी इतिहास में स्वीकार की है और यह दिखा कोई नहीं

सकता कि भारत देश का हिंदोस्तान नाम संस्कार मुसलमानों का किया हुआ है। देश के नाम का अर्थ ढूंढना आर्यसमाज का ही काम है पर वह यह नहीं बता सकता कि ईरान के रहने वाले ईरानी, अफगानिस्तान के अफगान, कश्मीर के काश्मीरी, जर्मनी के जर्मन, चीन के चीनी और रूस के रूसी आदि क्यों कहलाते हैं और उन उन देशों के नामों के अर्थ क्या हैं। और तो और कर्दम (गंदा कीचड़) नाम है महर्षि कपिल के पिता का और शुन्नाषेप (कुत्ते का शिशन) एक वैदिक ऋषि का नाम है, आर्यसमाज शब्दार्थों के आधार पर कालुमल, बिल्लुमल आदिक की नाईं इन नामों का भी तो उपहास करके दिखाये, फिर आटे-दाल का भाव ज्ञात हो जाये।

(१३) महाशय जी आप लोग अन्य मत के महापुरुषों और उन के धार्मिक ग्रन्थों को जिस दृष्टिकोण से जनता के सन्मुख रखते हैं वह तो ऐसा ही है जैसा सूर्य्य और चान्द पर थूकना, जो उनका कुछ न बिगाड़ता हुआ उलटा अपने मुख पर ही पड़ता है और गुम्बद (आकाश) की ध्वनी की नाईं अपने को ही प्रतिध्वनी सुननी पड़ती है। आप के अनुकरण में अन्य लोग भी आप के मत की और स्वामी जी के जीवन घटनाओं पर जो टीका टिप्पणियां करते हैं उनको न दुहराता हुआ इस लिये कुछ कहता हूँ कि आप लोग भी उरदू के कवि की बात को याद रखना ताकि बुरा कह कर बुरा न सुनना पड़े।

वद न बोले जेरे गरदूं गर कोई मेरी सुने।
है यह गुम्बद की सदा जैसी कहे वैसी सुने॥

यदि आप इन घटनाओं और जीवन-चरित्र में लिखी इनसे

विरोधी घटनाओं का कोई भेद नहीं मानते तो दूसरों पर आक्षेप भी व्यर्थ है। उदाहरण अर्थ — किसी ने स्वामी जी को धूप से बचने के लिये छाता देना चाहा, महाराज ने कहा यह किसी नटवे को दो और फिर अन्य जीवन घटना में छाता भी महाराज रखते थे। लङ्गोट-बन्ध थे तो कहा कि हम उस समय के मनुष्य हैं जब आदम और हव्वा नङ्गे रहा करते थे फिर स्वयं धनपत्रों जैसे वस्त्र पहनने लगे इत्यादि।

(१) महात्मा गान्धी और स्वामी दयानन्द ! 'आर्यसमाज के बाईबल सत्यार्थप्रकाश को मैं ने दो बार पढ़ा, जब मैं यार्वदा जेल में आराम कर रहा था तब उस की तीन प्रति कुछ मित्रों की तरफ से मुझे भेजी गई थीं, ऐसे महा सुधारक का लिखा हुआ इतना निराशा-जनक पुस्तक मैंने दूसरा नहीं पढ़ा। उन्होंने सत्य की और नग्न सत्य की हिमायत करने का दावा किया है, परन्तु ऐसे करते उन से जान-बूझ या बिना जाने जैन-धर्म, इस्लाम, ईसाईमत और खुद हिन्दु-धर्म के अर्थ का अनर्थ हो गया है। जिस को इन धर्मों का थोड़ा भी ज्ञान होगा वह स्वयं जान सकता है कि इस महा-सुधारक से किस प्रकार की भूल हो गई है। आर्यसमाजी संकुचित-हृदय और झगड़ालू स्वभाव होने के कारण अन्य मतावलम्बियों के साथ और जब उन्हें दूसरा कोई न मिले तो आपस में झगड़ा करते हैं (जङ्ग इण्डिया अप्रैल सन् १९२४)।

(२) अदालत और स्वामी दयानन्द।

मुद्दई— मेहरचन्द्र मेम्बर आर्यसमाज पेशावर।

मुदाइला— गङ्गाप्रसाद सनातन-धर्मी।

अदालत - मौलवी अंजाम अलीखां साहिब मजिस्ट्रेट दर्जा अव्वल पेशावर।

ज़ेर दफा $\frac{५०}{५०२}$ ता० ८ दिसम्बर सन् १८९१ ई०।

इस बात से इन्कार नहीं हो सकता कि दयानन्द की खास पुस्तक सत्यार्थ-प्रकाश में व्यभिचार की तालीम मौजूद है। मुद्दई खुद इस बात को स्वीकार करता है कि 'वह उन नियमों पर जिन में विवाहिता स्त्री को अपने असली पति के जीते जी अन्य पुरुष विवाहित के साथ भोग करने की आज्ञा है विश्वास रखता है। यह रिवाज बेशुभह व्यभिचार है'। इस वास्ते यह जिक्र करते हुये कि दयानन्द के शिष्य इन उपरोक्त नियमों पर विश्वास लाये हुये रस्म व्यभिचार का आरम्भ कर रहे हैं और अगर इन नियमों पर इन का विश्वास इसी तरह रहा तो ये इस व्यभिचार को ज्यादा उन्नति देंगे। मुद्दाअलेह ने सचाई से एक प्रकट बात को प्रकाशित किया है।

मेहर चन्द आर्य समाजी ने इस फैसले की अपील सेशन जज के इजलास में की जो जज साहिब ने खारज करदी। अपील खारज करते हुये रिमार्क दिया कि—'दयानन्द के नियम ऐसे नियम हैं कि हिन्दू धर्म तथा दूसरे मजहबों की निन्दा करते हैं और इस किताब के चन्द हिस्से खुद भी निहायत फुहश (घृणित) हैं'।

(३) जालन्धर शहर में सरदार विक्रम सिंह की गाड़ी को रोकने की घटना को उस समय का कोई नागरिक समर्थन नहीं

करता तभी तो दयानन्द प्रकाश में स्वामी सत्यानन्द जी ने इस घटना को बम्बई में हुई लिखा।

(४) स्वामी जी की मृत्यु पर जब उन की सम्पत्ति की पड़ताल हुई तो परोपकारिणी सभा के उप-मन्त्री मोहन लाल विष्णु लाल पाण्डे ने २८ दिसम्बर १८८३ को अजमेर में भरी सभा को बताया कि 'चार हज़ार तीन सौ रुपया नकद मौजूद है, ग्यारह हज़ार रुपया लोगों से लेना है, चार हज़ार का प्रेस और अठतालीस हज़ार की पुस्तकें मौजूद हैं।' आर्य समाचार मेरठ में स्वामी जी के वस्त्रों की जो फहरिसत छपी वह इस प्रकार है 'कामदार एक दोशाला, दोशाला जर्द जोड़ा एक, दोशाला लाल एक, चादर पशमीना एक, चोगा सफेद बानात एक, दोशाला रेशमी एक जोड़ा, दुपट्टा रेशमी धूप छाओं एक, चोगा ज़रदोज़ी रेशमी एक, चोगा रेशमी अकहरा एक, चोगा सब्ज़ एक, कोट रेशमी दो हरा एक, एक पेटी धोतियां लाल रेशमी किनारे वाली, दोपट्टा कलांवतून एक आदि आदि।'

(५) स्वामी जी दोशाला ओड़ते थे। पांव में जुराब रखते थे। उन के गले में स्फटिक की माला भी होती थी।

(दयानन्द प्रकाश पृ० ८८)

(६) भंग पीना, अभ्रक भस्म का सेवन, तुलसी दल, हुलास, चबाने का तम्बाकू, हुक्का पीना, चाय पान के लिये देखो द० प्र० पृ० ८१-८८-१०६-१५२-३१८ और ४०१।

(७) पहली मर्तबा (बार) स्वामी जी जब लाहौर आये, उन का अपना भोजन का खर्च चार पांच रुपये रोज़ाना था। (धर्म जीवन पत्र लाहौर १२ जून १८८७)।

(८) गान आदि पुस्तकें ४, छाता १, दवात १, सब हमारे पास पहुंच गये। वि० पत्र (७) पृ० ३०

(९) आज इस को रसोई बनाते १५ दिन हो चुके, कुछ भी न आया और न आगे आने की आशा है। आज भी इस ने रसोई जला दी। अब आप को मैं लिखता हूँ जो कोई रसोईया चतुर और धर्मात्मा आप की जांच में हो तो यहां जयपुर में भेज दीजिये। पत्र (२३०) पृ० २९१।

(१०) आज कल हम ऐसे देश में हैं जहां पर इस ऋतु के श्रेष्ठ फल अर्थात् आम पक्के तो दरकिनार कच्चे भी नहीं मिलते। उस ओर इस की फ़सल कैसी हुई है। यदि वहां आम फले हों तो एक बार मुंबई आम अथवा और प्रकार के जो तुम्हारी समझ में अच्छे हों दो सौ तीन सौ रेल द्वारा प्रबन्ध करके भेज दो। पत्र (२३५) पृ० २९६।

(११) यहां डेढ़ महीने से आम खाया करते हैं। आज आम रस भी बहुत सा बना था। पत्र (२७९) पृ० ३०९।

(१२) आप ने २२५ आम भेजे सो पहुँचे। पत्र (३९७) पृ० ४६९।

(१३) छापा खाना में हमारे भी दो सौ रुपया के दो हिस्सा शामिल कर लेवें। पत्र (९५) पृ० १३८।

(१४) गणेश दास और कम्पनी तारघर के नीचे चांदनी चौक के उत्तर नई सड़क बनारस के पास से हम पुस्तकें अनेक बार मंगवाते हैं। और उन का व्यवहार वैदिक यन्त्रालय के साथ है और कुछ कमीशन तुम भी उन को देते होगे और वह भी तुम को देता होगा। तुम उस को एक चिट्ठी भेज दो कि स्वामी जी जो जो पुस्तकें मंगवावें भेज दिया करो और हमारे

हिसाब में लिख लो क्योंकि उस का कमीशन वैदिक यन्त्रालय में रहा करे। अभी हम २१॥=) आने के पुस्तक मंगवा चुके हैं जिसका हाल तुम को लिख दिया। और दो एक दिन में ५०) रु० या ६०) रु० के पुस्तक श्रीयुत महाराजाधिराज हमारे द्वारा मंगवावेंगे। और गणेश दास का व्यवहार शुद्ध है क्योंकि हम ने उस की दुकान से हज़ारों रुपये की पुस्तकें ली हैं। और कमीशन भी कुछ देता था हम को ठीक याद नहीं। वि० पत्र पृ० ४१७ और ४२१ के बीच में किसी पृष्ठ पर।

(१५) १०) स्वामी दयानन्द सरस्वति जी ने अनाथों के पालन और ५००) रुपये वेद भाष्य बनाने के लिये दिये। पत्र (१३६) पृ० २०७।

(१६) जिस कारीगर ने यह दुपट्टा और अरंडी बनाई है उस को ३ रुपये इनाम दे देना। पत्र (१५८) पृ० १९८।

(१७) जो संस्कृत वाक्य-प्रबोध पर पुस्तक छपाया है सो बहुत ठिकानों में उन का लेख अशुद्ध है। और कै एक ठिकानों में संस्कृत में अशुद्ध भी छपा है, इस अशुद्धि के कारण तीन हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन के आधीन शोधने का होना और मेरा न देखना न प्रूफ को शोधना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पोजिटर बुद्धिमान न होना, लैंपों की न्यूनता होनी। इस के उत्तर में जो जो उन (पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जिन्हों ने स्वामी जी की इस पुस्तक के खण्डन में अबोध निवारण नामक पुस्तक छपवाई थी) की सच्ची बात है सो २ शोधक और छापा का दोष रहेगा। इस के खण्डन पर भीमसेन का नाम मत लिखना किन्तु पंडित ज्वाला दत्त के नाम से छापना। इस पर आगे

के आर्य दर्पण में छापने के लिये पं० ज्वा० भी लिखेगा। भीम सेन भी लिखो परन्तु उस का नाम इस पर छपवाने से उस के पढ़ने में वहां के लोग बहुत विरोध करेंगे। पत्र (१७४) पृ० २२३।

(१८) लेख पुस्तक 'अबोध निवारण' की अशुद्धियां—एक पण्डित के नाम से छपा (इस उत्तर में श्री स्वामी जी की अनुमति थी, ऐसा नोट दिया गया है) पृ० २२५।

(१९) और दूसरा निवेदन जो बाबू शिव प्रसाद ने छापा है उस का उत्तर भी तैयार हो गया है। सो प० ज्वाला दत्त के नाम से अब जारी किया जायगा। पत्र (१८७) पृ० २४२।

(२०) आर्य प्रश्नोत्तरी लेखिक मु० इन्द्रमणि, ला० जगन्नाथ दास पर, समीक्षा पत्र एक उचित वक्ता के नाम से छपा। पत्र (२९८) पृ० ३६३।

(२१) सत्यार्थ प्रकाश आदि किसी पुस्तक में जो नोट लिखो तो उस में किसी का नाम न लिखना। पत्र (३१३) पृ० ३९८।

(२२) मु० इन्द्रमणि का इलतमास और स्वामी दयानन्द का सन्यास (इस पुस्तक में मुन्शी जी का मुकद्दमा लड़ने के लिये जो रुपया जनता से अकट्ठा किया गया, उस रुपये के गोल माल का वर्णन है)। इस का जो उत्तर समाचार पत्र में स्वामी जी ने (वही आप का परम मित्र उचित वक्ता के नाम पर छपवाया। पत्र (३२७) पृष्ठ ३९५।

(२३) श्रीयुत रावराजा श्रीमान् तेज सिंह के नाम (३) मैं अनुमान करता हूं कि गत दिन आप का पत्र शाहपुराधीशों को दिखलाया। उस से अनुमान होता है कि जोधपुर में शीघर आने में सम्मति कठिनता से देंगे। सम्मति शीघर होने

के लिये यह उपाय है कि जब मेरा दूसरा पत्र आप के पास आवे तभी आप किसी दूसरे पुरुष को यहां भेज देवें। वे कहेंगे और पश्चात मैं भी विशेष कहूँगा तो आशा है कि मान जावेंगे, क्योंकि शाहपुराधीश बड़े बुद्धिमान हैं। पत्र (३५५) पृ० ४२३।

(२४) यहां (मेरठ) समाज से १२५ रुपये और एक थान मलमल का देकर सत्कार किया। (रामाबाई के शुभ गुणों का इस पत्र में वर्णन है और साथ ही यह भी लिखा है) "जैसे चन्द्रमा में ग्रहण लग जाय ऐसा हाल है—रमा के इस हाल को प्रसिद्ध हर जगह न होना चाहिये"। पत्र (१७७) पृ० २३२।

(२५) आप फिर हम को कोई दोष न देना क्योंकि हम ने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानंद को छोड़ कर यह कार्य ग्रहण किया है। पत्र (२१८) पृ० २८०।

(२६) और जो तुम इस (बखतावर सिंह) का प्रबन्ध कुछ न करोगे तो ऐसी लूट मार से हमारे पास के पुस्तकादि भी कोई लूट लेगा फिर तो हम अपने समीप कुछ न रख सकेंगे। और वेद भाष्य आदि सब काम छोड़ देंगे। केवल एक लंगोटी लगा आनन्द में विचरेंगे। पत्र (२२२) पृ० २८४।

(२७) और एक पत्र हमारे पास आने वाला है कि उस को एक अच्छे काग़ज़ पर छाप कर तुम को सब आर्य्यसमाजों के पास भेजना होगा। और वे श्रीमान् महाराणा जी के पास भेज देंगे। और कुछ २ अपने आनन्द-प्रदर्शक बातें लिख कर भेजेंगे तो अच्छा होगा। यह मान्यपत्र था जो राणा उदयपुर ने स्वामी जी को दिया था, जैसा कि पृ० ४०५ पर इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है। पत्र (३३५) पृ० ३९९।

(२८) श्रीयुत् बाबू दुर्गाप्रसाद जी राणा उदयपुर ने एक मान-पत्र मुझ को दिया है। पत्र (३३६) पृ० ४०१।

(२९) चौधरी जालम सिंह को भी मान्य-पत्र के विषय में लिखा, पत्र (३३८) पृ० ४०२।

(३०) लाला काली चरण, राम चरण को मान्य-पत्र की नक़ल भेजी। पत्र (३४८) पृ० ४१६।

(३१) मु० समर्थदान मैनेजर वैदिक यन्त्रालय अजमेर को लिखा 'कि स्वीकार-पत्र, मान्य-पत्र और धन्यवाद-पत्र उत्तम कागज़ पर छपवा कर सब समाजों में और जहां उचित समझो भेज दो अर्थात् जहां २ लाईब्रेरी वा उत्तम समाचार-पत्रों में भी भेज दो। और हमारे पास भी उसकी १०० नक़ल भेज दो और टाईटल पेज पर भी उदयपुर का वर्तमान छपवा दो। पत्र (३५०) पृ० ४१६।

(३२) बाबू चन्द्रकिशोर जी को भी मान्य-पत्र की दो नक़ल भेजीं, एक उन की लाईब्रेरी के लिये और दूसरी आर्याधर्म सभा जयपुर के समाज के लिये। पत्र (३५४) पृ० ४२१।

(३३) इस पत्र के पहुंचने की मिति से आगे पांच दिन के भीतर पाली में सवारी के लिये दो रथ और एक सैजगाड़ी, दो ऊँठ और एक हाथी और पुस्तकादि भार के लिये एक सवारी और दो सवार और आठ सिपाहियों का एक दस्ता पहरे के लिये भजवा दीजिये। हमारे पास १० तथा १२ आदमियों से अधिक नहीं हैं। पत्र (३५९) पृ० ४३४।

(३४) आप लोग नये नगर को प्रतिपदा के दिन एक रथ, एक एक्का और एक असबाब की गाड़ी और जो हाथी अच्छा चलता हो तो हाथी भी भेज देना। पत्र (४२९) पृ० ५०६।

(३५) जो मेरे साथ के मनुष्य और पुस्तकादि असबाब जावेंगे उस के साथ आप के सपरीक्षित दो सवार और एक वा दो मेरे साथ। (३) एक चमड़े की वेग जोकि उस चोर ने दो ठिकाने से काट दी है यदि किसी कारीगर से एक दिन में सुधरवा दें तो आप के पास भेज देवें। पत्र (४३४) पृ० ५१०।

(३६) जब मेरा देह छूटे तो न उस को गाड़ें, न जल में बहावें, न जङ्गल में फैंक दें केवल चन्दन की चिता बनावें और जो यह संभव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पांच सेर कपूर, ढाई सेर अगर तगर और दस मन काष्ट लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कार-विधि में लिखा है वेदी बना कर तदुक्त वेद मन्त्रों से होम करके भस्म करें— पृष्ठ ५२० स्वीकार पत्र [५]

(३७) रामानन्द ब्रह्मचारी का माता के मृतक - संस्कार की सामग्री का वर्णन—

२५) पच्चीस रुपये का अच्छा घृत, १०) दस रुपये का सफेद सुगन्ध वाला चन्दन, ५) अगर तगर और कपूर आदि सुगन्धित वस्तु, ५) रुपये वस्त्रादि लिये जावेंगे, ५) पांच रुपये की पलास अर्थात् ढाक की लकड़ी अथवा आंब की और संस्कारविधि के अनुसार वेदी बनानी होगी। पत्र (३८०) पृ० ४५३।

(३८) और रमावाई का हाल इतना ही है व्याकरण (काव्यालंकार) पढ़ी है। संस्कृत भी अच्छा बोलती है, व्याख्यान भी अच्छा देती है और बड़ी बुद्धिमति है। (परन्तु कुछ) अकथनीय अनुचित दोष हैं। जो उस का भाग होगा और सुधर जायगी तो इस में उस की बड़ी प्रतिष्ठा होगी और उस के उपदेश से स्त्री उपकार भी बड़ा होगा। यह रमा का हाल कहीं छपवा

न देना तो उस की दुर्दशा होगी। पत्र (४५५) पृष्ठ ५३५। (रमा के भाग में ईसाई होना लिखा था सो हो गई। स्वामी जी उसे वैदिक धर्म में रख न सके)।

(३९) और यह विष्णु शास्त्री धूर्त विद्याहीन, हठी, दुराचारी मिथ्याचारी है। इस अंधा की भीतर और बाहर की दोनों फूट गई आंख। पत्र (७) पृ० ३१।

(स्वामी जी अपन विपच्चि विद्वानों के प्रति कटु भाषी थे। राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद को भी ऐसी ही जली कटी लिखी थी। 'विद्या ददाति विनयम्' के नियम का अभाव कई विद्वानों की शोभा को विपच्चियों में चमकने नहीं देता।

(४०) (मांस खाना) जो संस्कार विधि में लिखा है वह दूसरों का एक देशीय मत दिखाने को लिख दिया है। कुछ उस एक देशीय मत होने से मांस खाना सिद्ध नहीं हो सकता। पत्र (५४७ पृ० ३१०। (वह कौनसी संस्कारविधि है जिस में मांस खाना लिखा था। वर्तमान संस्कारविधि में तो मांस का नाम तक नहीं, फिर यह स्वामी जी कृत कैसे) ?

(४) जो देश हितैषी में प्रश्नोत्तरी के विषय में छपा है सो किस की ओर से है। आप की सम्मति से है वा नहीं ? उस का यही उत्तर है कि वह किसी की ओर से हो अच्छा है। पत्र (३२२) पृ० ३८७। (यह उत्तर स्वामी जी ने आप छपवाया था ऐसा इसी पुस्तक के मुद्रित पत्रों से सिद्ध है। जो उचित वक्ता के नाम से छपा था)।

(४२) उन में से जहाँ २ माँस खाने का विषय काट दिया और उचित अर्थ कर दिया है। यदि शीघ्रता से शोधने में माँस खाने में कोई रह गया हो तो उसको तुम कटवा देना

और उचित धरवा देना। पत्र (३४०) पृ. ४०६ (मु० समर्थ दान के माँस खाने का विरोध करने से स० प्र० के प्रूफ शोधते समय लेख बदलना पड़ा)

(४३) बाबू विश्वेर सिंह और यह दोनों पत्र तुम्हारे पास भेजते हैं जोकि शाहपुरे के हैं। किसी समाचार पत्र में छपवा देना। पत्र (३८२) पृ० ४५४।

(४४) प्रातः समय योगाभ्यास की रीति से ध्यान करना। और नाम लेना आदि पुरोहित के आधीन कर दीजियेगा जिससे ध्यान करने और राज्यपालन में समय यथोचित श्रीमानों को मिले। पत्र (४०३) पृ ४७८।

(४५) जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्य्य-समाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करे न और को नौकर रक्खे। द० प्रकाश० पृ० २३४।

(४६) चाहे वह प्रधान भी क्यों न हो ! यदि कोई आर्य-समाज में इस समाज के नियम के प्रतिकूल कथन करे तो प्रत्येक सभासद को अधिकार है कि उसे रोके। टोके और बैठा दे ! यह दयानन्द की उक्ति है द० प्र० पृ० ३०७।

(४७) महाराज का विचार था ! कि उन का भाष्य विद्यालय महाविद्यालयों में पढ़ाया जाये। राय मूलराज को दयानन्द ने कहा कि आप जोर देकर हमारा वेद भाष्य शिक्षा विभाग में नियत करा दीजिये। परन्तु मूलराज जी इस कार्य को नहीं कर सके। अन्त को महाराज पञ्जाब के लाट महोदय सर राबर्ट अजर्टन को आप जा मिले। राज्य की ओर से स्वामी जी के भाष्य के प्रथमांक की कुछ प्रतियें मोल ली गईं। और स्वदेशी तथा बिदेशी पण्डितों के पास भेज

कर उन के मत मङ्गवाये गये। ये सम्मतियें प्रायः स्वामी जी के भाष्य के विरुद्ध थीं। द० प्र० पृ० ३३०।

(४८) स्वामी जी के भाष्य में बीसियों अस्थानों पर कई शब्द उड़े हुये हैं। वेद अर्थों के समन्वयः का तो अभी कोई प्रयत्न हुआ ही नहीं जो कुछ अर्थ किये गये हैं वह भी आपा धापी से किये गये हैं। पण्डित विश्वबन्धु एम० ए०।

(४९) स्वामी जी के विषय में एक और आवश्यक बात विचारणीय है, स्वामी जी ने यजुर्वेद भाष्यकार महीधर आचार्य, ऋग्वेद भाष्यकार सायणाचार्य आदि के भाष्य का खण्डन तो किया किन्तु जिन शतपथ आदि ब्राह्मणों के आधार से वे इस प्रकार का भाष्य करने पर वाध्य हुये, उन ब्राह्मणों के विषय में मौन साध्य लिया। आश्चर्य है कि स्वामी जी ने स्पष्ट रूप में इन ब्राह्मण ग्रन्थों का भी खण्डन क्यों नहीं किया ऋग्वेदलोचन। पृ० २९८।

रसायणाचार्यों की विद्वता के विषय में संदेह करना मानों अपनी अज्ञता प्रकट करना है। आर्यसमाज का इतिहास पृ० १९५। यह दोनों ग्रन्थ पं० नरदेव शास्त्री आचार्य गुरुकुल महा विद्यालय के बनाये हुये हैं।

(५०) प्रधान महोदय और आर्यसमाज के उपस्थित विद्वानों! मैंने यह बातें आप का दिल दुखाने के लिये नहीं कहीं, किन्तु आप को सत् धर्म प्रायण बनाने के लिये क्योंकि आर्यसमाज जैसा संघठित समाज हिन्दुओं में दूसरा कोई नहीं परन्तु शोक है कि 'सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये' इस नियम के प्रतिकूल चलने से समाज अपना गौरव खो रहा है। औरों का क्या कहना महात्मा

खुशाल चन्द जी (आज के श्री आनन्द स्वामी जी) ने अपने समाचार पत्र मिलाप महीना जुलाई १९४० में हैदराबाद के सत्याग्रह के बारे में लिखा था कि जैल से सुलह की जो शरतें मुझे दिखाई गई थीं और जिन की नकल मैंने अपने पास रखली थी, जैल से बाहर आने पर मालूम हुआ कि सुलह की असली शरतें बहुत नर्म थीं और कि जिस वैदिक धर्म प्रचार में रुकावट को दूर करने के लिये सत्याग्रह किया गया था वह एक वर्ष पीछे तक भी न खुला। न पं० रामचन्द्र दहलवी और न ही पं० वेद व्यास को वहाँ जाने की आज्ञा मिली। मैं सारवैदेशक सभा के निमन्त्रण पर वहां प्रचार के लिये गया परन्तु उस को भी बन्द करा दिया गया। यद्यपि 'रहबर दक्षण' वहां के मुसलम समाचार पत्र ने भी मेरे व्याख्यानों की प्रशंसा की थी। प्रचार का यह हाल था कि सत्यार्थप्रकाश के पिछले चार समुल्लास ही काट कर दश समुल्लासों वाली सत्यार्थप्रकाश वहां के राज्य अधिकारियों को भेंट की गई इत्यादि। मैं सत्त को दबता नहीं देखना चाहता'। यह बात अन्य समाचार पत्रों वीर भारत आदि में भी छप गई जिस से जनता को ज्ञात हुआ कि आर्यसमाज ने सत्याग्रह में अपनी विजय का ढंढोरा जो पिटवाया वह प्रोपेगंडा था किन्तु उस ने हज़ारों मनुष्यों को जैल यात्रा के कष्ट और धन के व्यय से कुछ भी प्राप्त न किया था।

वैदिकधर्म का प्रचार जो आर्यसमाज कर रहा है वह, स्वामी जी के बनाये ग्रन्थों के आधार पर नहीं किन्तु उनके नाम पर स्वयं बनाये सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि और पञ्च यज्ञमहाविधि के अनुसार। पहली दो पुस्तकें तो अधिक समय

लेने के कारण सुना नहीं सकता तीसरी पुस्तक ज्यों की त्यों सुना देता हूँ और पठित-श्रोताओं को नई पुस्तक की एक एक प्रति अपनी ओर से भेंट करता हूँ ताकि वे साथ के साथ दोनों की तुलना कर देख सकें कि धर्म के नाम पर आर्यसमाज ने क्या कुछ किया है और दोनों पुस्तकों के लेख में आकाश पाताल का अन्तर है ।

—:-o-:—

श्रीगणेशायनमः ॥

अथ संध्योपासनादि

पंचमहायज्ञविधिर्लिख्यते

तत्रस्थमंत्रादानामर्थश्च लिख्यते संध्यायन्तिसन्धीयते परंब्रह्म-यस्यांसा "संध्या"। तत्ररात्रिदिवसयोरुभयोस्संध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यम्परमेश्वरस्यैवस्तुति प्रार्थनोपासनाः कार्य्याः ॥ आदौशरीरशुद्धिः कर्त्तव्यावाह्यादिजलादिना ॥ अभ्यान्तरारागद्वेषाः सत्यादित्यागेन "अद्भिर्गात्राणिशुध्यन्तिमनः सत्येनशुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेनशुध्यति" इत्याहमनुः ॥ शरीर शुद्धेस्सकाशादात्मान्तःकरणशुद्धिरवश्यंसर्वैस्सम्पादनीयातस्यास्सर्वो-त्कृष्टत्वात्परब्रह्मप्राप्त्येक साधनत्वाच्च ॥ ततोदर्भै र्हस्तेनवामार्ज्जनं कुर्य्यात् ॥ पुनर्मंत्रकांक्षीन प्राणायामान्कुर्य्यात्। आभ्यन्तर-स्थंवायुं नासिकापुटाभ्याम्बलेन वहिर्निःसार्य्य यथाशक्तिवहिरेव-स्तम्भयेत् पुनःशनैश्शनैर्गृहीत्वा किंचित्तमवरुध्यपुनस्तथैव वहिर्न्निस्सारयेदवरोधयेच्चैवं त्रिवारं न्यूनातिन्यूनं कुर्य्यादनेनात्-ममनसोः स्थिति सम्पादयेत् प्रच्छर्दन विधारणाभ्यांवा प्राणस्येति योगसूत्र प्रामाण्यात् ॥ ततो गायत्री मंत्रेण शिखाम्बद्ध्वारक्षां कुर्य्यात् ॥

अथाचमन मंत्रः ॥

"ओं शन्नोदेवी रभिष्टये आपोभवन्तुपीतये, शंयोरभि-स्रवन्तुनः" ॥ शंनः। देवीः। अभिष्टये। आपः। भवन्तु। पीतये। शंयोः। अभिस्रवन्तु। नः। आप्लृव्याप्तौ। अस्माद्धातोरपशब्दः सिध्यति। दिवुक्रीड़ाद्यर्थः, अपशब्दो नियत स्त्रीलिंगो बहुवचनान्तश्च। देव्यश्आपः। सर्वप्रकाशक-स्सर्वानन्दप्रदस्सर्वव्यापक ईश्वरः "अभिष्टये" इष्टानन्द प्राप्तये "पीतये" पूर्णानन्दावाप्तये "नो" अस्मभ्यं "शं" कल्याणं "भवन्तु" भावयतु प्रयच्छतु। इतियावत्ता आपोदेव्यः-सएवेश्वरः। "नः" अस्माकमुपरि "शंयो" शं "अभिस्रवन्तु" सुखस्य अभितः सर्वतोवृष्टिं करोतु ॥ एवमीश्वरं अनेन मंत्रेण प्रार्थयित्वा त्रिराचमेत् ॥

अथेन्द्रियस्पर्श मंत्राः ॥

ओं वाक्, वाक्। ओं प्राणः, प्राणः। ओं चक्षुश्चक्षुः। ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओंनाभिः। ओंहृदयम्। ओंकंठः। ओंशिरः। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओंकरतलकर पृष्ठे"। इति सर्वत्रेश्वर प्रार्थनया स्पर्शः। कार्यः ॥

अथेश्वर प्रार्थना पूर्वक मार्ज्जन मंत्राः ॥

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातुनेत्रयोः। ओंस्वः पुनातुकंठे। ओंमहः पुनातुहृदये। ओंजनः पुनातुनाभ्याम्। ओंतपः पुनातुपादयोः। ओंसत्यम्पुनातु पुनश्शिरसि। ओं खंब्रह्म पुनातुसर्वत्र। ओमित्यस्य भूर्भुवःस्वरित्येतासांचार्था गायत्रीमंत्रार्थेद्रष्टव्याः ॥ "मह"नाम सर्वेभ्योमहान् सर्वैःपूज्यश्च। सर्वेषांजनकत्वा "ज्जनः" परमेश्वरः। दुष्टा-

नां सन्तापकारकत्वात् स्वयंज्ञान स्वरूपत्वात् । "यस्य ज्ञान मयन्तपः ॥ इतिश्रुतेश्च । "तपः" ईश्वरः । अविनाशि यम्यकदाचिद्विनाशो नभवेत्ततूसत्यमब्रह्म" इतीश्वरनामभिर्माज्र्जनंकुर्यात् ॥

अथ प्राणायाम मंत्रः ॥

ओंभूः । ओंभुवः । ओंस्वः । ओंमहः । ओंजनः । ओंतपः । ओंसत्यम् । इतिप्राणायाम मंत्रः ॥

अथेश्वरस्य जगदुत्पादन द्वारा स्तुत्वाघमर्षन मंत्रः ॥

पापदूरी करणार्थः ॥ ओंऋतंच सत्यश्चाभिद्धात्तपसोध्यजायत ततोरात्र्यजायततत: समुद्रोअर्णवःसमुद्रादर्णवा दधिसम्वत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिपतोवशो सूर्य्याचन्द्र मसौधाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्चपृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो-स्वः ॥ ऋतम् । च । सत्यम् । च । अभि इद्धात । तपसः । अधि । अजायत । ततः । रात्रि । अजायत । ततः । समुद्रः । अर्णवः । समुद्रात् । अर्णवात् । अधि । सम्वत्सरः । अजायत । अहोरात्राणि । विदधत् । विश्वस्य । मिपतः । वशी । सूर्य्या । चन्द्रमसौ । धाता । यथापूर्वम । अकल्पयत् । दिवम् । च । पृथिवीं । च । अन्तरिक्षं । अथो । स्वः । दधाति सकल जगत् पोषयति वास "धाते" श्वरो "वशी" वशंकर्तु शीलमस्यसः "यथा पूर्वं" यथातस्यसर्बज्ञे बिज्ञाने जगद्रचन ज्ञानमासीत् पूवकल्प सृष्टौ रचन जगतो यथासीत् तथैव "सूर्य्याचन्द्रमसौ" प्रत्यक्ष बिषयौ सूर्य चन्द्रलोकौ "दिवम्" सर्वोत्तमं स्वर्गलोकं "पृथिवीम् प्रत्यक्ष विषयां अन्तरिक्षं" द्वयोर्मध्यमाकाशं तत्रस्थाम् लोकांश्च "स्वः मध्यस्य 'स्वगलोकं' अकल्पयत्" रचितवान् । ईश्वर ज्ञानस्या परिणामित्वात् पूर्णत्वादनन्तत्वाच्च सर्वदा सर्बदैकरसत्-वात्तस्य वृद्धिक्षयौ ब्यभिचारश्चकदाचिन्नभवति अतएव "यथा"

पूर्वंकल्पयदित्युक्तम् ॥ सएव "वशी" ईश्वरः बिश्वस्य "मिषतः" सहज स्वभावेन "अहोरात्राणि" रात्रेर्दिवसस्यच बिभागं यथा पूर्वं "विदधत्" बिधानं कृतवान्। तस्यधातुर्वशिनःपरमेश्वरस्य "अभीद्धात्" अभितः सर्वतः दीप्तात् ज्ञानमयात् "तपसः" अनन्त सामर्थ्यात् "ऋतम्" नाम यथार्थं सर्व विद्याधिकरणं वेदशास्त्रम् "सत्यम्" त्रिगुण प्रकृत्यात्मक मव्यक्तम् । स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणंचा "ध्यजायत" यथा पूर्वमुत्पन्नम् । "ततः" तस्मादेव सामर्थ्यात । "रात्रि" अन्धकार भूताया प्रलयानन्तरम्भवति सा "अध्यजायत" नामयथा पूर्वमुत्पन्ना "तम आसीत्तमसागूढमग्रे" इति श्रुतेः ॥ अग्रे सृष्टेःप्राक्तमोन्धकार एवासीत् तेन तमसा सकलं जगदिदमुत्पत्तेः प्राक्गूढं गुप्तमदृश्यमासीत्। ततः तस्मादेवसामर्थ्यात् । पृथिवीस्थोन्तरिक्षस्थश्च महान्समुद्रः "समुद्रोध्यजायत" यथापूर्वमुत्पन्नः । समुद्रादर्णवात् पश्चात्सम्वत्सरः क्षणादि लक्षणः कालः "अध्यजायत" यथा पूर्व मुत्पन्नः । यावज्जगत्तावत्सर्वं परमेश्वरस्य सामर्थ्यादेवोत्पन्न मित्यवधार्य्यम् । एवं सर्वजगदुत्पादकात्सर्वज्ञादीश्वराद्भीत्वा पापाद्दूरेसर्व जनैः स्थातव्यम्। कदाचित्केनचित् स्वल्पमपिपापंनैव कर्त्तव्यमितीश्वराज्ञास्तीति निश्चेतव्यम् अनेनाघमर्षणं कुर्य्यात् । शन्नोदेवी रिति पुनराचमेत् ॥ ततः सूर्योदयात् प्राक्तिष्ठन्सन् अर्थ विचार पूर्विकाङ्गायत्रींजपेत् ॥ पुनः सूर्य्योदयेसति परमेश्वरेणैव सूर्य्यादिकं सकलंजगद्रचितमिति परमार्थ स्वरूपं ब्रह्मचिन्तयित्वा गायत्रीमंत्रेणार्घत्रयं सूर्य्याभिमुखंप्रक्षिप्य परंब्रह्मप्रार्थयेत् ॥

अथ परिक्रमण मंत्राः ॥

"ओं भृगवेनमः" शुद्धस्वरूपाय ॥ "ओ मिन्द्राय नमः"

परमैश्वर्य्यवते यस्मादधिकन्तुल्यंवा कस्याप्यैश्वर्य्यं नास्तीति। "ओं भगस्तयेनमः" निरुपद्रवाय पापनाशकाय निष्पापायच॥ "ओं यमायनमः" सर्वेषाम्पापपुण्य कर्त्तृणां जीवानां पक्षपातं विहाय न्यायकारिणे व्यवस्थाकर्त्रे प्रशास्त्रेच। "ओं सारस्वतायनमः।" अनन्तविद्या विज्ञानाय सर्वविद्योत्पादकायच। "ओं वरुणायनमः" कर्तुमर्हायवरायोत्कृष्टाय वरप्रदायच "ओं वशिष्ठायनमः।" अतिशयेन सर्वत्र वसवे सर्ववासाय सर्वानन्द घनस्वरूपायच। "ओंकुबेरायनमः"॥ स्वव्याप्त्यासर्वजगदाच्छादकाय सर्वधनायसर्वधनप्रदायच पर ब्रह्मणेनमः॥ एतैर्नामभिः पूर्वादिक क्रमेण परिक्रमां कुर्वन्सर्वव्यापिनं सर्व रक्षकमीश्वरं प्रार्थयेत्॥

अथोपस्थान मंत्राः॥

ओं मुद्वयन्तमस स्परिस्वः पश्यन्त उत्तरम्॥ देवन्देवत्रा सूर्य्यमगन्मज्योतिरुत्तमम्॥१॥ उद्। वयम्। तमसः। परि। स्वः। पश्यन्त। उत्तरम्। देवम्। देवत्रा। सूर्य्यम्। अगन्म। ज्योतिः। उत्तमम्॥१॥ हे परमात्मन् "सूर्य्यम्" चराचरात्मानम्त्वाम् "पश्यन्त" प्रेक्षमाणास्सन्तो "वयम्" उदगन्म॥ अर्थात् उत्कृष्ट श्रद्धावन्तो भवन्तम्प्राप्नुयाम। अनेके विज्ञानवन्तो। जनाः भवन्तमप्राप्तवन्तो वयमपि भवत्प्राप्ति मत्यन्तम् प्रार्थयामहे। कथम्भूतं त्वाम् "ज्योतिः" स्वप्रकाशम् "उत्तमम्" सर्वथोत्कृष्टम्। देवत्रा,, सर्वेषु दिव्यगुणवत्सुपदार्थेषुह्यनन्त दिव्य गुणैर्युक्तम्। "देवम्" धर्म्मात्मनां मुमुक्षुणाम्मुक्तानांच सर्वानन्दस्य दातारं मोदयितारंच। "उत्तरम्" जगत् प्रलयान्ते पिनित्य स्वरूपत्वाद्विराजमानम्। "स्वः" सर्वानन्दस्वरूपम् "तमसस्परि" अज्ञानान्धकारात् पृथक

भूतम् भवन्तम् प्राप्तम्वयं नित्यम् प्रार्थयामहे । भवान् स्व कृपया सद्यः प्राप्नोतुनः ॥ ′ ॥ " ओ मुदुत्यंजातवेदसन्देवम्वहन्ति केतवः दृशेविश्वाय सूर्य्यम्" ॥ २ ॥ उद् । उ । त्यम् । जातवेदसम् । देवम वहन्ति केतवः । दृशे । विश्वाय । सूर्य्यम् "त्यम" तम् पूर्वोक्तमृदेवं "केतवः" किरणाविविध जगतः पृथक् पृथग्रचनादि नियामका ज्ञापकाः प्रकाशका गुणाः "दृशे विश्वाय" विश्वंद्रष्टुं विश्वस्य दर्शनायवा । "सूर्य्यं" चराचरात्मानम्परमेश्वरम् । उद्व-हन्ति वतकृष्टतया प्रापयन्ति, ज्ञापयन्ति, प्रकाशयन्तिवै ॥ "उ" इति वितर्के विविध नियमान् पृथक् २ दृष्ट्वा नास्तिका अपि ईश्वरं त्यक्त्वा नैव समर्था भवन्ती त्यभिप्रायः । कथम्भूतन्देवं "जातवेदसम्" जाताऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदास्सर्वज्ञ ज्ञान साधनशास्त्र सर्वोपकारकं यस्माज्जातानि प्रकृत्यादीनि भूतान्यसंख्यातानि विन्दति प्राप्नोति प्राप्नोत्तिवा । यद्वा जातं सकलं जगद्वेत्ति जानातियः सजातवेदास्तं "जातवेदसम्" सर्वे मनुष्यास्तमेवैकं प्राप्तु मुपासितु मिच्छन्त्वित्यभिप्रायः ॥ २ ॥ ओं चित्रन्देवाना मुदगादनीकञ्चक्षु र्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥ आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षग्वं ॥ १० ॥ सूर्य्य आत्मा जगत स्तस्थु षश्च ॥ ३ ॥ चित्रम् । देवानाम् । उद् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य वरुणस्य । अग्नेः । आप्राद्यावा पृथिवी । अन्तरिक्षम् सूर्य्यः आत्माजगतः तस्थुषः ॥ च ॥ ३ ॥ सएव देवस्सूर्य्यः जगतः जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य अतति सर्वत्रव्याप्नोतीत्यात्मास्ति तथाद्यौः पृथिवी अन्तरिक्षञ्चैतदादि सर्वंजगद्रचयित्वा आप्राआ समन्ताद्धारयन्सन्रक्षति एषएवै तेषाम् प्रकाश कत्वा द्बाह्याभ्यन्त-रयो श्चक्षुः प्रकाशको विज्ञानमयो विज्ञापकश्च, अतएव मित्रस्यसर्वेषु द्रोहरहितस्य वरुणस्यवरेषु श्रेष्ठेषु कर्म्मसुगुणेषु वर्त्तमानस्य च

अग्नेः विज्ञानादि विद्यावतो विदुषः भ्राजमानस्यापि चक्षुः सर्व-सत्यविद्योपदेष्टा प्रकाशकश्च देवानाम् दिव्य गुणवताम् हृदये उदगात्। उत्कृष्टतया प्राप्तोस्ति प्रकाशकोवा, तदेव ब्रह्मचित्रम् अद्भुत स्वरूपम्" आश्चर्योस्यवक्ता कुशलोस्य लब्धा। आश्चर्योस्य ज्ञाता कुशलानुशिष्टः इतिश्रुतेः ॥ अद्भुत स्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः ॥ तदेव ब्रह्मसर्वेषाञ्चास्माकं अनीकम् सर्वदुःखनाशार्थं काम क्रोधादि शत्रु विनाशार्थं बलमस्ति तद्विहाय मनुष्याणां सर्वसुखकरं शरण मन्यन्नास्त्येवेति वेद्यम् ॥ ३ ॥ ओं तच्चक्षुर्देवहितम्पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतंजीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ४ ॥ चक्षुः देवहितम्। पुरस्तात्। शुक्रम्। उच्चरत्। पश्येम। शरदः। शतम्। जीवेम। शरदः। शतम्। शृणुयाम। शरदः। शतम्। प्र। ब्रवाम। शरदः। शतम्। अदीनाः। स्याम। शरदः। शतम। भूयः। च। शरदः। शतात् ॥ ४ ॥ तद्ब्रह्मचक्षुः सर्वदृक् देवेभ्यो हितम् देव-हितम् दिव्य गुणवताम् धर्मात्मनाम् विदुषाम् स्वसेवकानाञ्च "हितकारि" पुरस्तात् पूर्वं सृष्टेः प्राक् सच्चिदानन्द स्वरूपत्वात्त-देवासीत् नान्यत् शुक्रम् सर्वजगत्कर्तृ शुद्धञ्च तदेवास्ति उच्चरत् उत्कृष्टतया सर्वत्रव्याप्तम् विज्ञान स्वरूपं तदेवेदानीमस्त्येव ॥ उद् प्रलयात् ऊर्ध्वं सर्वं सामर्थ्यं तदेवस्थास्यति नान्यत्। तद्ब्रह्म शतं शरदः शतं वर्षाणि 'पश्येम" तस्यैवप्रेक्षणं कुर्य्याम। तथा तत् कृपया शतं शरदोजीवेम ॥ प्राणधारणं कुर्य्याम्। तथा शतं शरदः तस्यगुणाः श्रद्धाविश्वासवन्तोवयम् शृणुयाम। तथा च तद् ब्रह्मतद्गुणांश्च "प्रब्रवाम" नामान्येभ्यो मनुष्येभ्यो नित्य-मुपदिशेम शतं शरदः एवञ्च तदुपासनेनतद्विश्वासेन तत्कृपया

च शतं शरदः शतवर्षं पर्यंतमदीनाःस्यामभूयाःस्म । कदाचित् कस्यापि समीपे दीनता कर्तव्या नभवेन्नो दारिद्र्यञ्च सर्वदा सर्वथा । तद्ब्रह्मकृपया स्वतंत्रावयम्भूयाःस्म । तथातस्यैवानुग्रहेणभूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योप्यधिकं वयम् पश्येम, जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम, अदीनाःस्यामचेत्यन्वयः । अत्यन्तकृपालुम्परमेश्वरन्त्य क्त्वान्यम्नोपासीरन्नोयाचेरन् इत्यभिप्रायः योन्यदेवमुपासते स पशुरेव 'देवाना" मितिश्रुतेः ॥ ४ ॥ कृतांजलिर्भूत्वैतैर्मंत्रैः स्तुवन्नी-श्वरम् सर्वकामसिध्यर्थं संप्रीत्या प्रार्थयेत् ॥

अथसमर्पणम् ॥

हे ईश्वर दयानिधे भवत्कृपयानेन जपादिकर्मणा धर्म्मार्थकाममोक्षाणान्नः सद्यः सिद्धिर्भूयात् ॥ ततईश्वरं नमस्कुर्य्यात् अमुकशर्म्माहम्भोस्त्वामभिवादये । अमुकवर्म्माहम्भोस्त्वामभिवादये । अमुकगुप्तोहंभोस्त्वामभिवादये । इत्यभिवादनम् ॥

अथप्रार्थनामंत्रः

ओं सूर्य्यश्चमामन्युश्चमन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यद्रात्र्या पापमकार्षम्मनसा वाचाहस्ताभ्याम्पद्भ्यामुदरेणशिश्ना ॥ रात्रिस्तदवलुम्पतुयत्किञ्चिद् रितम्मयिइदमहम्मामममृतयोनौ सूर्येज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥ सूर्यः । च । मा । मन्युः । च । मन्युपतयः च । मन्युकृतेभ्यः । पापेभ्यः । रक्षन्ताम् । यत् । रात्र्या । पापम् । अकार्षम् । मनसा । वाचा । हस्ताभ्याम् । पद्भ्याम । उदरेण । शिश्ना । रात्रि । तत् । अवलुम्पतुयत् । किञ्चिद् । दुरितम । मयि । इदम् । अहम । माम । अमृतयोनौ । सूर्य्ये । ज्योतिषि । जुहो-

मि । स्वाहा । सूर्यः "चराचरात्मेश्वरः,, मन्युः "दुष्टान्मनुष्यान्प्रतिक्रोध "कृत,, मन्युपतय ॥ ईश्वरदत्ताविज्ञानशान्त्यादयोगुणाः,,। मन्युकृतेभ्यः। "क्रोधकृतेभ्यः। पापेभ्यः सूर्यश्च मन्युश्चमन्युपतयश्च सर्वेमामांरक्षन्ताम् यत्कृपयाक्रोधादिकृतेभ्यः पापेभ्यो निवृत्त कुर्वन्तु ॥ कदाचित् पापकरणे मम रुचिरेवनस्यात् ॥ तत् कृपया तदुपासनेनच बयम्पुण्यात्मानोभूयाः स्म अग्रे कदाचिद्वयम् पापं नैव करिष्याम । इत्यभिप्रायः । "यत्तुरात्र्यारात्रौ, अज्ञानात् मनसा, वाचा, हस्ताभ्याम्, पद्भ्याम्, उदरेण, शिश्ना लिंगेन्द्रियेण, पापमकार्षम् कृतवानहम्, रात्रिः सर्वस्यादाता धारक आनन्द प्रदश्चेश्वर तत्पापम् कृपया भवान् अवलुम्पतु" दूरी करोतु, नाशयतुक्षमताम्। यत्किंचित् "अज्ञानात् दुरितम् ,, दुष्टम्, अनाद्यविद्या रूपान्धकार भूतम् किल्विषमस्ति मयिवर्ततेतदिदमपि भवान्कृपया "अवलुम्पतु" येयै जगति मम समीपे च पदार्थास्सन्ति तेते सर्वेभवद्रचिता भवत्पतिकाश्च अतोबयम भवते किन्दातुं समर्थाः किंतु कोऽपि पदार्थोस्माकं नास्त्येव भवत एव च सर्वे पदार्थाः संतीति निश्चयः। परंतु भवद्रचिता आत्मानो वयं विद्यामहे। तस्मादहंस्वात्मात्मानं अमृतयोनौ अमृतस्य मोक्षस्य कारणभूतेयम् प्राप्यपुनर्ज्जन्ममरणे कदाचिन्नेव भवतः ज्योतिषि स्वप्रकाशे अविद्यान्धकार नाशके त्वयि सच्चिदानन्द स्वरूपे जुहोमि ददामि भवदर्थं स्वात्मानं करोमि निश्चयेनेत्यभिप्रायः "स्वाहा" स्वकीय आत्मा यत् सत्यमाह। अन्तर्य्यामीयस्मिन्कर्मणि अनुमतिन्ददातीतितत्सत्यमेव वक्तव्यम् कर्तव्यञ्च। यद्वास्वावाक् अन्तर्य्याम्यनुकूलतयायदाहतत्कर्तव्यम् वक्तव्यञ्चेत्ययमर्थः स्वाहाशब्दस्यायमर्थ

उक्तः शतपथ ब्राह्मणे । हे जगदीश्वर हे सर्वान्तर्य्यामिन् अज्ञानादि प्रमादाद्यद्यत्पापं येन येनांगेनकृतम्मयातत्तत्सर्वं विज्ञानादिदानेनकृपयाक्षमस्व कदाचित्केनचित्पापंस्वल्पमपि-नैवकर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥

अथ गुरुमंत्रः ॥

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गोदेवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात् ॥ अस्य सर्वोत्कृष्टस्य गायत्री मंत्रस्यसंक्षेपेणार्थ उच्यते ॥ अ, उ, म् , एतत् त्रयम्मिलित्वा "ओं" इत्यक्षरम्भवति । एतच्च सर्वोत्तमम्परब्रह्मणो नामास्ति एतेनैकेनैव-नाम्नापरमेश्वरस्यानेकानिनामान्यागच्छन्तीति विज्ञेयम् ॥ तद्यथा अकारेण विराडग्नि विश्वादीनिनामान्यागच्छन्तीति वेद्यानि । तदर्थश्च, विविधं चराचरं जगद्राजयते प्रकाशयते सविराट् सर्वात्मेश्वरः । अञ्चते, अच्यते, गम्यते, प्राप्यते, सत्क्रियते वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेत्यग्निः परमेश्वरः ॥ विष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानिसन्ति यस्मिन्सविश्वः । यद्वाविष्टोस्ति प्रकृत्यादिषुयः सविश्वः । एतदाद्यर्था अकाराद्विज्ञेयाः ॥ उकारेण हिरण्यगर्भ, वायु, तैजसादीनि नामानीश्वरस्यायान्ति, तद्यथाहिरण्यम् तेजसो नामास्ति, हिरण्यानिसूर्य्यादीनि तेजांसिगर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः यद्वाहिरण्यानां सूर्य्यादिनां तेजसां गर्भोधिष्ठानं स हिरण्यगर्भ । वातिधारयत्यनन्त बलत्वात् सर्वं जगत्सवायुः सचेश्वर एव नान्यः सूर्य्यादीनाम्प्रकाशकत्वात् स्वयम् स्वप्रकाशत्वात्तेजस ईश्वरः एतदाद्यर्था उकाराद्विज्ञातव्यः ॥ मकारेणेश्वरादित्य प्राज्ञादीनि नामानि बोध्यानि । तद्यथाईष्टेऽ-सावीशस्सर्वशक्तिमान् न्यायकारीश्वरः अविनाशित्वान्नित्यानंदस्व-

रूपत्वादादित्यः परमात्मा। प्रजानाति सकलं जगत् प्रकृष्टश्चासौ-ज्ञश्च विज्ञानस्वरूपत्वात्प्राज्ञः प्रज्ञएव प्राज्ञः। एतद्यर्था मकारन्नि-श्चेतव्या ध्यायाश्चेति प्रणवार्थः संक्षेपतः॥

अथ महाव्याहृत्यर्थाः संक्षेपतः॥

भूरितिप्राणः, भुवरित्यपानः, स्वरितिव्यानः। इतितैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्॥ प्राणति जीवयति सर्वान् प्राणिनस्ससउप्रणस्य प्रणः प्राणः प्राणादपिप्रियस्वरूपो वासचेश्वरएव। अपानयति दूरीकरोति सर्वंदुःखं मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्म्मात्मनां यस्सोपानो दयालुरीश्वरः। व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगदभिव्याप्य स व्यानस्सर्वाधिष्ठानं बृहद्ब्रह्म एतदाद्यर्था महाव्याहृतीनां ज्ञातव्याः॥ तत्, सवितुः, वरेण्यम्, भर्गः, देवस्य, धीमहि, धियः, यः, नः, प्रचोदयात्॥ सुनोति, सुवति सूतेवोत्पादयति सृजति, सकलं जगत् स सर्वपितासर्वेश्वरः॥ स सवितापरमात्मावरंवर्तुमर्हति श्रेष्ठंयत्स्वरूपं तद्वरेण्यम् निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धसकलदोषरहितं पकम् परमार्थस्वरूपं विज्ञानस्वरूपं यत्तद्भर्गः। दीव्यति, प्रकाशयति, मोदयति, खल्वानंदयति, सर्वं विश्वं सदेवः तस्यदेवस्य धीमहि तस्यधारणे विज्ञानादि बलेनैववयम् पुष्टाभवेम। "धियो,, धारणावत्योबुद्धयः "यः,, परमेश्वरः "नः, अस्माकम् "प्रचोदयात्,, प्रेरयेत्। हे सच्चिदानन्दस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव, हे अज. हे निराकार सर्वशक्तिमन्न्यायकारिन्, हे करुणामृतबारिधे "सवितु" र्देवस्यतवयद्वरेण्यम्भर्गस्तद्वयं "धीमहि" कस्मैप्रयोजनाय "यः" सविता देवः परमेश्वरः सः भवान्नोऽस्माकंधियोबुद्धीः प्रचोदयात्॥ ब्रह्मचर्यविद्याविज्ञानसद्धर्म जितेन्द्रिय परब्रह्मानंदप्राप्तिमतीः स्वकृपा कटाक्षेण परमेश्वरः

स्वशक्त्याकुर्य्यादस्मैप्रयोजनाय तत्परमात्मस्वरूपंवयंधीमहीति-संक्षेपतोगायत्र्यर्थोविज्ञेयः ॥ एवंप्रातस्सायंद्वयोस्सन्ध्ययोरेकान्त-देशंगत्वाशान्तोभूत्वा यतात्मा सन् परमेश्वरं प्रतिदिनम् ध्यायेत् ॥

इति प्रातस्सायंसंध्योपासनविधिस्समाप्ता ॥

अथ सायंसंध्येश्वरप्रार्थन यामयमेकोमंत्रोभिन्नोस्ति ।

ओम् अग्निश्चमा मन्युश्च मन्युपतयश्चमन्युकृतेभ्यः पापेभ्योरक्षन्ताम् । यदह्नापापमकार्षंमनसावाचाहस्ताभ्याम्पद्-भ्यामुदरेणशिश्ना ॥ अहस्तदवलुम्पतुयत्किञ्चिद् दुरितम्मयि । इदमहम्मामृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥ अग्निः । च । मा । मन्युः । च । मन्युपतयः । च । मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यः । रक्षन्ताम् । यत् । अह्ना । पापम् । अकार्षम् । मनसा । वाचा । हस्ताभ्याम् । पद्भ्याम् । उदरेण । शिश्ना । अहः । तत् । अवलुम्पतु । यत् । किञ्चित् । दुरितम । मयि । इदम् । अहम् । माम अमृतयोनौ । सत्ये । ज्योतिषि । जुहोमि । स्वाहा ॥ अञ्चु गतिपूजनयोः । अगि गत्यर्थः अग्नो-पपदान्णीञ्प्रापणे इत्यादिभ्यो धातुभ्यः अग्निशब्दस्सिध्यति । अगमानंदंमखं अगान् गुणंवा नयतिप्रापयति सोयमग्निः परमेश्वरः अन्यार्त्थः ओंकारार्थोद्रष्टव्यः ॥ "यदन्हा" दिवसे "अहः" स्वप्रकाशरूपः । "सत्ये" त्रैकाल्यबाध्ये अन्यत्सर्वं सूर्य्यश्च-मेतिमंत्रार्थव्याख्यावद्धिज्ञेयम् ॥ सायंसंध्यायामिमंमंत्रंविहाया-न्यात्सर्वंप्रातस्संध्यावद्धिज्ञेयंकर्त्तव्यंचेति ।

अथाग्निहोत्रविधिलिख्यते संक्षेपतः ॥

ओं भूरग्नयेप्राणायस्वाहा, ओम्भुववर्वायवेऽपानायस्वाहा, ओं स्वरादित्याय व्यानायस्वाहा, ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादि-त्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा, ओमापोज्योतीरसोमृतं

ब्रह्मभूर्भुवः स्वरों स्वाहा, ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥ आग्नेयावदिच्छे-त्तावद्गायत्रीमंत्रेणस्वाहांतेन होमंकुर्य्यात् प्रातस्सायंसन्ध्यो-पासनकरणानान्तरम् ॥ एतानिसर्वाणीश्वरनामान्येववेद्यानि। एतेवमर्थागायत्र्याद्रष्टव्याः ॥ अग्नयेपरमेश्वराय तदर्थंहोत्रं, हवनंक्रियततेयस्मिन्कर्न्मणि तदग्निहोत्रम् ॥ ईश्वराज्ञापालनार्थं-वा ॥ सुगन्धि, पुष्टि, मिष्ट, रोगनाशक, बुद्धिवृद्धिकरैर्गु-णैर्युक्तानान्द्रव्याणां होमन वायुवृष्टि जलयोः शुद्धयपृथ्वीस्थ पदार्थानाम् सर्वेषांशुद्धवायुजलयोगा दत्यन्तोत्तमम् तया स्वत्वात् सर्वेषां जीवानां तदुपचारतयात्यन्तसुखलाभो भवती श्वरस्तदुपरिप्रसंन्नश्चेत्यतदाद्यर्थमग्निहत्रकरणम ॥ इति संक्षेप-ग्निहोत्रविधिस्समसमाप्ता ॥

अथ तर्पणविधिर्लिख्यते ॥

तृप्यन्तितर्प्पयंत्यनेन शिष्टान्धर्म्मात्मानो दिव्यगुणवतो ज्ञा-निनस्तत्तर्पणम् ॥

अथ देवतर्पणम् ॥

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम् ॥ १ ॥ ओं ब्रह्मादि देव-पत्न्यतृप्यन्ताम् ॥ १ ॥ ओं ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् ॥ १ ॥ ओं ब्रह्मादि देवगणास्तृप्यन्ताम् ॥ चतुर्वेदविद्भ्यः दिव्यगुणवद्-भ्यः तत्स्त्रीभ्यस्तादृशीभ्यस्तत्तत्सुतेभ्यस्तेभ्यः तत्तच्छिष्येभ्यो-गणेभ्यश्च श्रेष्ठाः पदार्थादेयाः सर्वैरिति ॥ ईदृशाजनाः देवाभवन्ति इति वेद्यम् ॥

अथर्षितर्प्पणम् ॥

ओम्मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम् ॥ २ ॥ ओम्मरीच्याद्यृषि पत्न्यस्तृप्यन्ताम् ॥ २ ॥ ओंमरीच्याद्यृषि सुतास्तृप्यन्ताम् ॥ २ ॥

ओंमरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् २ ॥ वेदादिविद्याध्यापकास्तद्विद्याध्येतारश्चर्षयो वेद्याः ॥

अथ पितृतर्पणम् ॥

ओं सोमसदःपितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥ सोमे ईश्वरे सोमयागेवासीदन्ति सोमगुणाश्च जनैर्ग्राह्याः ॥ ओम् अग्निष्वात्ताः पिरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥ अग्निरीश्वरः सुष्टुतया आत्तो गृहीतोयैस्तेअग्निष्वात्ताः । यद्वाअग्नेर्गुणज्ञानात्पदार्थविद्याःपृथिवी जलव्योमयानयंत्र रचनादिकाःसुष्टुतया आत्तागृहीतायैस्तेअग्निष्वात्ताः ॥ ओम् बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥ बर्हिषिसर्वोत्कृष्टेब्रह्मणिशमदमादिपूत्तमेषुगुणेषुवा सीदन्तितेबर्हिषदः ॥ ओम् सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥ यज्ञेनोत्तमौषधिरसम्पिबन्तिपाययन्तिवातेसोमपाः । ओम्हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३॥ हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितं वृष्टिजलादिकं भोक्तुम्भोजयितुंशीलमेषान्तेहविर्भुजः ॥ ओम् आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥ आज्यंघृतं ॥ अजगतिक्षेपणयोर्धात्वर्थादाज्यं विज्ञानं पांति रक्षन्ति पाययन्ति रक्षयन्ति विज्ञनयेविद्वांसस्ते आज्यपाः ॥ ओम्सुकालिनःपितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥ शोभनः ईश्वरविद्योपदेशस्य करणस्य ग्रहणस्य कालोयेषान्ते सुकालिनः ॥ यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषान्ते सुकालिनः । ओम्यमादिभ्योनमः यमादींस्तर्पयामि ॥ ३ ॥ पक्षपातं विहाय व्यवस्थाकर्त्तारोवा ॥ ओम्पितृभ्यः स्वधायिभ्यःस्वधानमः पितॄंस्तर्पयामि सुष्टुतया श्रेष्ठान्विदुषो गुणान्वा सयद्भ्यस्तत्रवसद्भ्यश्चवसुभ्यः विज्ञानाद्यनन्तघनेभ्यः स्वान्जनान्धारयद्भ्यः पोषयद्भ्यश्च ॥ यद्वा व्यापकायेश्वराय सर्वत्र वसवे ॥ ओम्पितामहेभ्यः स्वधा-

यिभ्यः स्वधानमः पितामहांस्तर्पयामि ॥३॥ रुद्रेभ्यः पक्षपातरहिते-भ्यःदुष्टान्रोदयद्भ्यः रुद्रायेश्वरायवाओंप्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधानमः प्रपितामहांस्तर्पयामि ॥ ३ ॥ आदित्यवदुत्तमान्गुणान्-प्रकाशकेभ्यः विद्वद्भ्यः आदित्यविनाशिनईश्वरायवा ॥ ओम् मात्रे स्वधानमोमातरन्तर्पयामि ॥ ३ ॥ ओं पितामह्यै स्वधानमः पितामहींस्तर्पयामि ॥ ३ ॥ ओं प्रपितामह्यै स्वधानमः प्रपिता-महींस्तर्प्पयामि ॥ ३ ॥ पित्रादिसदृशीभ्यस्तत्स्त्रीभ्यः ॥ ओं सत्पत्न्यैस्वधानमस्तत्पत्नींस्तर्प्पयामि ॥ ३ ॥ प्रीत्यासत्कारार्थो-यमारम्भः ॥ ३ ॥ ओं सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तप्पयामि ॥३॥ स्वसमीप प्राप्तेभ्यः पुत्रादिभ्यः ॥ ३ ॥ ओमाचार्य्यादिभ्यः सम्बन्धिभ्यःस्वधानमः आचार्य्यादीन्सम्बन्धिनस्तर्प्पयामि ॥ ३ ॥ गुर्वादि सख्यन्तेभ्यः ॥ एतेषांसोमसदादीनां श्रद्धयातर्प्पणंकार्य्यं विद्यमानानाम् ॥ श्रद्धयायत्क्रियते तत्श्राद्धम् तृप्त्यर्थं यत्क्रि-यते तत्तर्प्पणम् "वसूनवदन्ति वैपितृन् रुद्रांश्चैव पिताम-हान् ॥ प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषासनातनी" यैश्चतुर्विंश-ति वर्ष पर्य्यन्तम् ब्रह्मचर्य्यं कृतन्ते बसवः पितृवत्सत्कर्त-व्याः । यैश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्ष पर्य्यंतम्ब्रह्मचर्य्यं कृतन्ते रुद्राः पित मह्वत्सत्कर्त्तव्याः पित्रपेक्षयाधिक विद्यावत्वात् ॥ यैर-ष्टचत्वारिंशद्वर्षपर्यंतंजितेन्द्रिययै विद्याध्ययनार्थंब्रह्मचर्य्यंव्रतंकृतं ते आदित्याः ॥ प्रपितामहवत्सत्कर्त्तव्याः ॥ पितृपितामहादीनां मकाशात्पूर्णविद्या वत्त्वात्सर्वेभ्योधिक सत्कारः कर्त्तव्यः अत्रा-र्थेप्रमाणभूता पुरुषोवाच यज्ञ इत्यादि श्रुतयः प्रतिपादिताः छान्दोग्योपनिषदिद्रष्टव्याः ॥ अक्रोधनाः शौचपराः सततंब्र-ह्मचारिणः ॥ न्यस्तशस्त्रामहाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ अक्रो-धनान्सुप्रसादा न्वदन्त्येतान्पुरातनान् लोकस्याप्यायने युक्तान्

श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ इति मनुस्मृतेस्तृतीयाध्यायस्थौश्लोकौ-स्तः ॥ अनेनप्रमाणेन युक्तथाचविद्यामानान्विदुषः श्रद्धया सत्कारेण तृप्तान्कुर्यादित्यभिप्रायः श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमानित्युक्त-त्वात् ॥ अज्ञोभवतिवैबालः पिता भवति मंत्रदः ॥ अज्ञंहि-बालमित्याहुः पितेत्येवंतुमंत्रदम् ॥ इत्यादिक मनुस्मृतेर्द्वितीया-ध्यायउक्तम् ॥ येज्ञानिनो मनुष्यास्ते पितृवत्सत्कर्त्तव्याः ॥ कस्मादज्ञज्ञानशून्यम्मनुष्यं बालमित्याहु र्ज्ञानिनंपितरञ्चे-तिवेदादिपूक्तत्वात् ॥ 'त्वन्नः पिताअविद्यायाःपरम्परारन्तारयसि" त्यादिछान्दोग्योपनिषदादिश्रुतिभ्यः ॥ इतितर्पणाभिप्राय उक्तः संक्षेपतः ॥ देवतर्पणे द्विजेनैकेकस्मैएकैकांजलिरुपवीतिनैकैकेन-मंत्रेणदेयः ॥ एवंनिवीतिनाच द्वौद्वावंजलीकण्ठस्थेनयज्ञोपवीतेन-ऋषिभ्यः ॥ एवमेवचापसव्येनचत्रीं स्त्रीनंजलीन्दद्यात्पितृभ्यः' पूर्वोत्तरदक्षिणादिकेनक्रमेणेति ॥ इति तर्पणविधिः समाप्तः ॥

अथ बलिवैश्यदेवविधिर्लिख्यते ॥

वैश्यदेवस्य सिद्धस्य गृह्येग्नौ विधिपूर्वकम् ॥ आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणोहोममन्वहम् ॥ १ ॥ यदन्नं पक्वम्भो-जनार्थम्भवेतेनैव बलिवैश्यदेवकर्म कार्य्यम ॥ ओं पुनन्तुमां-देवजनाः पुनन्तुमनसा धियः ॥ पुनन्तु विश्वा भूतानिजात-वेदः पुनीहि मास्वाहा ॥ २ ॥ पुनन्तु । मा । देवजनाः । पुनन्तु । मनसा । धियः । पुनन्तु । विश्वाभूतानि जातवेदः । पुनीहि । मा । स्वाहा ॥ हेजातवेदः परमेश्वर मा माम् पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु भवदुत्पादितादेवजना विद्वांसः अष्टाज्ञानिस्तेपि विज्ञान विद्यादानेनमाम् पुनन्तु पवित्रंकुर्वंतु तथामनसाभवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषय ध्यानेन वा नोबुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु तथा भवत्कृपयाविश्वानिसर्वाणि संसा-

रस्थानि भूतानि पुनन्तु पवित्राणि सुखानन्दयुक्तानि भवन्तु ॥ ओंमग्नयेस्वाहा । अग्नयर्थउक्तः । ओंसोमायस्वाहा । सर्वानन्द प्रदाय सर्व जगदुत्पादकायच । ओं मग्नीषोमाभ्यां स्वाहा । प्राणापानाभ्या मनयोरर्थौ गायत्री मन्त्रार्थ उक्तः । ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । विश्वस्थेभ्यो विश्वप्रकाशकेभ्य ईश्वर गुणेभ्यः विद्वद्भ्योवा । ओंधन्वन्तरयेस्वाहा । सर्वरोग विनाशकायेश्वराय । ओं कुह्वै स्वाहा । अमावस्येष्टिप्रतिपादितायैचित् शक्तये । ओं मनुमत्यैस्वाहा । विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननज्ञानं यस्याश्चेतिसः साचितिशक्तिरनुमतिः । ओं प्रजापतयेस्वाहा । सर्वजगत्स्वामी रक्षक ईश्वरः । ओं सहद्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा । ईश्वरेणसहोत्पादिताभ्यां यद्वापृथुविस्तारे सर्वस्मिन जगति वितृतौ व्यापकः । द्यौः सर्वं जगत्प्रकाशक' सुखस्वरूपो वेश्वरोत्र गृह्यते । ओं स्विष्टकृतेस्वाहा । सुष्टुशोभनमिष्टं सुखंकरोतियस्सचेश्वरः । एतैर्मंत्रै र्होमं कृत्वाग्नेः सजलेन हस्तेन परिक्रमणं कुर्य्यात् ॥

अथ बलिप्रदानम् ॥

ओं सानुगायेन्द्रायनमः । पूर्वस्यान्दिशि । नित्यैर्गुणैस्सह बर्त्तमानः परमैश्वर्यत्वान्नीश्वरोरत्र गृह्यते । ओं सानुगाययमाय नमः । दक्षिणस्यांदिशि । प.पातरहितोन्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्मात्रवेद्यः । ओं सानुगाय बरुणायनमः । पश्चिमायान्दिशि । विद्यायुक्तमगुणविशिष्टम्सर्वोत्तमः परमेश्वरोत्रगृहीतव्यः । ओं सानुगायसोमाय नमः । उत्तरस्यांदिशि । अस्यार्थ उक्तः । ओं मरुद्भ्योनमः । द्वारि । मरुतः प्राणाः ईश्वराधारेण सकल विश्वन्धारयन्ति चेष्टयन्ति च "सः प्राणस्य प्राणः" इति केनोपनिषदे जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्यां । ओं मरुद्भ्यो

नमः। अप्सु वायव्यांदिशि । अस्यार्थः शन्नोदेवीरित्यत्रोक्तः। ओं बनस्पतिभ्योनमः । मुसलोलूखले आग्नेय्यांदिशि। बनानांसेव्य सर्बलोकानां पतय ईश्वरो बहुवचनमत्रादरार्थम्। ओं श्रियैनमः। ऐशान्यान्दिशि । श्रीयते सेव्यते सर्बैर्ज्जनैस्सा श्री रीश्वरस्सर्बं-सुखशोभावत्वात्। ओं भद्रकाल्यैनमः । नैऋत्यांदिशि। भद्रं कल्याणं सुखं कलयितुं शीलमस्याः सा भद्रकालीश्वरः। ओं ब्रह्म पतये नमः ब्रह्मणस्सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य पतिरीश्वरः। ओं वास्तुपतयेनमः। वास्तुमध्ये। वसन्तिसर्वाणि भूतानि तद्वास्त्वा-काशंतत्पतिरीश्वरः। ओं विश्वेभ्योदेवेभ्यो नमः। अस्यार्थउक्तः। ओं दिवाचरेभ्योभूतेभ्योनमः । ओं नक्तञ्चारिभ्योभूतेभ्यो नमः आकाशे। दिवसेयानि भूतानि विचरन्तिरात्रौचतानिर्विघ्नम्मा कुर्वंतु। तैस्सहा बिरोधोऽस्तु नएतदर्थोयमारम्भ ईश्वर कृपयैव-भवेन्नः। ओं सर्बात्मभूतयेनमः। पृष्ठवास्तुनि सर्वेशां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्वेश्वरोनान्यः। अपसव्यम्॥ ओंपितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधानमः ॥ इतिनित्यश्राद्धम्॥ अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणो नमः इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टता मान्यज्ञापनार्थ आरम्भः॥ सव्यम्॥ शुनाञ्च पतितानाञ्च श्वपचां पापरोगिणाम्॥ वायसानां कृमीणांच शनकै र्निर्वपेद्भुवि ॥ अनेनषड्भागान्भूमौ कुर्यात्। एवं यः सर्व भूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्च्चति। सगच्छति परं स्थानं तेजोमूर्त्तिपथर्जुना॥ एवं सर्वेषा भूतानाम हिंसया सत्कारं करोति यस्सपथर्जुना सरलेन मार्गेण परम् प्रकृष्टसुख स्वरूपं स्थानं प्राप्नोत्यभिप्रायः॥ १॥ इति बलिवैश्य देव विधि समाप्ता॥

॥ अत्राहमनुः ॥

कृत्वैतद्बलिकर्मैव मतिथिम्पूर्वमाशयेत् । भिक्षांच भिक्षवेदद्या

द्विधिवद्ब्रह्मचारिणे । १ ॥ गृहस्थः एवं अमुना प्रकारेण बलिवैश्वदेवं कर्म कृत्वा अतिथिं पूर्वं प्रथमं विधिवत्सत्कृत्य भोजयेत् ॥ तथैवब्रह्मचारिणेविद्यार्थिने भिक्षां ग्रहीतुमागताय सत्कृत्य प्रीत्यान्नन्दद्यात् ॥ १ ॥ यत्पुण्यफलमाप्नोति गान्दत्त्वाविधिवद्गुरोः ॥ तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षांदत्वाद्विजोगृही ॥ २ ॥ यादृशस्सत्कारो गुरोः कर्त्तव्यस्तादृशएवातिथेश्च ॥ अतिथेस्सेवयातस्यसंगेनच गुरुवद्ज्ञान प्राप्तिर्भवति प्रश्नोत्तर करणे नातोतिथिसेवा सर्वैः कार्य्येति ॥ २ ॥ भिक्षांवाप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधि पूर्वकम् ॥ वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ३ ॥ ईदृग्लक्षणोऽतिथिर्ग्राह्यो वेदतत्त्वार्थ विद्वान् अर्थात् वेदशास्त्रवित् वेदस्ययस्तत्वार्थ ईश्वरबोधस्तमपियथा वद्यो जानाति धर्मात्मासन् तस्मै ब्रह्मविदेसत्कृत्यविधिपूर्वकं भिक्षाम्भोजनार्थमन्नं उदपात्रं जलपात्र मन्यद्वस्त्रादिकं वा गृहस्थोदद्यादेव ॥ ३ ॥ नश्यन्ति हव्य कव्यानि नराणामविजानताम् ॥ भस्मिभूतेषू विप्रेषुमोहाद्दत्तानिदातृभिः ॥ ४ ॥ दातृभिर्गृहस्थैर्भस्मीभूतेषुविद्याविज्ञानशून्येषु धर्मानुष्ठानरहितेषु प्रमादिष्वतिथिषुमोहादज्ञानात् हव्यकव्यानि देवपित्रर्थं संस्कृतान्यन्नानिदत्तानि तानितेषामविजानतां विवेकशून्यानां नराणां गृहस्थानां नश्यन्तिनष्टानिनिरर्थकानिभवन्तीतिवेद्यम् अतस्तादृशानान्दुष्टानामतिथीनां सत्कारोनैवकार्य इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ विद्यातपः समृद्धेषु हुतंविप्रमुखाग्निषु । निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैवकिल्विषात् ॥ ५ ॥ किंत्वीदृशानामतिथीनां गृहस्थैः सेवाकार्या कीदृशानां ॥ तद्यथा ॥ विद्यातपः समृद्धेषु ॥ विद्यापृथिवीमारभ्येश्वरपर्य्यन्तानांपदार्थानांयथावत्वविज्ञानं, तप-

अन्यायपक्षपातरहितोयोधर्मइंद्रियाणां विजयश्चतयोरनुष्ठानेन प्राप्त्याच ताभ्यां सम्यगृद्धावृद्धास्तेषु ॥ कथंभूतेषु विप्रमुखाग्निषु विप्राणां विदुषांमुखानीवअग्निवत्प्रज्वलितानि विद्ययाप्रकाशिता-नियेषांते विप्रमुखाग्नयस्तेषुविप्रमुखाग्निष्वनुत्तमेषुधर्मात्मसु सर्वोपकारकेष्वतिथिषु यद्धुतं अर्थात् तेभ्यः श्रद्धया दत्तं च महतः किल्विषात् तान्दातृगृहस्थान् निस्तारयत्युद्धरति तेषां प्रसंगेन नराणां यद्विज्ञानम्भवति तद्विद्यान्धकारदुःखसागरादुद्धृत्य व्यावहारिकं पारमार्थिकञ्चानन्दम् प्रापयतीत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥ सम्प्राप्तायत्वतिथयेप्रदद्यादासनोदके ॥ अन्नञ्चैव यथाशक्ति सत्कृत्यविधिपूर्वकम् ॥६॥ गृहस्थः सम्यक्प्राप्ताय अतिथयेप्रत्युत्था-ननमस्कारादिकंकृत्वा विधिपूर्वकं सत्कृत्यपुनरासनमुदकञ्च प्रदद्यात्तथैव यथा शक्त्यन्नञ्च ॥ ६ ॥ तृणानिभूमिरुदकंवाक्-चतुर्थीचसूनृता ॥ एतान्यपिसतांगेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ७ ॥ सतांसतपुरुषाणां गृहस्थानां गेहे एतानि अपि शब्दादन्यच्च कदाचन नोच्छिद्यन्ते नष्टानि न्यूनान्यदेयानि वा कदाचिन्नभवन्ति ॥ कानितानीत्याह तृणानिघासादीनि भूमिर्निवासस्थानं । उदकंजलदुग्धा-दिकं । मधुरवाणीसूनृताअन्नञ्चेति गृहस्थास्सदैवैतान्यतिथि-भ्योददतीत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥ एकरात्रंतुनिवसन्ना तिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ॥ अनित्यंहिस्थितोयस्मा त्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ ८ ॥ कीदृशोजनोऽतिथिर्भवतीत्याह ॥ एकरात्रं एकरात्रपर्य्यन्तं निवासं कुर्य्यात्सोतिथिः स्मृतो भवति कथम्भूतः । सः । शमादिगुण वान्विद्येश्वरविच्चनान्यः । पूज्योभवति अन्यस्त्वापत्कालवान्प्राणा-त्यये समये अन्न जलादिदातुं योग्यो भवति ॥ अतिथेः किं लक्षणमित्याह ॥ यस्मादेकत्र नित्यं स्थितो न भवति तस्मात्का-

रणात्सोऽतिथि रुच्यते अविद्यमानाह्यनियता तिथिर्दिवसो यस्य सो तिथिर्नान्यः ॥ ८ ॥ नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकं तथा ॥ उपस्थितं गृहेविद्या द्भार्य्यामत्राग्नयोपि वा ॥ ९ ॥ गृहस्थागृहेयत्र भार्य्यायत्राग्नयः । अग्निहोत्रस्थानम्पाकशालांवा तत्रापि एकग्रामीणमेकस्मिन्ग्रामेनिवासशीलंकुटीम्मठम्वारचयित्वा तत्रैकत्रनिवसन्तंतथा सांगतिकं संगत्यावनम् प्रतिष्ठां सत्कारञ्चे-च्छन्तं तत्राप्युपस्थितं अतिथिं न विद्यान्नैवजानीयात् ईदृशोतिथिर्गृहस्थेन सत्कत्तव्योनैवभवतीत्यभिप्रायः ॥ सांगतिकं-सततम् प्रियवाद्युच्यते ॥ यश्चयथार्थान्गुणान्दोषांश्च सम्मुखे समक्षे कथयतितस्यैवसङ्गेन जनानांमुखलाभोभवतिनान्यथा ॥ अत्राहविदुरोधृतराष्ट्रम्प्रतिमहाभारते । पुरुषाबहवोराजन्सततम्-प्रियवादिनः ॥ अप्रियस्यचपथ्यस्य वक्ताश्रोताचदुर्लभः ॥ १ ॥ हे राजन्धृतराष्ट्र । सततम्प्रियवादिनः श्रेष्ठा श्रेष्ठाचारिणामनुकूल-कर्त्तारः । पुरुषाअस्मिंल्लोके बहवस्सन्ति किन्तु श्रवणेह्यप्रिय-म्वचनम्भवेत्परन्तुतद्भवेत्पथ्यंनःमकल्याणकारकन्तस्यवक्तापुरुषःदुर्ल-भोदुःखेन महाभाग्येन लभ्यो भवति तथैव श्रोताच ईदृशा अतिथयो गुरव उपदेष्टारश्च श्रेष्ठा भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥ उपासतेये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ॥ तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १० ॥ येगृहस्थाभूत्वापरगृहेपक्वमन्न-म्पुण्यार्थमतिथिवद्भोक्तुमिच्छन्ति तेऽबुद्धयस्सन्तीतिवेद्यम् ॥ किन्तुयाजनाध्यापकाभ्याम्मित्रतया च भोजनान्नग्रहणे दोषो नास्ति यदितेतिथिवत्परान्नम्भोक्तु मिच्छन्त स्सन्तःपरगृहमुपासते तेनहेतुना दोषेणप्रेत्य मरणम् प्राप्य अन्नादि दायिनामन्न दातृणाम्पशुताम्व्रजन्ति प्राप्नुवन्तीत्यभिप्रायः अर्थाद्गृहस्थेना-न्येभ्योन्नादिकंदातुमधिकारः । नचान्येभ्यो ग्रहीतुमिति ॥ १० ॥

अप्रणोद्योतिथिः सायंसूर्य्योढोगृहमेधिनाम् ॥ कालेप्राप्तस्त्वकालेवा-नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥ १ ॥ अस्यगृहस्थस्य अप्रणोद्योप्रेरितो-तिथिः सूर्य्योढोदिवसे यत्र कुत्र निवसन्सायंकालेप्राप्तः अकाले रात्रौ वा अनश्नन्भोजनमकुर्वन्सन्गृहे न निवसेत् अर्थात् अन्नजलादि दानेन गृहस्थेनावश्यं सोतिथिस्सत्कर्तव्यइत्य-भिप्रायः ॥ ११ ॥ नैवस्वयंतदश्नीयादतिथिं यन्नभोजयेत् ॥ धन्यंयशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यञ्चातिथिपूजनम् ॥ १२ ॥ गृहस्थोयदन्न-मतिथिं न भोजयेत्तदन्नंस्वयंनैवाश्नीयानैवभुंजीत किन्तुयद्यत्स्वयं-भुंजीततत्तदतिथयेपिदद्यादेव कुतः अतिथिपूजनं धन्यंयशस्य मायुष्यंस्वर्ग्यन्भवत्यतः ॥ तद्यथा ॥ पुरुषार्थोद्यमयुक्त्युपदेशेनयन्थ व्ययः । प्रतिषेधेनच धनस्यलाभः स्थिरताच भवत्यतो धन्यम् ॥ विद्यादिश्रेष्ठगुणग्रहणेन अविद्यादि दुष्टदोषपरिषेधेनच यशस्करं भवति ॥ शरीरेन्द्रियवीर्य्यबुद्धिरक्षोपदेशेन प्रमादिव्यभिचारदु-ष्टाचार प्रतिषेधोपदेशेनचायुस्करम्भवति ॥ विद्याधर्मेश्वरोपदेशेना-विद्या अधर्म नास्तिक्याप्रतिषेधयुक्त्युपदेशेनेन्द्रिय सुखकरं मोक्षक-रञ्चातिथिपूजनमतिथिसत्कारो भवत्यतःकारणाद् गृहस्थैरतिथि सत्कारोवश्यंकार्य्यएवेत्यभिप्रायः ॥ १२ ॥ आसनवासथौशय्या मनुव्रज्यामुपासनाम् ॥ उत्तमेषूत्तमं कुर्य्याद्धीनंहीनेसमेसमम् ॥१३॥ सर्वेषामतिथीनां तुल्यासेवागृहस्थैर्नैवकार्य्या तेषामयथार्थत्वात्तद योग्यत्वाच्च ॥ कासेवेत्यत्राह । आसनं आवसथो निवासार्थं स्थानम् अनुव्रज्यागच्छतोनुगममुपासनांच अर्थात्समीपेस्थित्वा प्रश्नोत्तरकरणमेतदुत्तमगुणेषूत्तमम् कुर्य्यात् समगुणेषु समम्मध्य-गुणेषुमध्यमं न्यूनगुणेषुन्यूनञ्च ॥ किन्तुयादृशीयस्य विद्याश्रेष्ठ गुणाः शीलञ्च तादृश एवसत्कारः कर्त्तव्यो नान्यथा ॥ १३ ॥ सुवासिनीं कुमारीञ्च रोगिणीं गर्भिणीं स्त्रियः। अतिथिभ्योग्रएवैता

भोजयेदविचारयन् ॥ १४ ॥ सुवासिनीसद्योविवाहिता । कुमारी-याह्यविवाहिता यारोगयुक्तायाचगर्भवती ॥ तथेद्दशापुरुषाश्च । अतिथिभ्य अग्रे पूर्वमवभोजयेन्नात्रकार्य्याविचारणा ॥ १४ ॥ भुक्तवत्स्वथविप्रेषुस्वेषुभृत्येषुचैवहि ॥ भुंजीयातान्ततःपश्चादवशिष्टन्तुदम्पती ॥ १५ ॥ विप्रेष्वतिथिषु भुक्तवत्सु कृतभोजनेषुस्वेषु-भृत्येषुभरणीयेषु पुत्रादिषु कर्म्मकरेषु च भुक्तवत्सु अथेत्यनन्तरं तत्पश्चादवशिष्टंशेषान्नं दम्पतिमुख्यौस्त्रीपुरुषौभुंजीयातांभोजनं-कुर्य्यातामयमेवगृहस्थस्य परमो धर्म्मः ॥ १५ ॥ अघंतुकेवलंभुंक्ते यःपचत्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनंह्येतत्सतामन्नम्विधी-यते ॥ १६ ॥ योगृहस्थःवलिवैश्यदेवमतिथिसेवाम्पुत्रभृत्यादि-सत्कारमकृत्वा स्वभोजनार्थमेव पचतिपाकंकरोति सः अन्नादिकं नभुंक्ते किन्त्वघंपापमेवभुंक्ते यत्तयज्ञशिष्टाशनमर्थात् होमकरणाति-थ्यादि भुक्तशेषमन्नम्भवति तत्सत्पुरुषाणामन्नम्भवत्यतोविपरीत-मन्नमसत्पुरुषाणाम्भवतीतिवेदितव्यम् ॥ १६ ॥ एतेमनुस्मृतेस्तृ-तीयाध्यायस्थाः श्लोकाःसन्तीतिवेद्यम् ॥ एवम्प्रकारेणैतल्लक्षणा-नतिथीनवश्यंसत्कुर्य्यादगृहस्थोनान्यान्धूर्त्तान्पाखंडिनः ॥ इत्य-तिथिपूजनविधिस्समाप्ता ॥

अथ लक्ष्मीसूक्तमृग्वेदस्थं लिख्यते तदर्थश्च ॥

धनादिलक्षणालङ्कारेणश्रीदः परमात्मा स्तूयते ॥ लक्ष्म्यादि मुखकामोचन एवंस्तुवीत ॥

"ओम्हिरण्यवर्णांहरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् । चन्द्रां हिरण्म-यीं लक्ष्मींजातवेदोममावह" ॥ १ ॥ जातवेदाःसर्वज्ञंशास्त्रंयस्मा-ज्जातानि वस्तूनिसर्वाणिवेत्ति जानातिविन्दति प्राप्नोति यस्तत्स-म्बुद्धौ हेजातवेदःपरमेश्वर ॥ लक्ष्मींममसमीपेआवह आसमन्ता-

त्वाम्त्वंदेहीत्यर्थः ॥ कथम्भूतांताम् ॥ हिरण्यवर्णाम् ॥ हिरण्यस्यसुवर्णस्यवर्णइववर्णो यस्यास्तांहिरण्मयीम् ॥ दर्शनमात्रेणैव जनानाञ्चित्तंहर्त्तुंशीलंयस्यास्ताम् ॥ सुवर्णरजतस्रजाम् ॥ सुवर्णस्यरजतस्यचस्रक्मालाप्राप्यते यस्यांताम् ॥ चन्द्राम् आह्लादकत्रीम् ॥ हिरण्मयीम् ॥ हिरण्यंप्रकृतंप्रभूतमधिकंयस्यांतामीदृशींलक्ष्मीं हे ईश्वर नोदेही त्येतदर्थोभवान्प्रार्थ्यतेस्माभिः ॥ १ ॥ "ताम्मआवहजातवेदोलक्ष्मीमनपगामिनीम् ॥ यस्यांहिरण्यंविन्देयंगामश्वम्पुरुषानहम् " ॥ २ ॥ हेजातवेदः परमात्मन् ॥ तांलक्ष्मींमेमांप्रापयमह्यन्देहि ॥ कथम्भूताम् ॥ अनपगामोनीम् ॥ अपदूरङ्गन्तुंशीलंयस्याः सा अपगामिनीन अपगामिनी अनपगामिनी भवतूकृपया मत्समीपेस्थिराभवेत्ताम् । यस्यांभवदनुग्रहेण प्राप्तायांलक्ष्म्यामधिकंहिरण्यंकाञ्चनसुवर्णमहम्विन्देयम्प्राप्नुयाम् ॥ तथैवगांपृथिवीं दुग्धदात्रींवा ॥ श्रेष्ठमश्वमश्वांजात्यभिप्रायादेकवचनम पुरुषांश्चोत्तमान्भवद्दतान्विन्देयम् ॥ एतत्सर्वंसद्योहम्प्राप्नुयामेतदर्था भवत्प्रार्थनाक्रियतेस्माभिः ॥ २ ॥ अश्वपूर्वांरथमध्यांहस्तिनादप्रमोदिनीम् ॥ श्रियन्देवीमुपह्वये श्रीर्मादेवीर्जुषताम्" ॥ ३ ॥ हे जातवेदईश्वर मदर्थम्भवत्प्रेरितांश्रियं ममसमीपमागच्छन्तीमहमुपह्वये ॥ साचभवदाज्ञयामांजुषतांसेवतांमांविहाय इतस्ततः समागच्छतु ॥ किन्तुस्थिरासती ममसमीपेसदैवतिष्ठत्वित्यभिप्रायः कथम्भूतां तांश्रियम् ॥अश्वपूर्णाम्॥ अश्वैः पूर्णाअश्वपूर्णाताम् ॥ रथारमणीयामध्येयस्यान्ताम् ॥ हस्तिनांनादाहस्तिनादास्तैः प्रमोदयितुंशीलंयस्यास्तांराजश्रियंभवत्कृपा कटाक्षप्रापितामुपह्वयेसदैवरक्षयामीत्यर्थः ॥ ३ ॥ "कांसोस्मितांहिरण्यप्राकारामार्द्रांज्वलन्तिन्तृप्तान्तर्पन्तीम् । पद्मेस्थिताम्पद्म

वर्णान्तामिहोपह्वये श्रियम" ॥ ४ ॥ हे जातवेदईश्वर ताम्पूर्वोक्तांभवद्दत्तां श्रियमुपह्वये समीपे स्पर्द्धयामि पुनः कीदृशीम् ॥ कांसोस्मिताम् कांसधातुरिवउइतिवितर्केस्मितं-किंचिद्धसनशोभांसंपन्नांयस्यांताम हरिण्यं सुवर्णं प्राकारे नगरा बरणेयस्याँताम् ॥ आर्द्रांस्नेहयुक्ताम ॥ ज्वलन्ती-न्देदीप्यमानाम् ॥ तृप्तामानन्देन पूर्णकामाम्प्रसन्नाम् ॥ तर्प-यन्तीमानन्देन नः सदा सुखयन्तीम्पद्मे स्थिताम्पद्मासनेविराज-मानां शोभारूपाम् ॥ पद्मवर्णांपद्मस्यवर्णा इववर्णोयस्यादर्श-नीयांदर्शनप्रियां चक्रवर्तिराजश्रियं भवत्कृपयाहम्प्राप्नुयामिहा-स्मिन्नेव समयेचेत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ चन्द्राम्प्रभासांयशसा ज्वलन्तीं श्रियंल्लोके देवजुष्टामुदाराम् ॥ ताम्पद्मनेमिं शरण महम्प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतान्त्वाम्वृणोमि" ॥ ५ ॥ हेजात-वेद ईश्वर भवदुत्पादितांश्रियमहम्प्राप्नुयाम् ॥ कथम्भूताम् ॥ चन्द्राम् ॥ विद्याविज्ञानेनाह्लादां ॥ यशसापुण्यकीर्त्या ज्वल-न्तीन्देदीप्यमानां सर्बलोकप्रसिद्धाम् । यास्मिंल्लोकेमंसारेदेव-जुष्टांदेवैर्ब्रह्मादिभिर्मरीच्याद्यृषिभिर्मनुष्यादिभ विद्वद्भिश्चक्रवर्ति मन्वादिभी राजभिश्चजुष्टाम्प्रीत्यासेविताम् ॥ उदारामुदारंशी-लामसंख्यातदानकर्त्रीम ॥ पद्मानीवरथानांनेमयश्चक्राणिशोभा-रूपाणि यस्यांताम्पद्मनेमिं त्वांहेलक्ष्मयहं शरणमाश्रयम्प्रपद्ये ॥ त्वत्प्राप्तयामेममअलक्ष्मीर्दरिद्रादुःखरूपा नश्यतां नष्टाअदृश्या-भवतु ॥ एतदर्थंत्वामहम्वृणोमि ॥ अचेतनेपिचेतनवदुपचा-राददोषः ॥ यद्वाहेजातवेदईश्वरत्वामहं शरणमहम्प्रपद्ये प्राप्नुयामाश्रयंत्वामेव वृणोमि स्वी करोमि ॥ कस्मैप्रयोजनाय पूर्वोक्तांश्रियंभवत्कृपयाहम्प्रपद्ये तथाभवदनुग्रहेणममालक्ष्मी-स्सद्यो नश्यतामित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥ "आदित्यवर्णे तपसोधि-

जातोवनस्पतिस्तववृक्षोथबिल्वः ॥ तस्य फलानितपसानुदन्तु मायान्तरायाश्च वाह्माअलक्ष्मीः" ॥ ६ ॥ हे आदित्यवर्णे चित् शक्ते आदित्यस्यवर्णइववर्णोयस्याः स्वयम्प्रकाशात्सम्बुद्धौ हे जातवेद ईश्वर तवतपसोविज्ञानमयादनन्तसामर्थ्यात् बिल्वोवृक्षः वनस्पति संज्ञकः अधिजातः पृथिव्या उपर्य्युत्पन्नः संसारवृक्षोवा तस्यफलानि तपसाआदित्यतापेन यथानुदन्ति तस्माद्वृक्षाज्जीर्णानि भूत्वाभूमौ पतन्ति यथाच संसारवृक्षस्य कालेन पदार्थाजीर्णो भूत्वा नश्यन्ति तथैव मायाकपटछलरूपा अन्तराया विघ्नरूपाश्चवाह्या अपमानरूपास्त्यक्तव्या वाएतदादि लक्षणा अलक्ष्मीः हेईश्वर भवत्कृपादयोगुणानुदन्तुनाम मत्तो दूरीकुर्वन्तु तथैवच अविद्याजालस्यसत्त्वादयो बिरोधिनः संसारस्यापिमत्तोनुदन्तु दूरंगच्छन्त्वित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥ उपैतुमान्देवसखः कीर्तिश्चमणिनासह ॥ प्रादुर्भूतोसिराष्ट्रेस्मिन्कीर्तिंवृद्धिन्ददातुमे ॥ ७॥ देवानांदिव्य गुणवतां विदुषां जीवानां योनित्थंसखामित्र ईश्वरोविद्यानिधिर्वा मामुपैतु स्वकृपया प्राप्नोतुहृदिअन्तरात्मनि प्रकाशिताभवतु ॥ मणिनासहेश्वरकृपया कीर्तिश्चमामुपैतु ॥ हे परमेश्वर अस्मिन्राष्ट्रे अखण्डेराज्येजगति त्वाम्प्रादुर्भूतोसि तथा ममापिहृदये प्रादुर्भूतः प्रकटः प्रकाशितो भव ॥ अचेतनेपिचेतनवदुपचाराददोषः। भित्तिः पिपतिषतीति यथा लोके हेजातवेद ईश्वर पुण्यकीर्तिम्विद्यादि गुणवृद्धिञ्च मेमह्यम्कृपयाददात्वियस्माकं भवन्तप्रतिप्रार्थनास्तीमाम्भवान्स्वीकरोतु ॥ ७ ॥ क्षुत्पिपासामलाज्येष्ठाअलक्ष्मीर्नाशयाम्यहम् ॥ अभूतिमसमृद्धिञ्चसर्वान्निर्णुदमेगृहात् ॥ ८ ॥ हेजातवेद ईश्वर भवत्कृपया क्षुत्क्षुधारूपा पिपासारूपामला मलिना अज्येष्ठा अमान्या । इमाश्चतुर्विधा अलक्ष्मीः । अहंनाशयामि । अभूतिमनैश्वर्य्यं ।

असमृद्धिम् अनृद्धिं सुख नाम् वृद्धिं मेममगृहात् । हेजा-
तवेद ईश्वर तांसर्वान् त्वंनिर्णुददूरन्निसारय ॥ सर्वं मैश्व-
र्य्यं सर्वं सुखवृद्धिञ्च समत्प्रार्थितो भवान्ददातीत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥
गन्धद्वारन्दुराधर्षान्नित्यपुष्टांकरीषिणीम ।। ईश्वरीं सर्वभूता-
नान्तामिहोपह्वयेश्रियम् ॥ ९ ॥ गन्धस्सगन्धोद्वारे यस्यास्तांगन्ध-
द्वारां सर्वतः सुगधिव्याप्तां दुराधर्षां दुःखेनाधर्षोऽपमानं यस्यास्तां
किन्तुसर्वैस्सत्कृता ॥ नित्यञ्चया पुष्टातांनित्यपुष्टां पुष्टिकर्त्रीञ्च ॥
करीषिणीम् ॥ पुरुषार्थं कर्तुं शीलंयेषां तानीषितुं शीलंयस्यास्ताम्
सर्व भूतानामीश्वरीं सुखदात्रीम । तामेवम्भूतांश्रियमहमुपह्वये
समीपे सदैकरत्तयामि हे जातवेद ईश्वर तादृशीं श्रियम्मह्यन्ददा-
त्वित्यभिप्रायः ॥ ९ ॥ मनसः काममाकूतिम्वाचः सत्यमशीमहि-
पशूनांरूपमन्नस्यमयिश्रीः श्रयतांयशः ॥ १० ॥ हेजातवेद ईश्वर
मनसः आकूतिं पूर्णानन्दं कामं वाचः सत्यं सत्यभाषणाख्यं
ज्ञानंभवत्कृपयावयमशीमहिपशूनामन्नस्य च रूपं प्रियरूपदर्शनान्
पशूनन्नञ्च वयमशीमहिप्राप्नुयाम ॥ तथापशूनामन्नस्य श्रीः शोभारू-
पा पूर्वोक्तावा मयिभवद्भक्ते श्रेयतांसेवतांनिवसताम् ॥ यशः
कीर्तिश्च सदेत्यभिप्रायः ॥ १० ॥ कर्दमेन प्प्रजाभूतामयिसंभ्रम-
कर्दम ॥ श्रियम्वासयमेकुलेमातरम्पद्ममालिनीम् ॥ ११ ॥ हेजात
वेदः परमेश्वर तव याश्रीः प्रजाभूतात्वयोत्पादिता सा कर्दमेन
पुरुषार्थेन भवत्कृपयाच प्राप्यते ॥ हेकर्दम पुरुषार्थयुक्तोद्यम
मयि सम्भ्रम उद्युक्तः सम्यक् प्रवृत्तो भवेश्वरकृपया परन्तु मम
केवल पुरुषार्थेनैव साश्रीःनप्राप्यते ॥ तस्यात्हेईश्वर तांश्रियंकृपया
दृष्टया मेममकुले कुटुम्बे वासय स्थिरी भूतां कुरु ॥ कथम्भूताम् ।
मातृवन्मानदात्रीम् ॥ तथापद्ममालिनीम् ॥ पद्मानां मालाविद्यते
यस्यांताम्पद्ममालिनीम् ॥ सर्वं शोभायुक्ताम् ॥ मह्यन्देहीत्यभि-

प्राय: ॥ ११ ॥ आपःसृजन्तुस्निग्धानि चिक्लीतवसमे गृहे ॥ निच देवीम्मातरंश्रियम्बासयमेकुले ॥ १२ ॥ हेचिक्लीत परमेश्वर प्रेरित पुरुषार्थ सर्वद्रव्यमापक ॥ अचेतनेपिचेतनवदुपचाराद दोषः ॥ मे मम गृहे देवीन् द्योतनात्मिकान्देदीप्यमानाम्मातरं मान्यकारिणीं श्रियं नित्यं निवासय ॥ यद्वा हेचिक्लीतेश्वर सर्वद्रव्यविनिमापक ॥ ताम्पूर्वोक्तां श्रियं ममगृहे नित्यं निवासयेत्यन्वयः ॥ हेजातवेद ईश्वर मेममआपः प्राणाः कर्माणि वा स्निग्धानि स्नेहयुक्तानि वस्तूनि भवत् कृपया सृजन्तु रचयन्तु चेतिप्रार्थितोस्माभि-र्भवान् ॥ १२ ॥ आर्द्राम्पुष्करिणीम्पुष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम सूर्य्यां हिरण्मयींलक्ष्मींजातवेदोममावह ॥ १२ ॥ हेजातवेद ईश्वर आर्द्रां परस्परप्रीत्यादिस्नेहयुक्तां पुष्करिणीं पुष्करिण्याइव शोभा युक्ताम् । पुष्टिंपुष्टिरूपां सुवर्णांशोभनोवर्णोयस्यास्तां हेम मालिनीम् ॥ हेम्नः काञ्चनस्यमाला विद्यतेयस्यास्ताम् ॥ शोभा-युक्ताम् सूर्य्यां सूर्य्यवद्गुणैः प्रकाशस्वरूपाम ॥ हिरण्मयीम् ॥ हिरण्य प्रचुराम् ॥ लक्ष्मीम् ॥ सुलक्षणयुक्ताम ॥ यथोक्ताम् ॥ मम समीपे आवह आसमन्तात् प्रापयइत्यर्थः ॥ १३ ॥ आर्द्रां यः करणीं यष्टीम्पिङ्गलाम्पद्ममालिनीम् ॥ चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह ॥ १४ ॥ यःकरणीम् सुवर्णादिधातु-करणीम ॥ यशस्करीम्वा ॥ यष्टीम् ॥ रथस्य स्थानस्यवा सुवर्ण-स्तम्बशोभामयीम् ॥ पिङ्गलाम् पीतादि शोभनवर्णयुक्ताम् यथोक्ताम् लक्ष्मीम ॥ हेजातवेदःपरमेश्वर ममसमीपे आवह आसमन्तात् प्रापय इत्यर्थः ॥ १४ ॥ ताम्म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगा-मिनीम् ॥ यस्यांहिरण्यम् प्रभूताङ्गावोदास्यो श्वान्विन्देयम्पुरु-षानहम् ॥ १५ ॥ हेजातवेदईश्वर ताम्पूर्वोक्तांलक्ष्मीम् ॥ ममसमी-पमावहप्रापय मह्यन्देहि ॥ पुनःकथम्भूताम् ॥ लक्ष्मीम् ॥

सुलक्ष्याम् ॥ सुखलक्षणाम् ॥ अनपगामिनीम् ॥ सर्वतः स्थिराम् ॥ यस्यांलक्ष्म्यामप्रभूतमधिक मत्यन्ततोलरहितंसुवर्णंकाञ्चम ॥ भवत्कृपयाहम्विन्देयम् ॥ प्राप्नुयाम् ॥ पुनश्चयाःश्रेष्ठागावःइन्द्रियाणि किरणाः कान्तयोवा ॥ तथानुत्तमादास्योनुकूलसेवा कर्त्र्यस्ताश्चाहंभवत्कृपयाविन्देयम् । तथोत्तमानश्वान्पुरुषांश्चभवत्कृपया एतत्सर्वम्पुष्कलम्वयम् प्राप्नुयाम् ॥ भवान्नःपिता माता बन्धुर्गुरुः स्वामीच ॥ वयम्पुत्रवत्सर्वेभवन्तम् प्रति सर्वमेतत्प्राप्तुंप्रार्थयतेतदिदंसर्वं कृपया नो देहि सद्य इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥ यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ॥ श्रियः पञ्चदशर्चञ्च श्री कामः सततंजपेत् ॥ १६ ॥ योमनुष्यः शुचिः वाह्याभ्यन्तरे पवित्रसम्प्रीत्यायुक्तः परमेश्वरम्प्रार्थयन्सन्नेतैर्मंत्रै राज्यंहुतम् ॥ जुहुयादाग्नौ प्रतिदिनम्परमेश्वरम्प्रार्थयेत् तस्मैपूर्वोक्ता लक्ष्मीप्राप्ता भवेदेव ॥ यद्वा श्रियः लक्ष्म्याः पञ्चदशर्चम् ॥ पञ्चदशमंत्रात्मकंसूक्तंयःसम्यक्भक्त्यासततंजपेत् । नामानेनेश्वरम् प्रतिदिनं प्रार्थयेत् सोपीश्वरानुग्रहेण लक्ष्मीम् प्राप्नुयात् ॥ १७ ॥ इतिलक्ष्मीसूक्तार्थः समाप्तः ॥

इतिश्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामिसंगृहीतेसन्ध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधिश्चतुर्वेदोक्तोपस्थमंत्राणामर्थश्चसंपूर्णः ॥

———*———
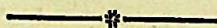
अथ वैष्णवी संध्या ॥

शुद्ध भूमि पै आसन बिछाय चन्दन अक्षत से पृथ्वी को पूजै॥ ॐ पृं पृथिव्यैनमः ॥ इस मंत्र से पुनः आसन पै बैठै बिभूति चन्दादि धारणकरि शिखाबाँधै इस मंत्र से "ॐब्रह्मग्रंथिसहस्राणि रुद्रशूलशतानिच । विष्णोर्नामसहस्रेण शिखाबंधंकरोम्यहम्" ॥ पुनः आचमन करै ॐ केशवायस्वाहा। ॐ नारायणायस्वाहा । ॐ माधवायस्वाहा ॥ ३ ॥ आचमन करि ॐ गं बिन्दविष्णूभ्यांनमः । हस्तप्रक्षालनम । ॐ मधुसूदनत्रिविक्रमाभ्यांनमः ओष्ठ शुद्धकरै॥ ॐ बामनश्रीधराभ्यांनमः मुखस्पर्शकरै ॐ हृषीकेशायनमः हस्तपोछै ॐ पद्मनाभाय नमः पादस्पर्श करै ॐ दामोदरायनमः कुशत्रयसे शिरपै जलसिंचन करै ॐ सङ्कर्षणायनमः मुखस्पर्शः ॐ बासुदेवाय नमः दक्षिण नासिकास्पर्शः ॐ प्रद्युम्नायनमः बामनासास्पर्शः ॐ अनिरुद्धायनमः दक्षिण नेत्रस्पर्शः ॐ पुरुषोत्तमायनमः बामनेत्र स्पर्शः ॐ अधोक्षजायनमः दक्षिणकर्णस्पर्शः ॐ नृसिंहायनमः बामकर्णस्पर्शः ॐ अच्युतायनमः नाभिस्पर्शः ॐ जनार्दनायनमः हृदयस्पर्शः ॐ उपेन्द्रायनमः शिरस्पर्शः ॐ हरयेनमः दक्षकंधास्पर्शः ॐ विष्णवेनमः बामकंधास्पर्शः इनन्यासनकोकरि प्राणायामकरै। दक्षिणअंगुष्ठसेदक्षनासाकोरोंकिवायु ८ बार जप पूर्वक खैंचे अनामिका कनिष्ठिकासे बामनासाकोरोंकि ३२ ओंकार जपि धीरे २ दहिने नासा द्वारा ॐ १६ बार जप सहित बायु छोड़ि बामहस्त में जल लै दहिने हाथसे ढ़ांकि हं यं रं लं वं इस मंत्र

को तीन बार पढ़ि नीचे गिरि रहा जो जलहै उससे तत्वमुद्रा अर्थात् अंगुष्ठ अनामिका योग से मूल मंत्रोच्चार पूर्व्वक ३ बार शिर सींचै शेष जल दक्षिण हस्त करि चलते स्वास द्वारा शरीरान्तर्गत आत्मा प्रच्छालित करि कृष्णवर्णजलको स्मरण करि श्वासके साथ बाहर हस्त में ल्याय आगे बज्रशिला को ध्यानकरि फट् इति मंत्र से पटकि मूलमंत्र से शुद्धजल से हाथशुद्धकरि सूर्य्यार्घ्यदेय मूलं " रविमंडलस्थाय श्रीबासुदेवायार्घ्यंकल्पयामि " इस मंत्र से अर्घ्य दैकै सूर्य्यमण्डलमें मूलदेवको ध्यानकरि गायत्रीजपै "ओंनारायणाय-विद्महेबासुदेवायधीमहितन्नोविष्णु प्रचोदयात"। १० बार जपि मूलमंत्र जपै ओं अस्यश्री विष्णुद्वादशाक्षर मंत्रस्य सदा शिव ऋषि गायत्रीछन्दः श्रीबासुदेवोदेवता ओं बीजम् नमः शक्तिः बासुदेवाय कीलकम् ममधर्म्मार्थकममोक्षार्थेजपेबिनियोगः। ओं सदाशिवऋषयेनमः शिरःस्पर्शः गायत्रीछन्दसेनमः मुखस्पर्शः श्री-बासुदेवदेवतायैनमः हृदयस्पर्शः ओं बीजायनमः गुह्यस्पर्शः नमः शक्तये पादस्पर्शः बासुदेवाय कीलकायनमः व्यापकम् ओं नमः अंगुष्ठाभ्यांनमः भगवतेतर्ज्जनीभ्यांनमः। बासुदेवाय मध्यमा-भ्यांनमः। बासुदेवायअनामिकाभ्यांनमः। भगवतेकनिष्ठाभ्यां नमः। ओं नमः करतलकरपृष्ठाभ्यांनमः ओं नमःहृदयाय॥ नमःभगवते शिरसेस्वाहा। बासुदेवायशिखायैवौषट। बासुदेवाय कवचायहुँ। भगवतेनेत्रत्रायवौषट्। ओंनमःअस्त्रायफट्॥ अथ ध्यानम्॥ बिष्णुशारदकोटि चन्द्र सदृशंशंखंरथांगंगदामंभोज-न्दधतंशिताब्जनिलयंकान्त्या जगन्मोहनं। आवद्धांगदहारकुण्ड-लमहामौलिस्फुरत्कंकणं श्रीबत्सांकमुदारकौस्तुभधरं बंदेमुनीन्द्रैः स्तुतम्। अथ मानसोपचार पूजा। लंपृथिव्यात्मकंश्रीबासुदेवाय

गंधं समर्प्पयामि हंआकाशात्मकं श्रीबासुदेवायपुष्पं समर्प्पयामि यंवाय्वात्मकंश्रीबासुदेवायधूपंसमर्प्पयामि रवन्ह्यात्मकं श्रीबासुदेवाय दीपंसमर्प्पयामि बंअमृतात्मकं श्रीबासुदेवायनैवेद्यंसमर्प्पयामि संशक्त्यात्मकं श्रीबासुदेवाय ताम्बूलंसमर्प्पयामि इति पूजा ॥ अथ जप-जपांतमें जलहाथ में लै मंत्रपढ़ै "ओंगुह्यातिगुह्यगोप्तात्वंगृहाणास्मत्कृतंजपम् । सिद्धिर्भवतुमेदेवत्वत्प्रसादान्महेश्वर" । यहमंत्रपढ़िध्यानकरिदेवकेदक्षहस्तमेंजलरूपजपअर्प्पण करै पुनःदेवतर्प्पणकरै (यथामूलंसांगं सबाहनंसपरिवारं श्री बासुदेवंतर्प्पयामि) १२ बार तर्प्पणकरि इष्टदेवकोसंहारमुद्रा करिकै बिसर्ज्जनकरि तर्प्पणकरै । (अथसंकल्पः) आचमनपूर्व्वक हरिस्मरणकरि हस्तमें जल कुशलै ओं तत्सदद्य वर्तमान अमुक मासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकगोत्रोहं अमुकशर्म्मा सर्वपापोपशमनपूर्व्वकपुण्यफल प्राप्तिकामः नित्यकर्मणिदेवमनुष्यऋषिपितृ तर्प्पणमहंकरिष्येइतिसंकल्पः पूर्वाभिमुखहोकै पवित्रधारणकरि प्रार्थनाकरि तर्प्पण करै ओंब्रह्मादयः सुराःसर्वे ऋषयः सनकादयः । आगच्छन्तु महाभागा ब्रह्माण्डोदरवर्त्तिनः ॥ ओं ब्रह्मातृप्यताम् ओं विष्णुस्तृप्यताम् ओंरुद्रस्तृप्यताम् देवायक्षास्तथानागा गंधर्वाप्सरसोऽसुराः । क्रूराःसर्प्पाः सुपर्णाश्च तरबोजंबुकाःखगाः बिद्याधराजलधारा स्तथैवाकाशगामिनः निराधाराश्चयेजीवाः पापेधर्म्मेरताश्चये ते सर्वेतृप्तिमायांतुमद्दतेनांबुनासदा ॥ ततःमालातुल्य यज्ञोपवीत करि सनकादिकों को तर्प्पणकरै ॥ ओं सनकस्सनंदश्चैव तृतीयश्चसनातनः । कपिलश्चासुरिश्चैववोढुः पंचशिषेतिच ॥ ते सर्वेतृप्तिमायान्तुमद्दतेनाम्बुनासदा ॥ ततः (सव्य) अर्थात्बामकंधपैयज्ञोपवीतकरिपूर्व्वमुखतर्प्पणकरै ओंमरीचिरत्रिरंगराः । पुलस्त्यः पुलहःक्रतुः ॥ प्रचेताश्चभृगुश्चैववशिष्ठोनारदोमुनि तेसर्वेतृप्तिमायान्तु

मद्दत्तेनाम्बुनासदा ततः ॥ अपसव्यहो मोटक तिलजल लैं तर्पणकरै ओंकव्यवाड़नलादयोदिव्यपितर आगच्छन्तु गृह्ण-न्त्वेतान्जलांजलीन् ॥ ओं कव्यवाड़नलस्सोमस्सोमपाः पि-तृदेवताः ॥ अग्निष्वात्ताः पितृगणास्तथावर्हि षदश्चये ॥ यमायधर्मराजाय मृत्युवेचांतकायच । वैवस्वतायकालाय सर्वंभूतक्षयायच ॥ औदुंबरायद्धनाय नीलायपर मेष्ठिने । वृकोदरायचित्राय चित्रगुप्तायवैनमः ॥ तेसर्वेतृप्ति मायांतु-मद्दत्तेनांबुनासदा अमुकगोत्रः अस्मत्पिताअमुकशर्म्मावसुस्वरूपः सपत्नीकस्तृप्यतामिदंतिलोदकं तस्मैस्वधा ३ अमुकगोत्रः अस-मत्पितामहः अमुकशर्म्मारुद्रस्वरूपस्सपत्नीकस्तृप्यता मिदंतिलो-दकं तस्मैस्वधा ३ अमुकगोत्रः अस्मद्वृद्धप्रपितामहः अमुक-शर्म्माआदित्यस्वरूपः सपत्नीकस्तृप्यता मिदंतिलोदकं तस्मै-स्वधा ३ अमुकगोत्रः अस्मन्मातामहः अमुकशर्म्माअग्निस्व-रूपस्सपत्नीकः तृप्यता मिदंतिलोदकंतस्मैस्वधा ३ अमुक-गोत्रः अस्मत् प्रमातामहः अमुकशर्म्मावरुणस्वरूपः सपत्नी-कःतृप्यतामिदंतिलोदकंतस्मैस्वधा ३ अमुकगोत्रः अस्मत्वृद्ध-प्रमातामहः अमुकशर्म्माप्रजापतिस्वरूपः सपत्नीकस्तृप्यतामिद-तिलोदकंतस्मैस्वधा ३ येबांधवाबांधवावायेऽन्यजन्मनिबांधवाः । तृप्तिमेतेखिलायांतु यश्चास्मत्तोऽभिवांछति ॥ गुरु स्वशुरबंधू-नांयेकुलेषुसमुद्भवाः ॥ तेसर्वेतृप्तिमायन्तुमदत्तेनांबुनासदा ॥ इन मन्त्रों को पढ़ि वस्त्र निचोवै येचास्माकंकुलेजाता अपुत्रा-गोत्रिणोमृताः तेपिवंतुमयादत्तंवस्त्रनिः पडिनोदकम् ॥ ततः सव्य होकर तर्पणकरै ओं भीष्मः शांतन वोवीरः सत्यवादीजिते-न्द्रियः । आभिरद्भिरवाप्नोतिपुत्रपौत्रोचितांक्रियाम् वैयाघ्रपद-गोत्राय सांकृत्यप्रवरायचअपुत्रायददाम्येतज्जलंभीष्मायवर्म्मणे

वसूनामवताराय शंतनोरात्मजायच । अपुत्रायददाम्येतज्जलं-भीष्मायबर्म्मणे ॥ भीष्मस्तृप्यतांभीष्मायनमः ततः सूर्य्याया-र्घ्यंन्दद्यात् एहिसूर्य्यसहस्रांशोतेजोरांशेजगत्पते । अनुकंपय-मांभक्तय ग्रहाणर्घ्यंदिवाकर ततः सूर्य्यप्रार्थना ओं नमोविवस्व-तेब्रह्मन्भास्वतेविष्णुतेजसे । जगत्पवित्रेशुचयेसवित्रेकर्म्मदा-यिने ॥ ओं स्वयंभूमन्त्रस्यसूर्यऋषिः सूर्यदेवता सूर्य्योपस्था-नेविनियोगः ओंस्वयंभूरसिश्रेष्ठोरश्मिर्वर्चोदा असीवर्चोमेदेहि-अनेनदेवर्षिमनुष्य पितृतर्प्पणेनदेवर्षि मनुष्य पितृयज्ञरूपी-नारायणः प्रीयतां ॥

इति तर्पणम् ॥

आर्यसमाज की छपवाई हुई जो पुस्तक मैं ने पढ़ कर सुनाई है वह तो अब भी मुंशी नवलकिशोर यन्त्रालय से संवत् १९२९ की छपी हुई मिल सकती है। आर्य्यसमाज ने तो इस की गति भी प्रथम स० प्र० और संस्कार-विधि जैसी कर दी थी। यह पुस्तक तो है भी संस्कृत में इस लिये इस में भाषा के नाम पर किसी के गोल माल करने का भी सन्देह नहीं किया जा सकता। मैं ने समझ लिया है कि अद्वैतवाद ही वेद का सिद्धान्त है, और यही स्वामी जी ने बताया था। मैं ने अपने दैनिक स्वाध्याय में दो ही ग्रन्थ रखे हुये हैं एक ईश दूसरी वृहदारण्यक उपनिषद। ईश से मैं अद्वैतवाद सिद्ध कर चुका हूँ। वृहदारण्यक उसी की पुष्टि करती है—

"अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ। इस से विपरीत जानने वाले को श्रुति पशु बताती है जैसे— 'अथ योऽन्यां देवता-मुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद। यथा पशुरेव " स देवानाम्' वृहद० १।४।१० अब जो अन्य देवता की

उपासना करता है— यह समझता हुआ कि वह 'देव' और है और मैं और हूँ। वह नहीं जानता है, वह देवताओं के पशु की नाईं है। इसी उपनिषद के ३।४।१ में साक्षात अपरोक्ष ब्रह्म के विषय में यह कहा कि जो सब के अन्दर है, जो प्राण से सांस लेता है, जो अपान से सांस अन्दर खींचता है, जो व्यान से चेष्टा करता है, जो उदान से ऊपर उठाता है वह तेरा आत्मा है जो सब के अन्दर है। मान लो कि जीवात्मा को जहां ब्रह्म कहा है तो भी आपा जाने बिना परमात्मा का साक्षात्कार हो नहीं सकता, इस लिये मेरी उपासना तो भी वैदिक ही है। व्यवहार के लिये मैं ने वेद की दो आज्ञायें अपनाली हैं—

(१) मनुर्भव। (२) कृण्वन्तु विश्वार्य्यम्। खान-पान, भोग-विलास, सोना, डरना यह पशुओं में भी है, मनुष्य में विशेषता केवल धर्म से है और सदाचार को ही मैं परम धर्म समझता हूँ और यही श्रेष्ठ बनने का बीज है। श्रेष्ठ का नाम ही आर्य है और जो स्वयं आर्य नहीं वह संसार को आर्य्य कैसे बना सकता है? केवल आर्यसमाज का सभासद बनने से तो कोई आर्य्य नहीं बन सकता और सभी संसार के मनुष्य आर्यसमाज के सभासद बनने से रहे। विश्व को आर्य्य तो हम तभी बना सकते हैं जब स्वयं आर्य्य बन जायें। आज तो हम उसको आर्यसमाजी माने बैठे हैं जो विवाह आदिक संस्कार आर्यसमाज की संस्कारविधि अनुसार करे और हमें उसके आचार व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं। ऋषि दयानन्द के उपकार को न मानना कृतघ्नता है। यह महाराज की ही कृपा का फल है कि आज कोई भी भारतवासी समुद्र-यात्रा को पाप नहीं समझता। यदि ऋषि आर्यसमाज

की स्थापना न करते तो देश को स्वदेशवस्तु से प्यार और स्वराज्य का ख्याल तक नहीं था। सतगुरु रामसिंह जी ने भी स्वतन्त्रता और स्वदेशी का नाद बजाया था और आज भी उनके अनुयायी स्वदेशी वस्तुओं के बरतने में अग्रसर हैं। स्वराज्य हमारे मत भेद के कारण पीछे जा पड़ा था, जिस को महात्मा गान्धी ने सत और अहिंसा से प्राप्त किया। सत और अहिंसा हिन्दुशास्त्रों की शिक्षा का ही फल है और स्वामी दयानन्द जी ही थे जिन्हों ने अँग्रेजी शिक्षित युवकों की रुचि शास्त्र अध्यन की ओर फेरी और यही लोग कांग्रेस में मुखिया थे और ऐसे ही लोग विदेश से कलाकौशल विद्या सीख देश की शिल्प विद्या में उन्नति का कारण बन रहे हैं। इस कारण भी हमें ऋषि का धन्यवाद करना चाहिये। प्रधान जी से मेरा निवेदन है कि मैं आर्य बनने की ओर झुक गया हूं। मुझे आर्यसमाज का सदस्य रखो या न रखो। मैं अब अपने विचारों को सम्प्रदायक बन्धनों में जकड़े नहीं रख सकता। यदि किसी भाई को मेरी बातें बुरी लगी हों तो मैं उस से क्षमा माँगता हूं क्योंकि किसी का दिल दुखाने से मुझे भी शान्ति नहीं हो सकती। प्रभु हमें अन्धेरे से प्रकाश की ओर ले जाओ।

अभयराम— आज्ञा पालने के लिये मै भी कुछ कह देता हूँ। मैं सनातनधर्मी हूँ जिस धर्म के साथ किसी मनुष्य के नाम का सम्बन्ध नहीं और न ही यह कहा जा सकता है कि कब से यह प्रचलित हुआ। यही ईश्वरीय धर्म है जिस में मनुष्य के सांसारिक और परलोकिक कल्याण के लिये सर्व प्रकार की शिक्षा विद्यमान है। आज संसार प्रत्यक्षवादि है, वह मेरी इस प्रतिज्ञा को मेरे कथन मात्र

से स्वीकार नहीं कर सकता । मैं भी आज किसी को निश्चित रूप से न ही किसी ऐसे ब्रह्म-ज्ञानी का परिचय करा सकता हूँ जिस में वह सामर्थ्य पाई जावे जो हमारे शास्त्र और इतिहास बताते है, जैसे 'यं यं लोकं मनसासं विभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' । मुण्डक उप०—३—१० । अर्थ—जिस का अन्तः करण शुद्ध है, वह पुरुष जिस २ लोक को मन से संकल्प करता है, और जिन कामनाओं को चाहता है (अपने लिये वा दूसरों के लिये) उस २ लोक को जीतता है, और उन कामनाओं को (प्राप्त होता है)। इस लिये जो सुख चाहता है उसको उसकी पूजा करनी चाहिये जो आत्मा को जानता है । ऐसा ही बृह० उप० १—४—१५ में कहा है । याज्ञवल्क्य ऋषि के शाप से शाकल्य का सिर गिर गया, ऐसा बृ० उ० ३—९—२६ में वर्णन है। आज वर और शाप की शक्ति न देखने से मैं बड़ कैसे हाँकूँ । वेद सब विद्याओं का मूल है पर आज एक भी वेदज्ञ ऐसा निकल आये जो कोई उद्‌भुत वैज्ञानिक अविष्कार कर दिखलाये तो संसार वैदिक शिक्षा की ओर क्यों न झुके । हम तो यही सीखे हैं कि वस्तु निर्माण करें कोई और, और हम पीछे से कहें, वेद के अमुक मन्त्र अथवा हमारे अमुक शास्त्र में पहिले से ही ऐसा लिखा हुआ है। जिन को हम मादाग्रस्त होने का उपालम्भ देते हैं, वह अपना लोक तो संवार रहे हैं और हम हैं कि,

दुविधा में दोनों गये । माया मिली न राम ॥

और यह असल सिद्धान्त है कि जिस का लोक नहीं बना उसका परलोक बनने से रहा। परमार्थ में तो हम अन्य धर्मावलम्बियों के तुल्य ही हैं। जैसे उन में वह करामातें दिखाने की शक्ति नहीं जो वह अपने पूज्य पैग़म्बरों और गुरु आदिकों के विषय में बताते हैं वैसे ही हम है पर हम आर्थिक अवस्था में उन से बहुत पीछे हैं। हम ने धर्म के नाम पर कई ऐसी शिक्षाओं को अपना लिया है जो अभधूत कोटी के महात्माओं के लिये तो हितकर हैं और ब्रह्मचारी और गृहस्थी के लिये विष के तुल्य है जैसे—

[१] तुलसी भरोसे राम के, रहो खाट पर सो।
अनहोनी होनो नहीं, होनी है सो हो॥
[२] अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका जूं कहे, सब के दाता राम॥
[३] दान्त न थे तब दूध दिया।
दान्त दिये क्या अन्न न देगा॥
[४] प्रारब्ध पहले बनी, पाछे बने शरीर।
तुलसी यह आश्चर्य है, मन न बांधे धीर॥
[५] दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण॥
[६] जो पढ़नी थी गीता, घर काहे को कीता॥

ऐसे २ वचनों के आधार पर परलोक संवारने की आशा में मूर्ख जन अपना लोक भी बिगाड़ लेते हैं, परलोक तो कहां संवारना है। धूर्त और पाखंडी साधु और दण्डी के भेष में भोली भाली जन्ता को लूट अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं! यथार्थ बात तो

यह है कि बिन पैसे ग्रहस्थी और पैसे वाला साधु दोनों कौड़ी के हैं और आज हिन्दु-भारत की दशा प्रायः ऐसी ही देखने में आ रही है। धर्म के नाम पर अधर्म हो रहा है। झूठी दया ने पृथ्वीराज चौहान की शहाबुद्दीन गौरी के हाथों जान गंवाई और भारत को गुलाम बनाया। यदि धर्म के मर्म को समझा होता तो आततायी की चौदह बार जान बखशी क्यों करता जब कि शास्त्र का आदेश है कि आततायी को बिना बिचारे ही मार देना चाहिये। मुसलमान आक्रमणिकों ने अपनी सेना के आगे गौओं को करके हानिकारक दया करने वाले के दलों को पछाड़ दिया। वेद के संघटन के उपदेश को भूल, कलियुग में संघटन में ही शक्ति है पुराणों की इस शिक्षा को विसार, मुझे क्या की महाराणी रटने वाले शूरवीर होते हुये भी भाई भाई की सहायता लेने को अपनी कायरता समझ स्वर्ग लोक को पधारते रहे। यह बात सोलह आने सत है 'धर्मो रक्षति रक्षितः'.........

रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है और मारा हुआ मार देता है। आज हम धर्म के नाम पर पाप कर रहे हैं जैसे दान देना धर्म है परन्तु कुपात्र को देना पाप। कबीर साहिब ने एक भूखे को अन्न न होने से कुछ सूत दिया कि उस को बेच कर पेट भर ले, लेने वाले ने सूत का जाल बनाया और मछलियां पकड़ कर वेचने लगा। कबीर यह जान कर दुःखी हुआ और कहा 'दाता नरके जा' अर्थात् कुपात्र को दान देने से स्वर्ग की आशा में हम नरक का टिकट खरीद लेते हैं। हिन्दुओं को अपनी दान प्रणाली जरूर सुधारनी चाहिये, हिन्दु का धर्म सिखाता है कि गृहस्थ आश्रम सब से श्रेष्ठ है क्योंकि इस के आसरे अन्य तीनों आश्रमों का निर्वाह हो रहा है और गृहस्थी जिस को दान देता है उस के तप का आधा भाग उस को प्राप्त

हो जाता है। परन्तु आज जिस ढंग से धन कमाया जाता है, उस के दान का परिणाम भी तो वैसा ही होना है। हम या तो राम भरोसे की ओट में प्रमादी बन जाते हैं अथवा पुरुषार्थ की आड़ में येन केन प्रकार से धन कमाने में राम, श्याम के उपदेशों की शिक्षा को तिलांजलि दे बैठते हैं। किसी को ठीक बात समझाओ भी तो वह समझता हुआ भी उस का अनुकरण नहीं करता। एक सेठ के पूछने पर मैं ने कहा कि तुम धन कमाने में जितना बन पड़े परिश्रम करो परन्तु छल कपट और धोखे से बचो और धर्म से जो प्राप्त हो उस में सन्तुष्ट रहो, यह है सच्चा राम भरोसा। अन्नक्षेत्र पुण्य का काम है परन्तु चोर, डाकू भी तो उस पर पलते हैं और कर्तव्य पालन से जी चुराने वाले घर से भागने वाले विद्यार्थी और गृहस्थियों का भी तो वह आसरा है। यदि भीखमंगों के ऐसे सहारे न हों तो वह घर को छोड़ने से पहले सौ वार सोचें कि पेट की आग कैसे बुझानी होगी ? अब तुम ही सोच लो कि तुम पुण्य ही कर रहे हो या कुछ पाप भी। सेठ जी, दान को परिणाम तुम्हारी आंखों से ओझल नहीं। तुम अकेले ही एक निर्जला एकादशी को एक सहस्र रुपया दान करते हो। उस दिन आप जैसे लोगों की खरीद से बाज़ार का भाओ खूब चढ़ जाता है। जिन के घरों में वह वस्तु जाती हैं, वहां आप जैसे और बहुत भेज देते हैं, लेने वाला उन को फिर से ससते भाओ बेचता है क्योंकि वह इतने पंखे, झझर और धोती आदिक क्या करे, आगे दान देना तो वह सीखा नहीं। छबीलों पर मज़दूर लोगों का जमघटा होता है, क्यों नहीं इकट्ठे होकर इस दान से सदा के लिये उन उन स्थानों पर कूप और नल लगवा देते जहां

जन्ता रूप जनार्दन पानी के अभाव में कष्ट उठा रहा है। पशुओं के लिये चर भूमि छोड़ो, आजीविका का ढङ्ग सिखाने के लिये शिल्पशाला खोलो, विधवा और अनाथों की सहायता करो, महात्माओं और ब्राह्मणों से धर्म सम्बन्धी छोटे छोटे पुस्तक लिखवा, छपवा मुफ्त अथवा लागत की कीमत पर मन्दिरों में उत्सवों पर दर्शकों को देने का प्रबन्ध करो। यह तो कोई धर्म प्रचार नहीं कि जो जिस के जी में आया, मन्दिर की वेदी पर बैठ कह गया और भोग के रूप में रुपया बटोर चलता बना। आप को याद ही है कि जब गोसाईं जी से पूछा गया था कि तुम पर-स्त्रियों को कौन से धर्म शास्त्र के आधार पर चेलियां बना रहे हो जब कि धर्म शास्त्र का आदेश है कि—

विदितं तु ममाऽन्येत यथा नार्याः पतिर्गुरुः।

वाल्मीकि रामायण आयोध्याकाण्ड ११९। २ नारी का गुरु पति है।

गुरुरग्नि द्विजातिनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुस्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥ ब्रह्मपुराण ८०।४७

अर्थ— द्विजों का गुरु अग्नि है, वर्णों का गुरु ब्राह्मण है, स्त्रियों का गुरु केवल पति है, अभ्यागत सब का गुरु है। अन्य महापुरुषों की भी ऐसी ही शिक्षा है, जैसे—

कहो नानक जिस पति परमेश्वर कर जानिया।
सो सती दरगाहे परवानिया॥

करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरमु पति देउ न दूजा॥
(वालकाण्ड तुलसी रामायण १०२)

यह उपदेश मेना ने अपनी लड़की (उमा) को शङ्कर के साथ विवाह के समय किया था। फिर क्या था गौसाईं जी कोई उत्तर तो दे न सके, यही कह जान छुड़ानी चाही कि हम तो चेलियां बनायेंगे, हमारी तो यह आजीविका है तुम जोर लगाओ कि वे न बनें। यह सुन धर्मपाल से रहा न गया, उस ने कह ही दिया कि गौसाईं जी तब तो तुम को तुम्हारे इष्टदेव भगवान् कृष्ण के वचन अनुसार नरक भोगना ही पड़ेगा जैसा कि गीता में कहा है कि 'काम, क्रोध और लोभ तीन नरक के द्वार हैं'। तुम भी तो लोभवस ही ऐसा कर रहे हो। यदि उस समय बीच बचाओ न होता तो सिर फठोल होने में कौन सी कसर थी। सेठ जी उस दिन भी तुम मन्दिर में ही थे जब कृपाराम ने कथावाचिक पं० बलदेव शास्त्री से पूछा कि जब अजामल अन्त समय अपने पुत्र नारायण को पुकारने से स्वर्ग प्राप्त कर सकता है तो मैं अपने पुत्र प्रभु को स्मरण करने से क्यों नहीं उस गति को पा सकूंगा। पण्डित जी ने इस विषय मे बहुत कुछ कहा और अपनी बात को गीता अध्याय ९ श्लोक ३०। ३१ से पुष्ट किया—

अपि चेत्सुदराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ गीता ९-३०

अर्थ— यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त हुआ, मेरे को निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रनश्यति॥ गीता ९-३१

अर्थ— वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चय पूर्वक सत्य जान, कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता और अन्तिम पण्डित जी बोले,

सवधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गीता १८–६

अर्थ— सर्व धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण को प्राप्त हो, मैं तेरे को संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर।

कृपाराम से फिर भी चुप न रहा गया वह बोला।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ गीता ८—६

अर्थ— अन्त काल में जिस जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, उस उस को ही प्राप्त होता है परन्तु सदा उस ही भाव को चिन्तन करता हुआ। यदि अजामल की गाथा ठीक है तो भगवान का वाक्य ग़लत ठहरेगा क्योंकि यह अजामल पर ठीक नहीं बैठता। यदि सभी धर्म कर्मों को छोड़ने का नाम भगवत शरणागति है तो फिर शास्त्र और वेद व्यर्थ हैं। अर्जुन तो अधर्म को धर्म मान बैठा था, भगवान् ने तो उसको वह छुड़ाने का उपदेश दिया था न कि वास्तविक धर्म छोड़ने का। जब संसारिक परीक्षा में उत्तीरण होना योग्यता पर निर्भर है न कि इस बात पर कि अमुक २ स्कूल कालिज से आने वाले विद्यार्थी अवश्य सफल समझे जायें तो ईश्वरीय न्याय में अन्धेर कैसे माना जा सकता है। पण्डित जी केवल शास्त्र पर विश्वास से ही पार उतर जाना है तो

मैं ने समझ रखा है कि मृत्यु के पीछे मेरी अस्थियां तो अवश्य गङ्गा में डाली जायेंगी और जबतक वह गङ्गा में रहेंगी मेरा स्वर्ग वास भी तभी तक रहेगा। परलय से पहले गङ्गा ने वहते रहना है और तब तक मैं ने भी स्वग में रहना है, आप की कथा से मुझे इस से अधिक लाभ क्या पहुंच सकता है। सज्जनों! मेरे कहने का यह भाव है कि जब तक हम स्वयं धर्म के असली रूप को नहीं समझते और उसके अनुसार नहीं वर्तते, हमें असली सुख शान्ति कहाँ? विषयों का सुख तो प्राब्ध का फल है और हमारा पुरुषार्थ उन के लिये केवल निमित्त मात्र, परन्तु असली शान्ति यत्न और वैराग्य सिद्ध है, यह बातों से मिलने वाली वस्तु नहीं। हर एक विषय सुख के लिये हमें कुछ न कुछ त्याग भी करना पड़ता है जैसे अङ्गूर खाने हों तो उतनी अंश में धनका त्याग जरूरी है। जो विषय सुख हम पर गलवा पाले उसके लिये हम धन मान, सब खो देते हैं और स्त्री, पुत्र आदिकों की सुख सामग्री को भी नष्ट कर डालते हैं। जैसा कि आपने कई वैश्यगामी, शरावी और जुयेवाज आदिकों को देखा होगा कि अपने विषय के लिये बाप दादा तक की पुंजी को ठिकाने लगा देते हैं और वह पुत्र अन्न को तरसते रहते हैं। परन्तु शान्ति के लिये विषयों को भी धर्म पूर्वक नहीं भोगते पूर्ण उपरामता तो दूर रही। ऐसी अवस्था में शान्ति तो मिलने से रही। मनुष्य काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चारों में से किसी न किसी के लिये यत्न करता ही है, पर सफलता के लिये आरोग्यता का होना जरूरी है। रोगी मनुष्य तो भोग सामग्री की बहुलता में भी अप्रसन्न ही रहता है। मेरा

आज का विषय धर्म है, इस लिये मैं धर्म शब्द के अनेक अर्थों में से तीन को आप के सम्मुख उपस्थित करता हूं। (१) वह कर्म जिस के करने से इस लोक में अभ्युदय हो और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो। (२) कर्तव्य। (३) किसी वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो उस में सदा रहे और उस से कभी पृथक न हो। अग्नि में जैसे दाह और प्रकाश जलने से बुझने तक बने रहते हैं, ऐसे ही मनुष्यमात्र में ये वृत्तियां जन्म से मरण पर्यन्त विद्यमान देखी जाती हैं, कि मैं सदा बना रहूं, मेरा ज्ञान पूर्ण रहे, मैं प्रसन्न रहूं, मेरी स्वतन्त्रता में बाधा न आने पाये, सकल संसार मेरे आधीन रहे। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं देखा गया कि जो अपनी 'अस्ति' (होने) को भी न मानता हो और उसको स्थिर रखने का यत्न न करता हो। जभी कोई नई वस्तु देखी, तभी उसको जानने की इच्छा होती है और जब तक ठीक अथवा ग़लत ज्ञान से हम तुष्ट न हों, घबराट हमारा पीछा नहीं छोड़ती। कोई भी तो ऐसा मनुष्य नहीं जिसे पूर्ण सुख की कामना न हो और जो उसकी प्राप्ति के साधन न करता हो। पराधीनता कोई भी पसन्द नहीं करता और स्वयं पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हुये हर किसी की यही कामना है, कि सकल संसार उस के आधीन हो अर्थात् सभी यह चाहते है कि उस के अतिरिक्त कोई संसार का अधिपति न बनने पाये।

मनुष्य जो भी भला या बुरा कर्म करता है, उस के भीतर यही भाव छुपा हुआ है कि उसे हर प्रकार का पूर्ण सुख हो। 'पराधीन सुपने सुख नांही' यह बात अनुभव सिद्ध है और यही कारण है कि सभी स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं, क्योंकि आज़ादी

ही सुख का मूल है। आप शारीरिक, धन, जन और अस्त्र-शस्त्र बल से भले ही किसी व्यक्ति या देश को अपने आधीन कर लें परन्तु उसकी मांसिक स्वतन्त्रता को छीनने से रहे। विरोधी दल का तो कहना ही क्या अपने पक्षपाती भी व्यक्तिगत यही कामना करते हैं कि वर्तमान प्रधान अथवा मुख्यराज्यमन्त्री पद उसे प्राप्त हो और इसके लिये वह जोड़ तोड़ में भी लगे रहते हैं, और जिन को ऐसे २ अधिकार प्राप्त हैं, वे उन पर आरूढ़ रहने के लिये यत्न शून्य नहीं होने पाते और ऊंचे अधिकारों की प्राप्ति के लिये जो उन से बन पड़े, करते ही रहते हैं। किसी भी प्रकृति के पुजारी को न आज तक सकल संसार का अधिपति होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और न आगे ऐसा होने की सम्भावना ही है। कोई तो अपने बसेरे के लिये एक अच्छे से मकान की तृष्णा में, कोई एक कूचे के स्वामी बनने, कोई नगर, देश, बढ़ते २ सकल संसार के मालिक बनने की कामना में जकड़ा हुआ सब धरा का धरा छोड़ चलता बना और तृष्णा अड़ी की अड़ी रही। और यह नियम है कि तृष्णा के होते सुख कहां ? दुःख के अभाव का नाम ही यदि सुख होता तो पत्थर आदि जड़ पदार्थ परम सुखी होने चाहिये पर ऐसा है नहीं। सुख भी एक भाव पदार्थ है और आत्मज्ञान एक मात्र उसकी प्राप्ति का साधन है। हम जन्म मरण रूपी परम दुःख से छूटना चाहते हैं पर जब तक आधि व्याधि और भूख प्यास आदि छोटे २ रोगों से मुक्त नहीं होते, तब तक हमें वास्तविक स्वतन्त्रता का अर्थात् असली आज़ादी या मुक्ति और कैवल्य पद की आशा ही कैसे हो सकती है। संसारिक विषयों में फंसे हुये मनुष्य की मुक्ति

के लिये कामना ऐसी ही बात है जैसे रूढ़ियों पर सोने वाले का शीशमहलों के स्वप्न देखना। मेरा धर्म मुझे कर्तव्य पालन का ऐसा आदेश देता है जिस से मेरी सांसारिक उन्नति किसी की अवनति का कारण न बने और मैं स्वयं जीवित रहना चाहता हुआ दूसरों के जीते रहने में सहायक बनूं, न कि वाधा डालूं। वालकपन से ऐसे सांचे में ढालने की शिक्षा दी जाती है, जो मेरी स्वार्थ सिद्धि के रूप में भी जगत के लिये कल्याणकारी है और मुझे परम पद की प्राप्ति का राह दिखाने वाली। हिन्दू धर्म पितृऋण चुकाने के लिये सन्तान उत्पत्ति का आदेश देता है, न कि केवल कोमल स्पर्श के लिये विवाह करना। हिन्दु सभ्यता यह शिक्षा देती है कि हम सम्मिलित परिवारों में रहें और उस कूचे, मुहल्ले अथवा ग्राम में वास करें, जहां हमारी बरादरी की वहुलता हो। आज भी पुराने नगरों में महल्लों और बाजारों के नाम प्रायः बरादरियों के नामों से विख्यात हैं, जैसे मुहल्ला लवां, मैंहदुआं, चढ़ियां, थापरां, सहगलां, पुरियां, कूचा भट्टान और बाजार नौहरियां, सूदान, पापड़ियां, नेचेवन्दां इत्यादि। यह बात प्रसिद्ध ही है कि खरबूजे को देख कर खरबूजा रङ्ग बदलता है, हिन्दू भी इसी बात को ध्यान में रखते हुये कि उस में सङ्ग दोष न आने पायें अपनी बरादरी में रहना पसन्द करता है जहां उस का परिवार उसी बातावरण में पले जो उस के वर्णाश्रम धर्म के पालन में सहायक हो। राजपूतों के बालक खेल कूद में भी अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग, ब्राह्मण शास्त्र और वैश्य बंज व्योपार में चतुराई सीखते रहें। संसार तो आज भी मिशनरी-ब्राह्मण, मिलिटरी-क्षत्रियः, मर्चैंट्स-वैश्य और मीनीयल - शूद्र वर्णों में

बंटा हुआ है पर जन्म से नहीं । हिन्दु वर्ण धर्म को जन्म से मानता है और जब तक वह इसका कट्टर पक्षपाती रहा, उसकी आजीविका निश्चित रही। आज इस नियम को तोड़ कर ही हम रोज़ी के लिये दर २ धक्के खा रहे है। बालक जिस काम को अपने माता पिता को करते देखे बालकपन से ही उस काम को जानने लग जाता हैं। जैसे—लोहार का बालक लौहारे के सभी औज़ारों के नाम जानता है और जिस २ काम वह आते हैं, वह भी उसे ज्ञात है और जिस ढङ्ग से उस्तरा, चाकू, कैञ्ची आदि बनाये जाते हैं वह भी जानता है। पढ़ लिख कर अपने काम में जो उन्नति वह कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये ढाके की मलमल, कोटली लौहारान और गुजरांवाला आदि नगरों के लौहारों की बनाई हुई लोहे की वस्तुयें सस्ते होने पर भी विलायती माल को मात करती थीं। आज हमारी यह दशा है कि वकील अथवा डाक्टर अपने पुत्र को वकील तो नहीं बना सका, पिता की मृत्यु पर पिता की बहुमूल्य कानूनी पुस्तकालय उस के किस काम। लाखों का माल कौड़ियों के मूल्य बेचना पड़ता है और अपनी बजाजी की दुकान के लिये नया खरीदना होता है। हिन्दु अपनी सन्तान को अपने वर्णाश्रम के अनुकूल बनाने में धर्म समझता था और जहां जहान में कई जातियां मिट गईं, यह वर्णाश्रम धर्म की ही विशेषता है कि हिन्दु जाति कठिन से कठिन सङ्कटों में भी जीवित रही। आज हमारे अपने ही भाई इस दुर्ग को गिराने पर तुले हुये हैं, परन्तु वे याद रखें कि उन्हें पूर्णतयः सफलता होने से रही। सरदा, अखरोट, खुरमानी और अँगूर आदि की जैसे जालन्धर

की भूमि में अच्छी उपज नहीं हो सकती, वैसे ही अच्छी सन्तान के लिये अपनी ही बरादरी की कन्या श्रेष्ठ है। क्षत्राणी ही क्षत्रियः वीर्य से क्षत्रिय की उत्पत्ति कर अपनी शिक्षा से वीर क्षत्रियः बना सकती है, ऐसे ही अन्य जातियां अपने अपने वर्ण विवाह से। बरादरी में ही विवाह मर्य्यादा को तोड़ने से हमें कई प्रकार के कष्टों का सामना करना होता है। बरादरी से बाहर की शादियों के दो ही मुख कारण हैं, दमड़ी और चमड़ी। शील और रुधिर की शुद्धि को परखने वाला तो आज असभ्य कहा जाता है, परन्तु मनुष्य जीवन के उद्देश अनुसार तो यही बात ठीक है—

सीरत के हम गुलाम हैं। सूरत हुई तो क्या ?
सुरखो सुफेद मिट्टी की। मूरत हुई तो क्या ?

ऊँची जात के अभिमानियों से तो आज नीच जातियां ही श्रेष्ठ हैं, जो अपनी २ बरादरी के बन्धनों में बन्धी हुई हैं और जो न्यायशाला में जाने के स्थान में पञ्चायत में ही सब झगड़े निपटा लेती हैं। बरादरी के विवाह में हमें अपने रूठे भाइयों को मनाना होता था क्योंकि हमें भय रहता था कि कहीं कन्या वाले बारात को ही बैरङ्ग न लौटा दें कि तुम्हारा तो अपने भाइयों से ही सलूक नहीं, हम अपनी पुत्री से आप के हाथों भले बर्ताव की कैसे आशा रख सकते हैं। तुम्हारा वरी और हमारा खट में दिखला कर दिया हुआ स्त्री— धन कैसे सुरक्षित रह सकता है, जबकि नेकी बदी को झेलने वाली बरादरी तुम्हारे सङ्ग नहीं। ऐसी शादियों में एक दूसरे को छोड़ने छुड़ाने की नौबत ही कब आती थी। अमीरी गरीबी,

किसी का जात गोत नहीं, बरादरी में सब एक जैसे होते हैं, कभी अमीर के घर गरीब कभी गरीब के घर अमीर व्याहया गया। दौलत बरादरी में ही रही और लड़के लड़की वालों के रस्मोरवाज एक जैसे और लाहौरियों की नाईं जितनी सादी से सादी शादी चाहो कर लो। "छैन्ना बजाओ और लड़का वियाहो', जमाने की रौ में बह कर डूबना चाहो तो तुम्हारी मर्जी। तनिक सोचो तो सही ड्यूक औफ़ विंड्सर को अपनी पसन्द की स्त्री से विवाह के कारण इङ्गलैंड का राजसिंघासन क्यों छोड़ना पड़ा? अमरीका में हबशियों से शादी की क्यों मनाही है. तनिक सोचो तो सही। तुम ने पश्चम का ही अनुकरण करना है तो बड़ों का करो न कि सर्व-साधारण का।

माता पिता के खाये हुये अन्नरस से सन्तान की उत्पत्ति होती है, इस लिए अर्थ शुद्धि (ईमानदारी) जरूरी है ताकि अन्न ऐसा हो जो धर्म से कमाया हुआ और सात्विक हो क्योंकि अन्न से ही मन बनता है। हम देखते हैं कि मनुष्य अपने मांसिक विचारों के आधार पर ही चल कर फूलों और फलों की रङ्गत और रस को बदल डालता है और पशुओं से अपनी पसन्द के बच्चे पैदा करा लेता है फिर क्या कारण है कि यह अपनी सन्तान को अपनी पसन्द की न उत्पन्न कर सके। ब्राह्मण परिवार को भय होता था कि यदि उनकी सन्तान में ब्राह्मणों वाले गुण न हुये तो उनकी बदनामी होगी इस लिये वह ऋतुस्नातः पत्नी से गर्भाधान संस्कार करता और पीछे गर्भ रक्षा के अन्य संस्कार करता, आज की नाई नहीं कि हम पशुओं से भी गये गुज़रे हो गये हैं। सूखी हड्डी के चबाने से अपने मसूढ़ों से निकला हुआ खून

कुत्ते को इस धोखे में आनन्द दे रहा है, कि वह हड्डी से निकले हुये लहू का पान कर रहा है, ऐसे ही हम मैथुन में अपने वीर्य के नाश को सुखदाई जान स्त्री को आनन्द की कान मानते हुये अपना जीवन जौहर गंवा रहे हैं, जो फिर ढूंढने से भी किसी भाओ नहीं मिलेगा। यह तो वह सोमैंट है जो शरीर को दृढ़ रखता है। वालक गिरे घाव शीघ्र भर जाते हैं, बीमारी से निर्बल हो जाये दिनों में फिर से बलवान बन जाता है और हमारी तुम्हारी हालत इससे उलट है, बजन कम हो जाये पूरा होने में नहीं आता, बढ़ना तो दूर रहा। वेद का आदेश है 'मनुर्भव' तू मनुष्य वन अर्थात् मनुष्य संस्कारों से बनता है। खान, पान, भय, क्रोध, मैथुन और सोने में तो मनुष्य और पशु बराबर ही हैं, यदि मैं यह कह दूं कि मधुमक्खी का वमन (शहद) दरयाई घोड़े की लीद (मुशकांबर) मृग की नाभि का नाफा (कस्तूरी) खाने वाला और भेड़ बकरियों की उतारी हुई ऊन और पशम, रेशमी कीड़ों के मृतक शरीरों का वना हुआ धागा (रेशम) पहनने वाला मनुष्य मूर्खता से बड़े होने का वृथा अभिमान कर रहा है। धर्म ही एक ऐसो वस्तु है जो इस पशु को मनुष्य वनाता है। ममुष्य का यही लक्षण है कि वह पशुओं की भांति किसी के भोग्यपदार्थ छीनता नहीं, हो सके तो दूसरों को भोग सामग्री बाँटता है। सोच विचार कर काम करने वाला ही मनुष्य कहा जा सकता है। माता, पिता और आचार्य की शिक्षा इस पशु को पुरुष बनाने में उपयोगी है। बोलना और बैठना जिस को आ गया, उसने सब कुछ सीख लिया। माता जानती है कि—

तुलसी मीठे वचन से । सुख उपजे चहूं ओर ।
वशीकरण इक मन्त्र है । तज दे वचन कठोर ॥

वह बालक को अपनी छाती का दूध पिलाती हुई जहाँ उसे शूरवीर बनाने का यत्न करती है (क्योंकि अब तो पश्चमी डाक्टर भी यही कह रहे हैं कि बोतल का दूध पीने वाला उस बालक से कायर होता है जो अपनी माता की छाती का दूध पीता है) वहां उस की वाणी को भी कोमल और मधुर बनाती है । माता के मांसिक विचारों का भी दूध पीते बालक पर प्रभाव पड़ता है । दाया के सपुर्द किये बालक में वह गुण आने से रहे जो उसकी अपनी माता डाल सकती है। हिन्दू साहित्य को पढ़ने और सुनने वाली देवियां भली भान्ति जानती हैं कि गर्भ में बालक पर माता के देखे सुने गुण दोष अंकुरित होते रहते हैं, जैसा अभिमन्यु पर गर्भ में ही चक्कर व्यूह में प्रवेश होने के संस्कार पड़े थे। इस लिये वह बालक के रोबरू कोई भी ऐसी चेष्टा नहीं करती जिस से बालक के आचार बिगड़ने का ख्याल हो, दाया को इस बात की क्या परवाह । बालक को जन्म से दूसरों के सपुर्द कर स्वयं मनुष्यों की भान्ति दफतरों में नौकरी करनेवाली देवियों को यह आशा कदापि नहीं रखनी चाहिये कि उन की सन्तान भी उन के नाम को संसार में विख्यात कर सके । यह सौभाग्य तो हिन्द भारत को ही प्राप्त है कि जो आदर और मान इस देश में स्त्रियों का है वह अन्य किसी देश में नहीं देखा जाता । लक्ष्मी नारायण, सीता राम, राधे श्याम, स्त्री का नाम पुरुष से पहले पुकारने की शैली और कहीं नहीं । कौन्तेय (कुन्ति पुत्र) माता के नाम से अर्जुन

को पुकारना, भीषम पितामह का अपनी माता गङ्गा की शपथ खाकर कहना कि यदि मैं भगवान् को शस्त्र उठने पर मजबूर न कर दूं तो गङ्गा का पुत्र ही नहीं। और कोई देश ती ऐसी साक्षी ही नहीं सका। मनु का यह आदेश कि जहां स्त्रियों की पूजा (सत्कार) होती है वहां ही देवताओं (शुभ सन्तान) का वास होता है। पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगी हुई देवियों को हिन्दू सभ्यता पर लांछन लगाने का अधिकार तो तभी शोभा देता है यदि उन्होंने स्वयं दोनों पक्ष देखे हों। हिन्दू सभ्यता में पली हुई देवी तो प्राकृत नियमों को देखती हुई अपने आप को पुरुष की अर्धांग्नि मानती हुई भी अपने को पति के आधीन ही जानती है। क्योंकि सन्तान दोनों के मेल से होती हैं। स्त्री को गर्भ कष्टदायक भी होता है, पुरुष को क्या दुःख। स्त्री का मासिक रोग भी उसकी प्राकृत न्यूनता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मासिक धर्म में उससे छूना भी पाप है। वह जिस फूल फल को वृक्ष पर छू दे, वह सूख जाता है गल सड़ जाता है अथवा बढ़ता नहीं। हिन्दुओं में छूत छात स्वास्थ्य विज्ञान के आधार पर है न कि घृणा के कारण। मनुष्य की हाथ की अंगुलियों मे ओरा शक्ति (Vril Power) का वास्य है, जिस को वह हाथ लगाये. उस वस्तु में उस के मानसिक भावों का संचार भी अवश्य होता है। माता पिता और गुरूजन बालकों को आशीर्वाद देते हुये अपनी शुभ भावनाओं का संचार करने के लिए ही उनके शिरों पर हाथ फेरा करते हैं। यदि हाथ से छूने में कोई दोष न हो तो फिर वह कौनसा भाव है कि पश्चिमी देश के बन्द खुराकी डब्बों पर ऐसा लिखना उचित समझें, हाथ से नहीं छुआ गया (untouched by

hand)। अपने ही शारीरिक मल मूत्र के अंगों को साफ करके हम हाथ मिटयाते हैं, दूसरे अंगों को छूने से ऐसा नहीं करते। पानी को संक्रामक (conductor) होने से हिन्दू छुआ हुआ मानते हैं। तेल. घी को तो नहीं। यदि छूत छात का कारण घृणा ही होती तो भंगी और चमार आदिकों को हरिद्वार में हर की पौड़ी पर अहिंदुओं की नाईं स्नान न करने दिया जाता और न ही चिन्तपुरणी और ज्वालाजी आदिक अन्य तीर्थों में उन के बराबर के अधिकार देखने में आते। चेचक वाले घर में हिन्दू किसी को नहीं आने देता और न ही रजस्वला स्त्री को घूमने की आज्ञा है, कारण इनका स्वास्थ्य विज्ञान ही है। रजस्वला स्त्री का बाजारों में घूमना दूसरों के स्वास्थ्य को बिगाड़ना है और ऐसे कर्म ही अज्ञात पाप कहे जाते हैं। आज भी तो चमड़ा रंगने के कारखाने नगर से दूर ही खोलने की आज्ञा दी जाती है, यदि यह ठीक है तो हिन्दुओं का अपने ऐसे काम करने वाले भाइयों को नगर से बाहर बसाना दूषित कैसे माना जाये। माता भी छोटे बालक की टट्टी उठाने वाले हाथ को बिन धोये अपने बालक को उस हाथ से नहीं उठाती, क्या वह भी अपने पुत्र से घृणा करती है।

घर से बाहर का सभी काम वह पति को सौंपने में ही अपना कल्याण मानती है। वह स्वयं बाज़ार से अपनी पसन्द के हार श्रृङ्गार के सामान को खरीदना भी बुरा समझती है, पूछने पर अपने दिल का भाव भले ही कह दे, वरना यही उत्तर होता है कि मेरा तो वही श्रृङ्गार अच्छा है जिससे आप मुझ पर रीझें, सो आप वही वस्त्र आदिक लायें जिन में मैं

आपको भाऊँ और आप को तो अपनी जेब का भी ख्याल रखना है, मेरी मरज़ी आपको आर्थिक तौर पर तंग करना भी नहीं। यदि विदेश (Foreign) और स्वदेश (Home) मन्त्री अपने अपने स्थान में एक दूसरे से स्वतन्त्रता में अपने आप को पृथक २ समझें तो राज्य के नष्ट का कारण बनें। यही हाल इस छोटी सी गृहस्थ रूपी रियासत का होना ज़रूरी है यदि पति और पत्नी अपने कार्यों को विधिपूर्वक निबाहना छोड़ दें। नारी नर के काम में सहायता तो देती है परन्तु उसके संग रहकर जैसे धोबन और जुलाही आदिक। आज जो अनोखी बात हो रही है कि नारी दफ्तरों में अन्य मनुष्यों की संगत में क्लरकी आदिक काम करती है, वह न तो भारतीय सभ्यता है न हिन्दू संस्कृति। आप्तकाल में तो हिन्दू स्त्रियां पराई सेना से युद्ध भी करती रहीं परन्तु पराये पुरुष की एकान्त संगत का तो सर्वथा निषेध है। पश्चिम में तो मनुष्यों की न्यूनता के कारण और सम्मिलित परिवारों के अभाव में अज्ञात माता पिता की पुत्री अपना जीवन साथी न रखती हुई अपनी आजीविका आप करने पर बाधित है, क्योंकि स्त्रियों की संख्या अधिक होने से सभी विवाह नहीं कर सकतीं और मनुष्यों का काम ही उनको करना पड़ता है, यदि ऐसा न हो तो वहां का काम रुक जाये और उनका भी अपनी रुचि अनुसार रहना सहना बन्द हो जाये। भारत में तो मनुष्य अधिक हैं, यहां स्त्रियों से मनुष्यों वाले काम लेना मानो मनुष्यों को बेरोजगार करना है। यहां तो कन्या को अच्छी गृहणी बनने की शिक्षा ही उपयोगी है। स्त्री को घरेलू उद्योग धन्धों से धन कमाने से कौन रोकता है, घर में रह कर वह कई प्रकार की बचत कर सकती है। पति हो जालन्धर

और स्त्री हो दिल्ली के किसी दफतर में स्टेनो, इस जीवन का नाम गृहस्थजीवन तो नहीं। मैं ने तो ऐसे परिवारों की बाबत यह समझा है कि वह या तो धन को ही सब से उत्तम वस्तु समझते हैं अथवा फैशन प्रस्ती को। हिन्दू संस्कृति का तो यह आदर्श रहा है कि समाज में सब से बड़ा दर्जा आचार का, उससे कम विद्या, उससे कम बल और सब से घटिया धन का माना जाता रहा है परन्तु आज हिन्दू समाज का दृष्टिकोण बदल कर 'सर्वेगुणा काञ्चनमाश्रयन्ति' पर आ ठहरा है।

माया तेरे तीन नाम, परसू परसा परसराम।
कङ्गाली तेरे तीन नाम, लुच्चा भड़ुआ बेईमान।

मान प्रतिष्ठा के सभी भूखे है, इस से तो धन और परिवार का त्याग करने वाला साधु समाज भी बचा हुआ नहीं। कहा भी है—

लोभ तजना सहज, कठिन त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्षा, औखी तजनी एह॥

ऐसी अवस्था में चोर-बाजारी, घूस-खोरी, खाद्य पदार्थों में मिलावट और छल कपट आदि से धन कमाने से जनता कैसे रुके। ऐसे ऐसे कर्म किये तो जाते हैं लोक संवारने के लिये, पर यह हैं लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ने वाले। भारत वासियो आंखें खोल कर देखो कि जो धन पश्चिम को शान्ति नहीं दे सका, वह तुम्हें कैसे दे सकता है ? आओ अपने पूर्वजों के सादे जीवन को अपनाओ, इसी में तुम्हारा अपना और संसार का कल्याण है। अपने इधर उधर नजर दौड़ा

कर देखो तो सही कि कितने मनुष्य हैं जो यह समझते हैं कि सभी (Nuts) नटस अर्थात् बादाम, अखरोट और मूंगफली आदि जिन के अन्दर गिरी है एक ही असर रखते हैं। नशास्ता और निमक के तेजाबों के मुरकब्र का नाम है गलूकोस जिस को तुम अंगूरों की खांड समझे बैठे हो। डाक्टर इस सिद्धान्त को मानते हैं क्या तुम बता सकते हो कि बादाम और मूंगफली एक जैसे कैसे ? जबकि गम ऋतु में डाक्टर भी बादाम सरदाई में डालता है मूङ्गफली रगड़ कर नहीं पीता। दो खारी चीज़ों (तेजाबों) के मेल से मीठा गलूकोस कैसे बन गया। जब इस पाश्चमी विज्ञान को तुम नहीं समझ सकते, तो फिर उस विज्ञान को कैसे तर्क द्वारा समझ सकोगे जिस का आरम्भ ही वहां से होता है जहां पश्चिमी विज्ञान की समाप्ति है। ऋषि सर्वज्ञ, सूक्ष्म और दूर-दर्शी थे, इस विषय में मैं ने आप को कई बार कई विषयों पर उन के विचार सुनाये हैं। आज इतना ही कहना है कि तन्दरुस्ती के तुल्य और कोई पदार्थ नहीं, इस की स्थिरता के लिये ऋषि हमें वह मार्ग दिखाते हैं कि जिस से हमारा लोक और परलोक दोनों संवरते हैं। अज्ञानता के कारण हिन्दु धर्म को आज भ्रम जाल कहा जाता है, इसी भ्रम को थोड़ा सा दूर करने का यत्न करता हूँ। तांबे और चान्दी के दो पत्रों के सिरे मिला कर अपनी जिह्वा पर रखो, थोड़ी ही देर में आप की जिह्वा सरसराहट प्रतीत करेगी, यह सरसराहट बिजली का है। बालक के गले में पढ़े हुए (सूर्य चन्द्र ग्रह के नाम से) ताम्बे और चान्दी के पत्रे उस के शरीर को पुष्ट करने के लिये उसकी कोमल त्वचा में बिजली

का इनजैंकशन करते रहते हैं। उसी तागे में परोये हुये घोंघे, छोटी सी शंखी और कौड़ियां कैलसियम का काम करती हैं। होलदली और मूङ्गा दिल को मजबूत करने के लिये है। दिल की बीमारियों में यूनानी होलदली (संग यश्ब) का कुशता और वैद्य प्रवाल (मूङ्गा) भस्म सेवन कराते हैं। शेर के नाखुन की सौगन्धी बिल्ली आदि किसी जानवर को शिशु कुमार के पास नहीं फटकने देती। तड़ागी और उस में रूपे के वोर और कौड़ियां और तनिक बड़ा होने पर उस में लंगोटी हरनिये और स्वप्न दोष का आयु भर के लिये दारू है। सोहागे की खील दो रत्ती थोड़े शहद में मिला कर मसूड़ों पर रोज मलने से बालक को दान्त निकालने में कष्ट नहीं होता और फिर रोज ताजा कीकर आदि की दातून करने और खाने से पहले और पीछे दान्तों को पानी से साफ करते रहने से दान्त शीघ्र नहीं गिरते, बुढ़ापे तक काम देते रहते हैं। अच्छे दान्त पाचन शक्ति को बिगड़ने नहीं देते।

प्रात उठ दातून जो करे नित्य त्रिफला खा।
सांज कटोरा दूध का उस घर वैद्य कबहू न जा॥

अर्थात् सूर्य से पहले उठने वाला, मल मूत्र त्याग दातून कर नहाने वाला और पाचन शक्ति को ठीक रखने के लिये व्यायाम करने वाला अथवा बिगड़ने पर त्रिफले का सेवन करने वाला और प्रतिदिन दूध पीने वाला प्रायः आरोग्य रहता है।

अच्छे दांत पाचन शक्ति के सहायक हैं और हाजमा ठीक रहे तो दान्त खराब नही होते। खान पान में उन पदार्थों को धर्म के नाम पर अपथ्य और अभक्ष माना गया है, जो नशीले

हों और काम-वार्धक। कामी पुरुष का मेहदा ठीक नहीं रहता और क़बज़ को सब रोगों की माता माना गया है। उदर रोग से रुधिर रोग होना ज़रूरी है, जभी हाज़मा और खून खराब हुआ, नाना प्रकार के रोग आ घेरते हैं, इस लिये हिन्दु धर्म में यद्यपि पुरुषों के नाना रुचि होने से सभी के लिये किसी विशेष प्रकार के भोजन का विधान नहीं, तो भी धर्म-शास्त्र का परिसंख्यान विधि से मांस, शराब, लहशुन और प्याज़ आदि पदार्थों के खाने पीने का पुण्य तिथियों में निषेध करना और मांस को यज्ञ शेष के तौर पर खाना यही सिद्ध करता है कि रज़ो और तमो गुणी मनुष्यों को शनैः २ सात्विक वृत्ति की ओर परेरा जाये। ऋतु के बदलने पर चेत्र मास में चासकू की मिठाई बना कर खाना रक्त शोधक होने से ग्रीष्म ऋतु में फोड़े-फिंसी और आंखों की बीमारियों से बचने के लिये है। उन्हीं दिनों कच्ची हल्दी को सरसों के तेल में भून और खांड मिला कर खाना मधु प्रमेह (Diabities) और खून के दबाओ (Blood Pressure) से बचाये रखता है। मधुमेह का रोगी यदि चार माशे हल्दी पीस कर एक तोला शहद मिला कर निहार मुंह खाये तो प्रमेह जाता रहता है। उन्हीं दिनों चेचक और पलेग का भी मौसम होता है और सीतला पूजन के भी वही दिन होते हैं। सीतला माता = सफाई की देवी का पूजन घरों में सफाई करना होता है, मकान लीपे-पोचे जाते हैं और सर्प आदि को घरों में आने से रोकने के लिये सीतला मन्दिर से लाई हुई दूध की लस्सी मकान में छिड़की जाती है। परीक्षा करके देख लो कि सर्प की ओर

दूध की लस्सी की पचकारी मारो, वह वहां से भाग जायेगा, बिच्छू आदिकों ने तो वहां रहना ही क्या है ? देवी के नवरातों में व्रत रखना और और सूक्ष्म सा फल आहार करना उदर को ठीक करने और मौसमी बीमारियों से बचने के लिये भी है। उन दिनों यव (जौं) के सत्तू पीने से टाईफराईड तप से बचा रहता है। असूज के नवरातों में भी घरों की सफाई की जाती है, व्रत रखते हैं। दोनों नवरातों में देवी पूजन में मुहल्ले की कुमारियों को घर २ बुलाया जाता है और देवी के नाम पर घर वाले उन का पूजन करते हैं, जिस का भाव है कि इन देवियों की ओर पूज्य बुद्धि बनी रहे ताकि अपना वचन निभाने के लिये स्वप्न में भी उन से व्यभिचार का ख्याल न हो। धार्मिक भाव जगत जननी शक्ति का पूजन है। हिन्दुओं के जितने भी त्योहार हैं उन में परमार्थिक भाव तो है ही किन्तु स्वास्थ्य विज्ञान और वीर पूजा भी है। हिन्दु नारी को तो शास्त्र यही सम्बोधन करता है—

जननी जने तो भक्त जन। या दाता या सूर
नहीं तो जननी बांझ रहू। काहे गंवाये नूर

हिन्दुओं के पूज्य देवी, देवता और नर नारी वही हैं जिन्हों ने धर्म की रक्षा की, धर्म के लिये जीवन दिया, धर्म के लिये जीना और मरना जानते हैं। हिन्दू अपने ही स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखता किन्तु उस का धर्म उस को ऐसी शिक्षा देता है कि वह अपना लोक और परलोक सुधारता हुआ मनुष्य मात्र के कल्याण में भी लगा रहता है। वह अपने धर्म का पालन न करे तो पापी और करे तो न चाहता हुआ भी अपने शत्रु को भी लाभ पहुंचाने में मजबूर है। पञ्चमहायज्ञ हिन्दू का

नित्य कर्म है, इस में हवन यज्ञ से देवताओं की प्रसन्नता के अतिरिक्त वायु की शुद्धि, अनावृष्टि और अतिवृष्टि की निवृत्ति की भी तो शक्ति है। यज्ञकर्त्ता कैसे रोक सकता है कि उस के घर के साथ वाले मकान में रहने वाले उस के शत्रु को हवन की वायु का लाभ न पहुंचे। हिन्दु देव पूजा के लिये सुगन्धित पुष्प लगाता है, तुलसी के बूटे पालता है, ये वायु शोधक भी हैं और तुलसी के निकट मच्छर भी नहीं आता। तुलसी का बूटा गन्दी वायु में सूख जाता है और घर में इसका होना इस बात का सूचिक है कि इसे सूखता देख घर वाला वायु शुद्धि के लिये यज्ञ विशेष करता है। उस के न चाहने पर भी उस के किये कर्म से उस के शत्रु को भी लाभ पहुंचता है। क्या क्या गणाऊं धर्म के नाम पर हिन्दु कोई ऐसा काम नहीं करता जिस से उसे तो लाभ हो और दूसरों की हानि हो। गङ्गा जल में हैजे के कीड़े छोड़ कर देख लो तुरन्त मर जायेंगे, उसी जल में सावन और तैल मिल जाये तो हैजे के कीड़े पैदा हो जाते हैं, इस लिये धर्मशास्त्र ने गङ्गा में नहाने के लिये इन चीज़ों को वर्जित किया है। नहार मुंह मन्दिर से चरणामृत, (गङ्गाजल और तुलसीदल) पान करने से पेट के रोग दूर होते हैं। प्रसाद का भाव यह है कि हम प्रभु का दिया हुआ खा रहे हैं। मैं अपने शत्रु से कोई वस्तु लेकर नहीं खा सकता परन्तु भगवान् के अर्पण किये हुये उस के भोग लेने में मैं इनकार नहीं कर सकता। अर्थात् मन्दिरों में देव-दर्शन से हमें शिक्षा मिलती है कि हम भगवान् के उपदेशों को अपने जीवन में ढालें, जिस के दरबार में शत्रु मित्र का कोई भेद नहीं। हिन्दू को नहाने के पश्चात् पीपल को जल चढ़ाते देख कर अज्ञानी

समझता है कि वह जड़ की पूजा कर रहा है, यह नहीं जानता कि वह तो मनुष्यमात्र के कल्याण का काम कर रहा है। पीपल ही एक ऐसा वृक्ष है जो दिन रात औक्सीजन छोड़ता है, जो जीवन के लिये अति उपयोगी है। यही तो कारण है कि हिन्दू इस के काटने वाले को भली दृष्टि से नहीं देखता और इसकी रक्षा के लिये अपने प्राण तक त्याग देता है। हिन्दू विश्व के कल्याण में अपना कल्याण समझता है और यही सच्चा धर्म है। पीपल के साय में बैठने से खून का दबाओ ठीक हो जाता है। दो रत्ती पीपल की लाख दो तोले पानी में घोल एक तोला खांड मिला कर पीना, खून के दवाओ की अचूक अनुभूत औषध है। राजयक्ष्मा (तपदिक) का रोगी यदि पीपल के तले खुली हवा में डेरा डाल ले और वहां दो तीन बकरियां रख ले और उन को किसी और पीपल के पत्ते खिलाये जायें, रोगी उन बकरियों का दूध पिये और बसन्तमालती रस का सेवन करे। यदि मांस भोजी हो तो ऐसी ही बकरी का मांस खाये और उसकी खाल अपने नीचे बिछाये और बकरियों का मल-मूत्र वहां से उठाया न जाय, इस नियम को पालन करने वाले रोगी का रोग मुक्त होना निश्चित है यदि उस के फेफड़ों में कोकाई जर्मस पैदा न हो गये हों क्योंकि ऐसी अवस्था में रोग के असाध्य होने से रोगी चार पांच सप्ताह से अधिक जीवित नहीं रहता। शारीरिक रोग से स्वयं मुक्त होने, जनता रूप जनार्दन की सेवा और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये हिन्दू धर्म निष्काम कर्म का उपदेश देता है। रोगी कर्म करने से रहा इसलिये पहले शरीर को आरोग्य रखने का यत्न करो। हिन्दु संस्कृति

सादा जीवन सिखाती है, हाथ साफ करने के लिये मिट्टी अथवा राख वरतो । पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण करना है तो बढ़िया साबन वरतो क्योंकि घटिया साबन त्वचा को खराब करता है ऐसे ही दातुन के स्थान में बढ़िया बुरश और मंजन भी दातून की बराबरी नहीं कर सकते, घटिया ने तो सत्यानाश करना ही है । मैं इस बात का उपालम्भ नहीं देता कि हमारे युवक पश्चिम का अनुकरण कर रहे हैं, उन ने नकल ही उतारनी है तो पूरी उतारें, आधा तीतर और आधा बटेर वाली बात तो ठीक नहीं । प्रथम तो वह मनुष्य ही क्या जिसे अपनी सभ्यता का भी गौरव न हो, यह बात हम पर तो घटती है पर अंग्रेज आदिकों पर नहीं। क्या आप में से किसी ने भी किसी पश्चिमी को इस गरम देश में धोती पहनते देखा है, वह मोटे कपड़े की पतलून में ग्रीष्म ऋतु में दुःख मानता हुआ भी इसे ही पहनते रहा । राह चलते खाते भी नहीं देखा होगा। उस की सन्तान को नालियों में पाखाना करते तो देखना ही क्या था और गंदे वस्त्र पहनना तो वह सीखा ही नहीं था । उनकी अच्छी बातें तो हम ने अपनाई नहीं । हम पतलून तो पहनते हैं. खड़े हो कर मूत्र भी त्यागते हैं, पेशावगाहों के अभाव में मूत्र पतलून के पौंचों पर भी गिरता है, पर हम इसे न ही रोज धोते हैं और न ही बदलते हैं। अनुशासन का पालन तो हम विधिवत जानते ही नहीं, जो अंग्रेज में गुण विशेष है । हम में से धर्म की दौहाही देनेवाले भी शौच का ध्यान नहीं रखते । मुझे तो शोक होता है कि द्विज भी अपने बालकों को नालियों पर मल त्यागने से नहीं रोकते और स्वयं सड़कों पर फल आदिकों के छिलके बिखेरते

देखता हूँ, राह चलते भले ही न खाते हों। दोकान में खाते हैं और जूठ बाजार में फैंकते हैं, आम, खरबूजा, तरबूज और केले के छिलके आदिक सड़क पर पड़े वायु ही गंदी नहीं करते किन्तु कई राह चलतों के पैर फिसला कर उन के अंग तोड़ने का कारण भी बनते हैं। पीपल पालन का पुण्य जिन प्राणियों के हितार्थ किया जाता हैं, उनके स्वास्थ्य बिगाड़ने के लिये भी कोई कसर नहीं छोड़ते। मनुष्य क्योंकि सुख चाहता है और संसार में सबसे वढ़िया सुख अरोग्यता है जिस के अभाव में अन्य सभी सुख फीके हैं, इसलिये जो भी नियम अनुकूल हों उन को पालते हुए भी अपने स्वास्थ्य को स्थिर रखते हुये दूसरों की सेहत हमारे हाथों बिगड़ने न पाये, यह पहला धर्म समझो। जो माता बालक को इस भान्ति रहना सिखाती है, वह पुण्य की भागी है। जब वालक बोलना सीखता है तब वह जो भी वस्तु देखता है, उस से परिचित होना चाहता है। यही समय उसकी शिक्षा का है। विद्या दान से वढ़ कर दूसरा दान नहीं। माता और पिता उस के पहले गुरु हैं, यदि वहीं अपठित हैं तो वालक को क्या सिखा सकते हैं। ऐसी अवस्था में उन का कर्तव्य है कि वालक के प्रश्न का उत्तर आप न जानते हों तो किसी से पूछकर बालक को बतायें, ऐसा न करें कि बालक को टालने के लियेजो मूंह आया कह दिया। ऐसी तो कोई भी बात न करें जिस से बालक के आचार भ्रष्ट होने का भय हो। हमारा समाजी जीवन ऐसा होना चाहिये कि बालकों को हर ओर से शुभ और लाभदायक शिक्षा ही मिले। यदि तुम चाहो कि सन्तान तुम्हारी मौकिक शिक्षा तो सीखे और तुम्हारे जीवन के गुण,

दोषों का उस पर प्रभाव न पड़े तो ऐसा होना सम्भव नहीं। क्या तुम देखते नहीं कि माता पिता के साथ सनीमे में जाने वाले छोटे बच्चे भी गुंगुनाते फिरते हैं 'लारालप्पा लारालप्पा लाई रखदा' और ऐसी ही और भी वह चेष्टायें करते है जो उन्हों ने शराव डाका और परस्पर मुख चुम्बन की देखी हों। राम नाटक देखने वाले वहां से शुभ शिक्षा लेते हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली भी सुधारने योग्य है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिस से स्कूल छोड़ते ही अजीविका भी कर सके। नौकरी के लिये कितने महकमे खोले जा सकते हैं, यह तो होने से रहा कि सभी सरकारी नौकर रखे जा सकें।

आरोग्यता ही संसारिक और परमार्थिक सफलता का एक मात्र उपाय होने से सभी के लिये उपयोगी है। इस के लिये जहां स्वास्थ्य-विज्ञान का अनुकरण जरूरी है वहां खान पान की सामग्री की भी जरूरत है। कहा भी है तंगदस्ती गर न हो सालिक। तदरुस्ती हजार निहमत है। इन दोनों के होते हुये जिन्सी भूख भी वह रोग है कि जिस को मिटाने का यदि उचित समय पर प्रबन्ध न किया जाये, तो इनसानी नसल की ही जड़ें कट जाती हैं। आप से भूला हुआ नहीं कि जैसे चूहे और बिल्ली का सौभाविक वैर है, वैसे ही तरून अवस्था में नर नारी का प्रेम भी एक सहज वृत्ति है। भूख लगने पर मनुष्य अच्छे भोजन के अभाव में गली सड़ी और न खाने योग्य खुराक खाने के लिये भी मजबूर हो जाता है, ऐसे ही समय पर विवाह न होने से हमारी सन्तान अनुचित अथवा प्राकृति नियमों के विरुद्ध चल कर भी अपना सत्यानाश ही नही कर लेती किन्तु माता पिता को भी

कलङ्क लगाने का कारण बन जाती है । ऋषि सिद्धान्तों का उलङ्घन करते हुए लड़के लड़कियों की अकट्ठी शिक्षा इस विषय में शुभ परिणामों का कारण बनने से तो रही ? आर्थिक दशा सुधरे बिना विवाह भी एक पहेली सा बन गया है, अठारह वर्ष की आयु तक लड़का कमाने योग्य बनता नहीं, साधारण जनता विवाहित जोड़े का खर्च नहीं उठा सकती । पश्चिम के डाक्टर भी अब अपने सरद देश के लिये अठारह, उन्नीस वर्ष की आयु में ही विवाह के लिये ठीक समय बता रहे हैं। जिन का हम अनुकरण करना चाहते हैं, वह तो हमारी सभ्यता की ओर झुक रहे हैं और हम हैं कि शान्ति को अपने घर में ढूण्डने की जगह बाहर ढूंडते फिरते हैं । यही बैढंगी चाल रही तो वह दिन दूर नहीं कि हम भी इस प्रकार के सभ्य बन जायें।

मुहज्जब थे इतने कि कभी घर का मुंह न देखा ।
कटी उमर होटलों में मरे हस्पताल जा कर ॥

हमारे देश के कितने दुर्भाग्य हैं कि देश-उन्नति के लिये देश दो धड़ों में बंटा हुआ है । एक दल तो भारत को फिर से प्राचीन संस्कृति की ओर ले जाने में कल्याण मानता है और दूसरा पश्चिमी सभ्यता का पक्षपाती है और उस से हमारे जीवन आदर्श का ऊंचा किया चाहता है। उदाहरण अर्थ हिन्दू-कोड़बिल ही ले लो । पश्चिमी शिक्षा में रगे हुये इस बिल को हिन्दू जाति के लिये लाभदायक समझते हैं और अन्य इस को हिन्दू जाति की संस्कृति की मृत्यु का सन्देश। योरुप तो शान्ति के लिये हमारे ग्रन्थों की खोज कर रहा है और हम हैं कि उन की ओर दौड़ रहे हैं । देखो जर्मन का प्रसिद्ध

तार्किक (फिलासफर) शोपनहार लिखता है "हर एक पद से गहरे, नए और ऊंचे विचार उत्पन्न होते हैं, भारतवर्ष का पुराना वायु-मंडल हमे घेरे हुये है और नई रोशनी के नए विचार भी हमारे चारों ओर हैं, पर सारे संसार में मूलतत्वों को छोड़ कर किसी दूसरी विद्या का अभ्यास ऐसा उपयोगी और हृदय को ऊंचा बनाने वाला नहीं है जैसा कि उपनिषदों का। इसने मेरे जीवन में मुझे शान्ति दी है और यह मरने के समय भी शान्ति देगा"। उपनिषदों को यह मान केवल शोपनहार ने ही नहीं दिया किन्तु मैक्समूलर आदिक और बहुत सकौलरों (विद्वानों) ने ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। इस से बढ़ कर मान किसी ग्रन्थ का हो ही नहीं सकता। योरुप और अमरीका में दिनोंदिन उपनिषदों (वेदान्त) का आदर बढ़ रहा है। और इन के रहस्य समझने के लिये नित्य नए प्रयत्न हो रहे हैं। और एक दिन आयेगा, जबकि विद्यारसिक विद्वान् भी इन के सच्चे आशय पर पहुँच जाएंगे। यह प्रतिष्ठा तो उन लोगों ने की है, जिनको उपनिषदें एक अलभ्य वस्तु के तौर पर मिली हैं। पर आर्य लोग जिन की यह जद्दी जायदाद है, उन्हों ने तो इनकी और भी बढ़ कर प्रतिष्ठा की है। दर्शनशास्त्र इन के अक्षर २ को प्रमाण मानते है। आज हम हैं कि इन के स्थान में नई रोशनी के विचारों और रहन सहन के ढङ्गों में शान्ति ढूण्ड रहे है। जो अंतिम ऐसा ही निष्फल सिद्ध होगा जैसे पत्थर से दूध निकालने का यत्न करना। साधारण जनता इस घोर पाप के लिये ब्राह्मण और साधु समाज को कोसने में झूठी नहीं। लोभ और पाखण्ड ने पठित जनता का दृष्टिकोन

बदला और वह अपने प्रश्नों का ठीक उत्तर न पाकर जनता को भ्रम जाल से निकालने के लिये नये २ ढङ्ग सोचने लगे। आप को स्मरण होगा कि कल ही माधोलाल जी ने पूछा था कि 'जब भगवान् का आदेश है कि—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ गीता १७।२३

अर्थ— जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी मन मानी करता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परमगति को तथा न सुख को ही प्राप्त होता है। तब फिर हम उसका उलङ्घन करके कैसे सुखी हो सकते हैं।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।

पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ मनु० ५। १५५

अर्थ— स्त्रियों का अलग कोई यज्ञ नहीं, न व्रत, न उपवास केवल एक पति की सेवा से स्वर्ग में पूज्य हो जाती है।

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रत्तिकाञ्छठान्।

हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ मनु० ४।३०

अर्थ— पाखण्डी और निषिद्ध कर्म करने वालों विड़ाल व्रत वालों शठों वेद में श्रद्धा न रखने वालों और बक-वृत्ति वालों को वाणी मात्र से भी न पूजे और मनु की बावत श्रुति का आदेश है 'यन्मन रवदत्तद्भेषजम्' तै० सं० २—२—१०—२ जो कुछ मनु का कथन है वह औषध है (संसारी रोगों की दवा) और तो जाने भी दो क्या हम मनु की इन दो आज्ञाओं के न पालन करने से हिन्दू

जाति की जड़ें नहीं काट रहे। अकेली स्त्री प्रति मास की संक्रान्ति को गंगा स्नान के लिये हरिद्वार जा पहुंचती हैं, संवत्सर समाप्त होने पर शय्या दान करती हैं जो कि किसी शास्त्र में विधान ही नहीं और यह कोई प्राचीन प्रथा भी नहीं यह तो ऐसी ही बात है जैसे करूआचौथ, गलास, गड़वी, गड़वा बनते बनते घड़ाचौथ बन गया और भी कई प्रकार के अशास्त्रीय ढंग स्त्रियों को ठगने के चल पड़े हैं। निर्धन भी धनवान की बराबरी करता है और उसे भी बाजार से उसी नाम की सस्ती वस्तुयें मिल जाती हैं जिन का नाम ही पंजाब में (मंमने वाली) दान के योग्य पड़ गया है। यह वस्तुयें किसी भी काम की नहीं होतीं, धोती वह जो पहनने के स्थान में ऐसे ही लेन देन में चक्कर लगाती रहती है ऐसे ही पीतल की छोटी छोटी हलकी गड़वियां, जो दानी से ब्राह्मण और ब्राह्मण से कसेरे की दुकानों में फिरती रहती हैं। दाता और ग्रहीता यदि दोनों ऐसे नष्ट होने वाले धन को बचा कर चर भूमि छोंड़ने में व्यय करें तो भारत भूख के कष्ट से मुक्त हो जाय। 'रूखा सो भूखा' प्रसिद्ध ही है, दूध, घी की चिकनाहट से मनुष्य आधा अन्न कम खाने लग जाता है। पशु-धन की अधिकता कृषि के लिये भी लाभ प्रद है और चमड़े के लिये जीवित पशु भी मारने 'नहीं पड़ेंगे क्योंकि मरने वालों की संख्या भी स्वभाविक बढ़ जायगी। और चर भूमि का होना बहुत से गरीबों की रोजी का भी कारण बन सकता है, जो पशु पालने से अपना निर्वाह कर सकते हैं। घर घर दूध की नदियां बहाने का यही एक मात्र साधन है इस जैसा पुण्य और क्या हो सकता है ?

दक्षिणा के लोभ में क्या ब्राह्मणों ने एक अहिन्दू वेषधारी सन्यासी को सिर पर नहीं उठा रखा था, जो यज्ञ का ढोंग रच कर बहुत कुछ बटोर कर एक स्त्री को भी ले उड़ा। करामात तो उस में इतनी ही थी कि वह आंख बचा कर फासफोरस तालाब में फेंक देता और उस की रोशनी को देवी प्रकट होने का नाम देता। हाथों को सकरीन लगाये रखता, किसी किसी को मिट्टी अथवा धूनी की राख चुटकी भर प्रसाद देता, मीठी मृतका उस की सिद्धि बन गई। मेरे कहने पर भी लोभ वश मूर्ख मण्डल ने न मानना था और न ही माना। यह बात नहीं कि हिन्दु जनता हृदय से हिन्दु धर्म की विरोधी हो गई है, वह तो प्रायः आर्थिक संकट के कारण लोभियों की लूट खसूट से बचने के लिये अपने सस्कार छोड़ रही है। क्योंकि यह अब आडम्बरों का रूप धारण कर चुके हैं। 'है कोई माई का लाल ब्राह्मण इस सत्संग में जो हिन्दू जाति के कल्याण के लिये ब्राह्मणों और साधु समाज को सुधारने का बोड़ा उठाये।'

मुझे माधो लाल जी से यही कहना पड़ा था कि यहां तार टूटा हुआ नहीं तानी ही टूटी हुई है। विद्वान अपने पुत्रों को संस्कृत के विद्वान नहीं बना रहे। यह तो बड़ी अच्छी बात है कि ब्राह्मण युवक भी याचना वृत्ति का त्याग कर अन्य जनता की नाईं अपनी आजीविका कर रहे हैं, परन्तु इस में तो कोई हानि नहीं, यदि वे शास्त्रों का स्वाध्याय इस ढंग से करें कि अवकाश मिलने पर अपने घर में अथवा अपने मुहल्ले के चौक में प्रतिदिन नियत समय पर किसी शास्त्र को वांचा करें। इस प्रकार वे अपना और जनता का कल्याण कर सकते हैं। उन के ऐसा करने से भोग के नाम पर धन बटोरने की प्रणाली

अपने आप समाप्त हो जायगी और सत शास्त्रों के सुनने से जनता को यथार्थ धर्म का ज्ञान हो जायेगा, फिर वह स्वयं पाखण्डियों को ताड़ लिया करेगी और आधुनिक रामायण और महाभारत आदिक की कथा सुनाने वालों की दाल नहीं गलेगी और भ्रम भी फैलने से रुक जायगा। मैं तो इन व्यक्तियों का अति धन्यवादी हूँ जो अब्राह्मण होते हुये विना किसी लोभ के अपना कुछ समय जनता को वेद शास्त्र सुनाने में लगा रहे हैं। क्या ही अच्छा हो यदि धनी लोग पठित ब्राह्मणों को अपने कारोबार में नौकर रख लें और निर्धन लोगों के संस्कार कराने भी उनके कर्तव्य का एक भाग बना दें और यजमान एक पैसा भी दक्षिणा दे, वह स्वीकार करे और उस को गौ रक्षा हित लगाये क्योंकि उस की अपनी रोजी तो निश्चित है और यह एक प्रकार का धनी का ही दान है। ब्राह्मण ने जिस दिन संस्कार कराना है उस दिन दोकान का तो काम तो करना ही नहीं किन्तु उस दिन के वेतन के साथ उसे भोजन भा मिलेगा। यज्ञोपवीत आदिक संस्कार विद्वत मण्डली क्यों न स्वयं ही बहुत से ब्रह्मचारियों का प्राचीन मर्यादा अनुसार एक ही दिन करा दिया करे, ऐसा करने से उन को आर्थिक हानि का भय नहीं और यजमान को दो तीन रुपये खरचने से कोई कष्ट नहीं। ऐसा करने से धर्म-मर्य्यादा तो उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि भारत में हिन्दू-राज्य की स्थापना नहीं होती। आज तो राज्य का बदलना जनता के हाथ में है। "राजा कालस्य कारणम्" समय को परिवर्तन करना राज्य के आधीन है। यदि हिन्दू चाहते हैं कि पश्चमी सभ्यता उन पर न ठोसी जाये और उन के धर्म में हस्ताक्षेप न होने पाये, तो उन का कर्तव्य है कि वह

आने वाले चुनाव में योग्य, सदाचारी और हिन्दू-संस्कृति के पक्षपाती को अपना वोट डालें। हिन्दू-राज्य से भय मानने वालों के लिये इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि क्या उन में से कोई भी हिन्दू साहित्य से यह दिखला सकता है कि विचारों की भिन्नता के कारण कभी भी किसी अहिन्दू को सताया गया हो अथवा उस का मत परिवर्तन किये जाने का यत्न किया गया हो। इतिहास साक्षी है कि इरान के यहूदी और पारसी अपनी जान और ईमान की रक्षा के लिये राजा गुजरात की शरण में आये। राजा ने उन से केवल गौ-हत्या न करने की ही प्रतिज्ञा ली। इस कृषि प्रधान देश में गौ-रक्षा आर्थिक उन्नति के लिये जरूरी है। मुसलमानों के मत में भी यह जरूरी तो नहीं कि बकरीद पर गौ की बली ही लाज़मी है। हिन्दू तो सापों को भी दूध पिलाता है, उसका धर्म किसी भी प्राणी को सताने की आज्ञा नहीं देता किन्तु आतताई को चाहे वह किसी मत का हो, प्राण-दण्ड तक देने का विधान है। जब सभी देशों के वासी अपने २ देश के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे अफगानिस्तान में रहने वाले अफगान, तो हिन्द के रहने वाले अपने आप को हिन्दू कहलाने से सङ्कोच क्यों करें? भिन्न २ मतों के अनुयाई होते हुये भी हम सब से पहले हिन्दू हैं, ऐसा मानने में किसी को भी विरोध नहीं करना चाहिये। मैं तो कहूंगा कि इस बात को ध्यान में रखते हुये कि मनुष्यमात्र की सदा बनी रहने वाली वृत्ति एक जैसी है और वही इसका धर्म है। उस लक्ष्य पर पहुंचे बिना इसे शान्ति नहीं और उस की पूर्णता के लिये ही वह नाना प्रकार के यत्न करता है, पर सफलता उसी को होगी जो

व्यक्तिगत उन्नति के लिये अपने कर्तव्य का पालन ऐसे करे जिस से किसी की भी अवनति न होने पाये। यह बात तो आप को अज्ञात नहीं कि नगर में जितने ही ऊंचे २ घर होते हैं, उतने ही उस के बाहर पृथ्वी में गढ़े पाये जाते हैं. ऐसी ही धन भी जब एक दो के पास एकत्रित होगा तो दूसरों का निर्धन होना भी जरूरी है। उस के छीनने के लिये मनुष्य को भी पशुओं की भान्ति परस्पर छीनना झपटना पड़ता है पर उस के ढङ्ग छल, कपट. चोरी आदिक पशुओं से न्यारे हैं। इसी लिये वेद की आज्ञा पाले बिना शान्ति का मिलना असम्भव है। वेद का आदेश है 'मनुभव' तू मनुष्य बन फिर ही वह 'कृण्वन्तु विश्व आर्यम' का पालन कर सकता है। जो आप आर्य नहीं वह संसार को आर्य (श्रेष्ठ) कैसे बना सकता है। आरोग्यता के लिये जैसे कफ, वात, पित्त की समता जरूरी है और इनका विषम होना रोग का मूल, ऐसे ही समता बिना संसार में शान्ति भी हो नहीं सकती। विदेशी सभ्यता के पक्षपाती हमें फिरकाप्रस्त होने का लांछन लगाते हैं पर वह इस बात को भूल जाते हैं कि १९१६ के अवार्ड (AWARD) को मंजूर करने वाले वही हैं और यह अवार्ड ही फिरकाप्रस्ती की बुन्याद बना। पश्चमी देशों में शारीरिक सम्मता जब शान्ति स्थापन नहीं कर पाई तो भारत में यह कैसे सफल हो सकती है ? मनुष्यों की सम्मता तो आत्मज्ञान के बिना होने से रही। खरबूजे के ऊपर के निशान (लकीरें) उस के गूदे के एक होने में बाधिक नहीं पर नारङ्गी का ऊपर का छिलका एक सा दिखाई देता हुआ भी जभी उतारा जाता है तभी भीतर से कई फाड़ियां निकलती हैं और फिर

हर एक फाड़ी का रेजा २ जुदा २ है। पश्चमी और भारतीय संस्कृति में इतना ही अन्तर है। पश्चिम नारङ्गी वाली एकता चाहता है और भारत खरबूजे वाली एकता का प्रचारक है। समुद्र में जब तक वायु का जोर से सञ्चार नहीं होता, वह शान्त रहता है और उस समय उस में रहने वाले जल-जन्तुओं को कोई भी भय नहीं होता ना ही उस में से गुजरने वाले जहाज कोई खतरा मानते हैं। जभी तुफान आया समुद्र में बुद्बुदे, फेन और तरङ्गें प्रकट हुईं तभी जन्तुओं और जहाज वालों की शामत आई और वे अपने २ बचाओ के लिये हाथ, पांव मारने लगे। हिन्दू धर्म की मुख्य शिक्षा यही है कि जभी मनुष्य बहिरमुख होता है, वह भोग बिलास की कामनाओं से पीड़ित होता है और ज्यों २ भोग प्राप्त होते जाते हैं उसकी वासनाएं बढ़ती ही जाती हैं, छल कपट से पूरी करता २ अन्तिम लोक और परलोक बिगाड़ लेता है। और जो अन्तर मुख वृत्ति करता है, वह जान जाता है कि फेन बुद्बुद और तरङ्गें समुद्र से भिन्न नहीं, जल रूप ही हैं, वैसे ही सर्व आत्मा है, मैं अन्य किस को समझं और ऐसा पुरुष कामनाओं पर काबू पाने का यत्न करता है क्योंकि सुख इसी में है। मनुष्य की मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुये ही तो चोरी, डाका आदि रोकने के लिये कानून बनाये गये परन्तु आज ईश्वरीय कानून को असभ्य कहा जाता है, हिन्दू का तो कहना ही क्या है मुसलमान भी आज चोर को हाथ काटने का दण्ड देने के पक्ष में नहीं यद्यपि कुरान मजीद की ऐसी ही आज्ञा है। हिन्दू को फिरकाप्रस्त अथवा जो चाहो सो कहो परन्तु उस की यह बात सोलह आने ठीक है कि

बिना धर्म सुख शान्ति नहीं। धर्म के विषय में कुछ कह ही चुका हूं जिस का यही भाव है कि जब तक अनर्गल स्वतन्त्रता और कामनाओं की पूर्ति किसी अटूट नियम आधीन न रखी जाये, उस को धर्म कहो अथवा कुछ और तब तक संसार में अशान्ति ही रहेगी। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि मन भाता खाओ जग भाता पहनो, तुम्हें रोकने वाला कोई नहीं, किन्तु अन्याय से दूसरों के भोग पदार्थ मत छीनों। यह बात तो तुम से भी भूली हुई नहीं कि जब तुम अपने खर्च को अपनी आमदनी से बढ़ा लोगे तब फिर फालतू धन के लिये वही उपाय करने होंगे जिन का परिणाम सुख हो ही नहीं सकता, कहा भी है, जैसे—

जब तक मन की कुटलता न जायेगी।
सर्वदा शान्ति कबहू मुंह न दिखलायेगी॥

शान्ति के लिये सम्मता जरूरी है, वह आत्म-ज्ञान बिना कभी नहीं होगी और यही हिन्दू संस्कृति की आधार शिला है।

मेरे लिये तो शान्ति का प्रकाश स्तम्भ है, प्रेम और वेद की आज्ञा। सभी अपने २ ढङ्ग से ईश्वर-भजन करते हैं। मैं ने भक्ति-भजन का अर्थ सेवा करना समझ रखा है क्योंकि यह शब्द 'भज् सेवायाम्' धातु से सिद्ध होते हैं। प्रेम का ही दूसरा नाम है भक्ति। प्रेम ही संसार की स्थिरता का हेतु है। इसी को प्रीति, मैत्री, स्नेह, वात्सल्य और भक्ति आदि शब्दों में कहते हैं। जब यह अपने बराबर वालों में उपजता है, प्रीति, मैत्री और स्नेह कहाता है। इसी प्रकार छोटों के साथ वात्सल्य रूप और बड़ों के साथ 'भक्ति' इस नाम से पुकारा जाता है। प्रेम ही का अवलम्बन कर माता

पिता, भाई, बहिन और स्त्री पुत्र एक घर में बसते हैं। दूरके रहने वाले भी इसी आकर्षण बल से खिच कर पड़ोसी के समान हितैषि हो जाते हैं। राजा का प्रजा पर प्रेम होने से राज्य की मूलभित्ति आपाताल पहुँच जाती है फलतः मनुष्यों का समुदाय बांध कर रहना स्नेह के नमित्त ही है। भार्या का पोषण, सन्तान का पालन, विद्या और धन का उपार्जन भी प्रेम कराता है। अनजाना पुरुष जब प्रेम पाश में फंसता है अपने प्रीति भाजन के लिये प्राणदान तक देता है, मनुष्य ही नहीं पशु पत्ती तक प्रेम ही के सहारे जोड़ से रह कर अपने अण्डे बच्चे सेवते हैं। प्रेम ही स्नेह है जिस का अर्थ चिपकना रस है। गोंद स्नेह पदार्थ है, इस से पत्रादि जड़ पदार्थ भा जुड़ जाते हैं। जो मनुष्य अभिमान तो करते हैं, ईश्वर भक्त और देशभक्त और मातृ पितृ भक्त होने का पर न तो प्रभु की प्रजा से उनका प्रेम देखा जाता है, न देश के लिये प्राणदान करने वाले हैं, माता, पिता, भ्राता आदि से धन के कारण बिगाड़ है, पिता की यथार्थ आज्ञा को भी मन मानी स्वतन्त्रता के घुमण्ड में शिरोधार नहीं करते, वह तो भक्त शब्द की अवहेलना करने वाले है। कहा भी है—

जां घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की, स्वांस लेत बिन प्राण॥
यही है प्रस्तिश यही दोनों ईमान।
इनसान के लिये मर मिटे इनसान॥

यदि तुम में ऐसे भाव नहीं तो तुम में और पशु में अन्तर ही क्या है? पहले स्वयं मनुष्य बनने का यत्न करो। मैं ने तो अपने सुधार के लिये वेद का एक मन्त्र चुन रखा

है, मेरा पूर्ण विश्वास है कि जो इस को विचार कर इस में दी गई शिक्षा का पालन करेगा, वह स्वयं अन्धकार से प्रकाश की ओर आता हुआ जन्ता का भी कल्याण करेगा और सुख शान्ति का भी भागी बनेगा। जो कोई भी अमर जीवन लाभ करना चाहता है, उसे अपने जीवन में वह साधन घटाने होंगे जो उसका मत इस विषय में बना रहा है वरना उसका कुछ भो नहीं बनेगा । न द्वैत निस्तारा करेगा न अद्वैत और न ही कोई और मत।

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ यजु०४०। १

अर्थ— जो कुछ इस त्रिलोकी में चलायमान है, इस सब को ईश्वर से ढांप दे, तब त्याग से (इस को) उप भोग कर। ललचा मत (तनिक सोच कर तो देख) धन किस का है? 'स्वित' प्रश्न वा वितर्क (सोचने में होता है), जैसे 'किं स्विदिदम्' यह क्या है और कठ० १—५ में है 'किं स्वित् यमस्य कर्तव्यं।' एसे ही 'कस्यस्वित्' में भी 'स्वित्' सोचने के अर्थ में है । 'किसी का, यह अर्थ 'कस्यस्वित' का नहीं 'कस्यचित' का होता है । किञ्च ब्रह्म विद्या के प्रकरण में 'किसी के धन का लालच मत कर' इस की अपेक्षा 'मत ललचा' 'धन किस का है'? यह अर्थ अधिक सजता है । क्योंकि इस में सच्चे वैराग्य का उपदेश है, अर्थात् पानी में कमल के पत्ते की तरह जगत में रह कर भी निर्लेप रहने का उपदेश है, पर उस अर्थ में केवल चोरी का त्याग वा पराये स्वत्व का त्याग ही सूचित होता है
(भाष्य पं० राजा राम)

इस वेद मन्त्र में जगत, ईश्वर और उस का वर्णन है।जस को उपदेश है कि वह जगत को ईश्वर से ढांप दे और स्वयं त्याग से इस जगत का उपभोग करे, ललचाय नहीं और विचारे कि धन किस का है। मन्त्र में कहे गये तीन पदार्थों में से एक पदार्थ को.तो सभी मानते हैं। वह है जीवात्मा जिस को उपदेश है। यह बात और है कि इस के स्वरूप के विषय में सभी का दृष्टिकोण एक नहीं परन्तु इस के होने में इनकार किसी को नहीं। ईश्वर को संसार के सभी मनुष्य नहीं मानते। जगत को कोई असली, कोई स्वप्न तुल्य और कोई केवल व्यवहार के लिये इस की सत्ता को स्वीकार करता है। अब देखना है कि यह मन्त्र मनुष्य मात्र के लिये सर्वाङ्ग अपनाने योग्य है भी कि नहीं ? जो विवाद स्थल है पहले उस का विचार करते है। त्रिलोकी में भू, भ्वः और स्वः तीन लोक हैं। मुसलमान और ईसाई भी भू=दुनिया, भ्वः=अराब, स्वः=वहिश्त तीन ही मानते हैं। जैसे यह संसार सुख और दुःख रूप से अमीरों गरीबों की दुनिया में बटा हुआ है वैसे ही पुण्य और पाप आत्माओं के लिये हमारी आंखों से ओझल अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक हैं। यहाँ नेकों के लिये वहिश्त है वहां वदों के लिये साथ ही दोजख भी है। पिछले दो को छोड़ इस दुनिया को तो सभी मानते है। यह संसार भी त्रिलोकी में बटा हुआ है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से किसी को इनकार नहीं। हर किसी को प्रतिदिन इस त्रिलोकी की सैर करनी पड़ती है। जागृत और स्वप्न की दुनिया में तो हम सभी का मत भेद है और यह भेद अमिट भी है परन्तु गहरी नींद में तख्त पर सोने वाला राजा और पृथिवी पर

मिट्टी के ढेलों पर सोने वाला कंगाल दोनों का सुख एक जैसा है। सुषुप्ति का सुख ही वह सुख है जिस के लिये किसी प्रकार की सामग्री की जरूरत नहीं जिस को भली भांति यह सुख प्राप्त नहीं होता वह विषयक सुखों की सामग्री की बहुलता में भी दुःखी देखा जाता है। जागृत के संसार की पहेली तो हम अपनी अपनी बुद्धि अनुसार हल करने का यत्न भी करते है, अपने पुरुषार्थ और परिश्रम से दुःख को सुख में बदलने के लिये हर प्रकार का यत्न करते है पर स्वप्न में हमारा वस नहीं चलता, अरोगी और धनी होते हुये बीमार और कंगाल होने से पेट की भूख मिटाने के लिये मुट्ठी चने दर दर मांगने पर भी न मिलने से दुखी हो रहे हैं। सुषुप्ति में तो हमें अपने तन बदन की भी सुध नहीं, बाल बच्चों और धन की रक्षा करना तो दूर की बात रही। तीनों दुनिया बदलती रहती हैं परंतु इन तीनों का द्रष्टा नहीं बदलता, वही न बदलने वाले तुम हो या कोई और ? क्या तुम वही नहीं हो जिस के सामने बालकपन से वृद्ध अवस्था तक दुनिया बदलती आ रही है और तुम स्वय न बदलते हुये इन सब तबदीलियों को जानते हो। तुम्हारा बस चले तो तुम दुःख को अपने निकट न फटकने दो। तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल दुःख होता है और तुम मृत्यु जैसे दुःख से बचना चाहते हुये भी बच नहीं सकते। यदि तुम्हारे कर्मों अनुसार यह ईश्वरीय खेल नहीं तो और क्या है ? चोर भी अपने आप तो कभी जेल में नहीं जाता, ऐसे ही मनुष्य अपने कर्मों का फल दाता आप ही हो तो अपने लिये दुःख कभी न सहेड़ता। इस से मानना पड़ता है कि कर्म फल दाता ईश्वर है और उसी ने जगत रचा है। कार्य को देख कर उस के

कर्ता का अनुमान होता है, जगत का होना सिद्ध करता है कि इस के रचने वाला भी ज़रूर होगा, वही ईश्वर है। हमारा शरीर तभी तक नियम में रहता है जब तक जीवात्मा इस के अन्दर है, ऐसे ही संसार में यदि कोई व्यापक चेतन शक्ति न हो तो यह भी नियम में नहीं रह सकता। वही सर्व व्यापक चेतन ईश्वर कहा जाता है। वेद का आदेश उसी ईश्वर से जगत को ढांपने का है। जगत कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं किसी बड़े कटाह से ढांपा जा सके। दृश्यमान पदार्थों को स्थिर न रहने से जगत कहते हैं। इस मन्त्र का जगत को ईश्वर से ढांपने का यही भाव है कि हम ईश्वर को इस प्रकार देखें जैसे वस्त्र में सूत और भूषणों में सोना। यह तभी सम्भव है यदि हम ईश्वर को जगत का अभिन्निमित्तोपादान कारण मानें। महाशय रामदत्त जी इस बात को भली प्रकार सिद्ध कर चुके हैं। मैं ने तो एक से अनेक होने को सिद्ध करने के लिये कुछ विशेष कहना नहीं। यह बात तो आप भी जानते हैं कि कारण पूर्वक कार्य हुआ करता है परंतु कार्य कारण में कुछ विलक्षणता भी होती है। यह है एक मक्की का सिट्टा, इस में कई भुट्टे लगे हुये हैं पर मैं आप की दृष्टि एक गांठ पर लगे हुये तीन छल्लियों की ओर डलवाता हूं। एक छल्ली सफेद दानों वाली है, दूसरी पीले दानो वाली और तीसरी में सफेद, पीले, लाल, हरे, नीले और काले दाने लगे हुये हैं, किसी किसी रंग की एक एक दो दो डारें हैं और किसी एक ही धार में दो दो तीन तीन जुदे जुदे रंगों के दाने लगे हुये हैं। इस सिट्टे (टांडा) का बीज एक दाना था, नहीं कह सकते वह किस एक रंग का था। मेरी बुद्धि तो इस रहस्य को जानने में असमर्थ है और

मैं तो इस बात को भी अच्छी तरह नहीं जान पाया कि जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के चक्कर में मुझे वेबस हो कर घूमना क्यों पड़ रहा है ? मेरी ही बात तो अनोखी नहीं शेरों, चीतों, रीछों, सांपों और बन्दिर जैसे जानवरों को वशीभूत करने वाले सरकस मासटर भी अपने शरीरों को इस प्रकार नहीं सिधा सकें कि वह एक सप्ताह के लिये भी इन पर स्वप्न और सुषुप्ति के भूतों को सवार न होने दे। मैं तो महात्माओं से यही उपाय सीखता रहता हूँ कि जगत को ईश्वर से कैसे ढांपूं ? सीखी और पढ़ी हुई बातों में से कुछ आज भी सुना देता हूँ। मेरे हाथ में यह टूटे हुये खाट का एक पाया है, पाये के रूप में आने से पहले यह टाहली की लकड़ी था। जल कर यह कोयला हो जायगा, कोयला राख, राख मिट्टी में मिल कर मिट्टी फिर कूड़े करकट वाली मिट्टी खेत में खाद का काम देगी, खाद अन्न और तरकारियों और फलों की पुष्टि का कारण बनेगा, उसी खेत की मृतका को कभी न कभी कुम्भकार खरीद कर नाना प्रकार के पात्र अथवा कई प्रकार की ईंटों के रूप में परिणत कर देगा। इन सभी परिणामों में अस्ति, भाति और प्रिय नहीं बदला, तबदीली नाम और रूपों में होती रही है। नाम रूप तो संकेत हैं जो व्यवहार के लिये कल्पित हैं और इन से वाच्य अर्थ की सिद्धि होती है न कि लक्ष्य अर्थ की। एक ही व्यक्ति देवदत्त में पुत्र, पिता, भ्राता, पति और जामाता की कल्पना की जाती है, जो चेतन शक्ति इन का आधार है वह तो दृष्टि का विषय ही नहीं। आकाश निर्व्यव होता हुआ भी घटाकाश, मटाकाश कहाता है। पृथिवी न वटी हुई भी अङ्गन कमरा, सड़क आदि के संकेत में लाई जाती है। काल और

दिशाओं को भी हम ने व्यवहार के लिये बांट रखा है वरना काल में मिंट, सैकिंड, घड़ी, मास, वर्ष आदि कहां ? रात दिन और दिशा भी सूर्य के आधार पर मानी हुई हैं। यह सभी नाम रूप एक ही चेतन के वाच्य अर्थ हैं, लक्ष्य तो अनुभव का विषय है। रस्सी में सर्प का तभी तक भान होता है, जब तक हमें उस के अधिष्ठान का ज्ञान नहीं. जब प्रकाश में रस्सी का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो निश्चय हो जाता है कि रस्सी सर्प बनी ही कब थी. यह तो हमारा अज्ञान था। चेतन को किसी प्रकार भी शब्द द्वारा नहीं बता सकते, वह तो गूंगे का गुड़ है। हम इक्षु (गन्ना) चूसते हैं, उस का रस पीते हैं, गुड़, शक्कर, राब, खांड आदि खाते हैं। पर वाणी से एक दूसरे के स्वाद की भिन्नता को नहीं बता सकते, यद्यपि मिठास में अन्तर जरूर है। चेतन एक होते हुये भी अन्तष्करण उपाधि के कारण अपने अपने दृष्टिकोण से कई प्रकार का वर्णन किया जाता हैं परन्तु पूर्ण ज्ञान होने पर सब भेद भाव मिट जाते हैं। अंशी के गुण अंश में होते हैं, इसलिये हम सभी हर प्रकार की पूर्णता की ओर दौड़ रहे हैं। इस दौड़ में सफल वही होगा जो अपने मन का निरीक्षण करेगा और ऐसा करने से उसे ज्ञात हो जायगा कि सभी का मनोरथ सुख है। क्रिया प्रतिक्रिया (Action, Reaction) जरूरी है. तुम छीन झपट करोगे तो कोई तुम्हें भी जरूर लूटेगा, इसलिये अपनी तुच्छ बुद्धि के बल पर ऐसे नियम न बनाओ जो सभी को स्वीकार न हों। असली जमहूरियत तो तभी कही जायगी जब जनता की बहुलता की आवाज सुनी जाये। यह नहीं होना चाहिये कि जनता की उत्कट इच्छा के विरुद्ध अपने पक्ष के थोड़े से स्त्री

पुरुषों की प्रसन्नता के लिये किसी जाति विशेष के धर्म पर कुठाराघात किया जाय, जैसे आज कल हिन्दुओं पर हिन्दु कोड़ बिल ठौंसने का प्रयत्न हो रहा है। ऐसे ऐसे बिलों पर सदाचार के संवरने की सम्भावना नहीं हो सकती। सदाचार के लिये तो ईश्वरीय अथवा राज्य भय और बरादरी के डर की जरूरत है। कांग्रेस राज्य जनता के सुख के साधनों रोटी कपड़े का सवाल तो हल नहीं कर सका, उल्टा हिन्दू धर्म में हस्ताक्षेप करने से सैकूलर स्टेट के नाम पर धब्बा लगा रहा है। भविष्य की भगवान जाने पर आज तो इस बिल के विरोधी आने वाले चुनाओ में कांग्रेस को पिछाड़ना चाहते हैं और प्रभु कृपा से उन का सफल होना कोई बड़ी बात नहीं। मेरी मति में तो वह व्यक्ति और समाज बड़ा ही फिरका ग्रस्त है जो यह नहीं समझता कि मानसिक भावों में कोई भी नीचा देखने को तैय्यार नहीं। ऊंच नीच का भेद भाव आत्म-ज्ञान विना अमिट है और जिस के लिये सदाचार पहली शरत है। धर्म सदाचार का शिक्षक है, जब तक जनता धर्म परायण नहीं होती, पुलीस और सेना का खर्च बढ़ता ही जायगा, संगीनों और तोपों की छाया तले मूर्ख ही शान्ति ढूंडा करते हैं। सज्जनों! यदि तुम स्वयं सदाचारी बन जाओ तो मानो कि आप ने संसार के सुधार के लिये अपने कर्तव्य का पालन कर दिया। कामना को रोको इस में सदाचार छिपा हुआ है। नाम और रूप का नाम ही जड़ जगत है। हमारे शरीरों में जो चेतन शक्ति है उस का न कोई रूप है और न नाम. अन्य सब कुछ नाम रूप के संकेत में आने वाला होने से जड़ है और आश्चर्य है कि हम विनाशी जड़ पदार्थ के मोह में जकड़े हुये

हैं। स्त्री, पुत्र के मृतक शरीर से स्वाभाविक ही प्रेम टूट जाता है और हम अपने हाथों उन को जला देते हैं.परन्तु जीवित जड़ शरीर से हमारा अनुराग है और हम इस अवस्था में इस को जड़ मानने के लिए भी तय्यार नहीं क्योंकि पत्थर आदिक जड़ पदार्थों में हमारा शरीर तुल्य राग द्वेष नहीं। जैसे गर्म पानी शरीर को जला देता है और बुद्धिमान ही जानता है कि पानी का गुण शीतलता है न की जलाना, पानी में आई हुई अग्नि की उष्णता ने शरीर को जलाया है और स्पर्श से उष्णता का भान भी होता है पर अग्नि का प्रकाश जल में दिखाई न देने से जल को दाह करने वाला मान लेना मूर्खों का काम है। शरीर में चेतन विशेष के होने से जड़ शरीर चेतन सा हो रहा है। जो कोई साधन सम्पन्न हो कर अपने वास्तविक स्वरूप की खोज करेगा, उसी पर यह भेद खुलेगा अन्य पर नहीं कि जगत को ईश्वर से कैसे ढांपे। अनुभवी महात्माओं का कथन है कि गणित विद्या में १ ही गणित का बीज है गणना ९ तक है जो १+१=२ से ९ तक है, बिन्दु का मूल्य है भी और नहीं भी। १ के दाईं ओर बिन्दु जोड़ने से १० इसी प्रकार बढ़ते २ असंख्या तक नौबत आ जाती है और इसी बिन्दु को बाईं ओर लगाने से १ का १ रहता है जैसे ०१ और कितने भी बिन्दु लगादो रहेगा १ ही। एक ही चेतन की उपाधि भेद से गणना बढ़ती है और उपाधि भेद हटाने से दुई की गंध भी नहीं रहती। नाम रूप के कारण नानात्व है, इस को हटाने की देर है कि अस्ति भांति और प्रिय एक ही सत्ता शेष रहती है, वही ईश्वर है और वही सब का अपना आप भी

है। सूर्य की तरफ पीठ करके चलने से तुम्हारी परछाई तुम्हारे आगे २ चल रही है, तुम उस को पकड़ नहीं सकते और जभी तुम सूर्य की ओर मुख करके चलो परछाई तुम्हारे पीछे २ चलेगी और जभी सूर्य तुम्हारे सिर पर आ जाता है तो परछाई भी दायें बायें आगे पाछे कहीं दिखाई नहीं देती। ईश्वर और जगत की पहेली बातों से तो हल होने से रही, आप पेड़ गिणने के स्थान में फल खाओ फल खाने का आदेश वेद ने बताया ही है कि इस जगत का त्याग भाव से उपभोग करो और ऐसा करने का उपाय भी कहा है। इसी को अपनाने से संसार में शान्ति हो सकती है अन्यथा कदापि नहीं।

वेद ने बताया है कि जरा सोचो तो सही, धन किस का है? द्रव्य-धन, पशु-धन, स्त्री-धन, और पुत्र-धन इत्यादि सभी धन कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में यूं समझो कि मनुष्य के जीवन निर्वाह और सुखदायक भोग सामग्री को धन कहते हैं। प्रथम तो मनुष्य की यही भावना बनी रहती है कि उस का शरीर सदा बना रहे और फिर इसके सुख के लिये उसे धन की जरूरत है ताकि उसके पालन पोषण अर्थ सभी उपयोगी सामग्री प्राप्त कर सके। देखा यह जाता है कि शरीर किसी का भी सदा नहीं रहता क्योंकि ईश्वर रचना का यह दस्तूर है कि जो बनता है वह बिगड़ता जरूर है। हम यह भी देखते हैं कि कोई भी मरने वाला कोई भी संसारी सामग्री अपने साथ नहीं ले जाता और न ही किसी नये आने वाले को अपने साथ कुछ लाता देखते है। दुन्या सराये ही ऐसी है कि जहां ठहरना नहीं होता। वही पथिक सुखी रहता है जो रेन बसेरे के लिये उपयोगी सामग्री अकट्ठी करता है, आनेवाले मुसाफरों के लिये

अन्न जल आदिक कष्टों को भी दूर कर जाता है जिन के अभाव के कारण उस ने स्वयं दुःख अनुभव किया था। जिस की बुद्धि में यह विचार घर कर गया मानों सूर्य उस के सिर पर चमक रहा है, उस की छाया उस में लीन हो चुकी है, वह दूसरे भटके हुये मुसाफरों की नाईं अपनी ही परछाई को पकड़ने के लिये आगे पीछे दायें बायें दौड़ता नहीं फिरता। वह तो रास्ते के दृश्यों को देखता हुआ अपनी मञ्जल की ओर बढ़ा ही जाता है। वह जान गया है कि कामना उसी की पूर्ण होती है जो मन को वश करता है वरना इस संसार के धन की बहुलता की धुन में कई सिर धुनते चलते बने. यह माया आज तक न किसी की हुई और न होगी। इस का नियम तो मायापति के ही आधीन रहना है। उस के यह कब वश में आने लगी, जिस का अपनी मलकीयत पर ही अधिकार नहीं है। कहने को तो हम सब कहते है मेरा मन, मेरी बुद्धि और मेरा शरीर इत्यादि पर सच पूछो तो हम उन के गुलाम हैं। यदि आप में से किसी को अपने मन आदि का स्वामी होने का अभिमान है तो तनिक मन की क्रिया (सङ्कल्प, विकल्प) को तो रोक देखे। 'पराधीन सुपने सुख नांही' हमें सुख कहां जब कि हम पराधीनता तो क्या अपनी ही इन्द्रियों के आधीन हैं और ढींग मारते हैं अपनी आजादी की। सुख चाहते हो तो संसार में ऐसे उपभोग करो जैसे त्याग भाव से तुम्हारे अपने शरीर के अंग कर रहे हैं। सेब का रूप आंख नहीं चाहती उस से ओझल हो, नासिका उसकी सुगन्धि का, जीभा रस का त्याग नहीं चाहती, यदि ये अपने अपने स्वाथ को न छोड़ें तब न ही सेब खाया जाये और न

ही यह अंग पुष्ट हों। स्वार्थ को छोड़ जो भी जीवन व्यतीत करता है, उसी को सुख की प्राप्ति होती है। परमानन्द की प्राप्ति के लिये मन को वशीभूत करना जरूरी है। अन्न के सूक्ष्म अंश से मन बनता है, इस लिये अन्न सात्विक और धर्म अनुकूल कमाया हुआ हो। जब तक मन का किसी इन्द्रिय से संयोग न हो, वह अपना काम नहीं कर सकती जैसा कि अपने ध्यान में लगे हुये बुलाने वाले की वाणी नहीं सुना करते। अभ्यास और वैराग्य दो ही मन को वश करने के साधन हैं, वह दोनों ही इस वेद-मन्त्र में पाये जाते हैं। गौ किसी भी देश की हो और उसका रङ्ग, कद कैसा भी हो पर दूध सभी का एक जैसा होता है। मनुष्यों के भिन्न २ रङ्ग रूपों से मनुष्य के असली स्वरूप में कोई फरक नहीं पड़ता। हम तो वस्त्रों को ही देखते हैं, वस्त्र धारण करने वाले को नहीं। प्रकाश स्वरूप आत्मा काला, गोरा, गन्दमी और सांवला नहीं, न ही उस का कोई नाम है और न ही जात पात और वर्णाश्रम की फांसों में जकड़ा हुआ है। यह सब विशेषण तो उपाधि के कारण उस में आरोपत किये जाते हैं. जैसे बिजली का प्रकाश बलबों की रङ्गत की भिन्नता से लाल, हरा, पीला आदि कहा जाता और दिखाई देता है। नाम रूप के परदे में एक ही चेतन सत्ता विराज रहा है, वही ईश्वर है वही तुम हो।

जीव ईश्वर का अभेद प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से सब को माननीय नहीं। देखने में तो जड़ जड़ का भेद जैसे पत्थर और लकड़ी एक नहीं, जीव और जड़ का भेद जैसे मनुष्य पत्थर नहीं, जीव जीव का भेद जैसे मनुष्य सर्प नहीं अथवा गोकुलचन्द रामचन्द नहीं ऐसे ही जीव ईश्वर नहीं. पर शास्त्र तो अभेद भी बताता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

गीता २ । २४

अर्थ— यह आत्मा अच्छेद है, अर्थात् काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता और और सुखाया नहीं जा सकता तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है। भगवान् राम के पूछने पर कि हनुमान तुम कौन हो, हनुमान ने उत्तर दिया था कि 'तन से आप का सेवक' मन से दास और स्वरूप में एक हैं मैं और आप'। कृष्ण और रामभक्त हैं तो बहुत परन्तु ऐसा भक्त विरला ही देखने में आता है जिस ने यह समझ लिया हो कि उसका उपास्य देव तो अङ्गी है अन्य सकल देव उसी के अङ्ग हैं। यह अवस्था तो उसी को प्राप्त होती है जो साधन सम्पन्न हो। भेद मानो या अभेद किन्तु अपनी हस्ती से तो किसी को भी इनकार नहीं। मैं नया मकान बनाता हूं, मैं उस के जलने की खबर सुनते ही रोने पीटने लगता हूँ, हाये मैं लूटा गया। अथवा पुत्र की मृत्यु सुन कर या अपने शारीरिक कष्ट से पीड़ित होकर मेरे मुंह से निकलता है हाय मैं मर गया। क्या मृतक प्राणी भी रोया पीटा करता है ? पर ऐसी घटनायें हम देखते रोज हैं फिर भी विचार से शून्य ही हैं। कहने का भाव यह है कि मैं शब्द का प्रयोग गौण आत्मा मिथ्या आत्मा और मुख्य आत्मा तीनों के लिये होता है। पुत्र गौण आत्मा और शरीर मिथ्या आत्मा है और हमारे असली आत्मा का स्वरूप तो भगवान् ने सर्वव्यापक बताया है। यह

शब्द तो सदा प्रत्यक्ष के लिये प्रयोग होता है क्योंकि परोक्ष के लिये तो अंगुली का निर्देश होने से रहा ? हम जीवात्मा को इस शरीर में परछिन्न मानते हैं यह सर्वव्यापक कैसे हो सकता है। हमने तो ज्ञान स्वरूप आत्मा में अज्ञान से देह के धर्म आरोपित कर रखे हैं, जिन का आत्मा से दूर का भी वासता नहीं। ज्ञाता तो मन, प्राण और देह आदिक की खेलों का जानने वाला है, इन में से इसे जानने की किसी में सामर्थ्य नहीं। भेदवादी ने भी जीवात्मा से ही परमात्मा को जानना है, इस लिये दोनों को पहले अपना आप जानना ही जरूरी है जो अपने अनुभव का विषय है न कि किसी इन्द्रिय का।

अनुभव ज्ञान से होता है और ज्ञान के समान मन को पवित्र करने वाला अन्य साधन नहीं, परन्तु पुस्तक ज्ञान वह ज्ञान नहीं जिस से मेरा अभिप्राय है। यह ज्ञान प्राप्त करने के लिये तो जितेन्द्रिय होना जरूरी है। जिस को ऐसा ज्ञान हुआ, उस ज्ञानी को तो भगवान् गीता ७—१८ में अपना ही स्वरूप बताते हैं और इस से अगला श्लोक (गीता ७—१९) कहता है 'कि यह सब कुछ वासुदेव ही है, फिर ऐसे ज्ञानी को राग द्वेष और मोह, शोक कब हो सकते हैं। इस ज्ञान का बाधक काम है, इस लिये योग और ज्ञान का जिज्ञासु जो एक ही बात है अपनी कामनाओं को जब तक न घटाये, तब तक सफल नहीं हो सकता। पहले विचारो कि मेरे शरीर से जो भिन्न पदार्थ हैं, उनके लिये मैं का प्रयोग कैसे ठीक हो सकता है। यदि मैं मकान को बेच डालूं और फिर वह जल जाये

तब मुझे शोक क्यों होने लगा और पुत्र के पेट भरने से मेरी भूख क्यों नहीं मिटती ? यह तनिक सा विचार भी किया जाये तो विचार में परिवर्तन होना जरूरी है। इस से आगे स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर में भी मैं पने का झूठा ही अभिमान है। पांचों कोषों से परे तीनों शरीरों का साक्षी जो आत्मा है, वह मेरा स्वरूप है, यह ज्ञान उसी को प्राप्त होगा जिस के अन्तःकरण का मल निष्काम कर्म द्वारा और मन की चञ्चलता उपासना से दूर हो गई हो। उपासक ने तो अपने उपासक देवको सभी रूपों में देखना है फिर वह छल कपट किस से करे ? पर देखने में आता है कि साधारण मष्नुयों का तो कहना ही क्या, ज्ञानी, ध्यानी, भक्त और योगी होने के अभिमानी भी इतने कृतघ्न हैं कि वह अपने बूढ़े माता, पिता अथवा दारिद्र भाई वन्धुओं की सहायता के लिये भी उदार चित्त नहीं, यद्यपि वैराग्य और उदारता तो पहले चिह्न हैं जो जिज्ञासु में पाये जाने चाहियें। विषय आनन्द की खातिर तो हम ने कई लोगों को धन लुटाते देखा, स्त्री पुत्र को छोड़ते देखा परन्तु जिस विद्या का मूल ही वैराग्य हो, उस आत्म—ज्ञान को बातों से पाना चाहते हैं। ऐसे मनुष्यों के विषय मे ही कहा गया है—

ज्ञान कथा घनी सुनी प्रश्न किये अति गूढ़।
नारायण बिन धारणा वृथा वक्त है मूढ़॥

हमारे सत्संगियों में से रोड़ा राम नाई ही अच्छा है जिस का जीवन तो अनुकरणीय है। वह अफरीका से बहुत धन कमा कर लाया, जहां आकर भी अपना कर्म नहीं छोड़ा।

नालाईक भाई और उसके परिवार को अपने साथ रखा हुआ है, मेरे तेरे का कोई काम नहीं। पूछने पर यही कहा करता है कि उस ने तो यही सीखा है—

(१) घर का दिया जला कर, मन्दिर का फिर जलाना।
(२) घर के मानु भूखं मरदे बाहर सदका बण्डी दा।

यदि उस के माता पिता जीवित होते अथवा उस के ही इतनी और सन्तान होती, तब भी तो निर्वाह करना ही था जब भाई में ही भेद दृष्टि है तब दूसरों में अभेद ढोंग ही है। भाई रोड़ाराम, तुम आप ही इस विषय में कुछ कहो, यह सब से अच्छी बात होगी।

रोड़ाराम— महाराजाओ मैं ने दो पद अपनी शिक्षा अर्थ चुने हुये हैं।

तुलसी इस संसार में करने को दो काम।
देने को टुकड़ा भलो लेने को हरि नाम॥
नारायण इस संसार में जो चाहें कल्यान।
एक न भूलो मौत को दूजे श्री भगवान॥

मैं पानी खाता हूं रोटी पीता हूँ अर्थात पानी पीना हो तो घूंट २ करके पीता हूँ जैसे रोटी का एक एक ग्रास खाया जाता है और रोटी को चबाकर इतना बारीक कर लेता हूँ कि वह पानी की नांईं कण्ठ से नीचे उतर जाये। प्यास लगने पर मैं सादा पानी पीना पसन्द करता हूं और यह तो मेरा स्वभाव ही नही कि अभी पानी पिया और फिर प्यास के न होने पर भी ठंढी लस्सी, दूध अथवा सरदाई, शर्बत का लोटा पेट में उनधेल लिया या सर्दियों में गरम चाय। यही हाल मेरे खाने

का है, मैं अचार, मुरब्बे, चटनी या किसी स्वादिष्ट पदार्थ के लोभ में न ही नकली भूख बनाता हूं और न ही अधिक खाता हूँ। मन तो हर काम में मनुष्य को सावधान करता है पर कोई विरला ही इस धुनी को सुनता है। मेरी तन्दुरुस्ती का तो यही रहस्य है। जीवन को ऊंचा बनाने का ढंडोरा तो हमारे राज्य अधिकारी भी पीटते है परन्तु उस जीवन के लिये धन की जरूरत है और मैं ने सदाचार को मुख्य उच्च जीवन समझ रक्खा है। मैं ने अपने पालतू कुत्ते से सन्तोष का सबक पढ़ा है, जो भूखा प्यासा होने पर भी मेरी वफादारी से मुंह नहीं मोड़ता। मैं तो कुत्ते से भी गया गुजरा हो जाऊं यदि प्रभु के किए और उसके दिये पर सन्तुष्ट न रहूँ। प्रभु ने मुझे अच्छी इन्द्रियां दी तभी तो मैं कमाने योग्य हुआ, वरना मैं कमाने वाला कौन? मुझे अभिमान है कि मेरे पूर्वज नन्दा के लिये भगवान् कृष्ण को नायी का काम करना पड़ा। जब भगवान् ने भक्त के लिये नाई का रूप धारण कर लिया तो मैं अपने भगवान् के दिये हुये आजीविका के ढङ्ग को क्यों बदलूं। मेरी कमाई में छल कपट का कोई काम नहीं, यजमान यथाशक्ति मेरी सहायता करते हैं। जो थोड़ा सा रुपया मैं अफरीका से लाया हूं वह भी तो यजमानों की ही कृपा है, जो मुझे वहां अपने किराये पर साथ ले गये थे। मैं परदेश से धन कमा कर घर आया हूं, अब मैं यही चाहता हूँ कि इस लोक से धर्म-धन कमा कर निज स्वरूप में समाऊँ जोकि मेरा असली घर है। इस के लिये मैं ने हरिः नाम का सहारा लिया हुआ है और मौत को याद रखता हूं। किसान ने जब दूसरे खेत को पानी देना होता है तो वह पहले खेत का मोघा बन्द कर देता है और दूसरे का

खोल देता है, इस से पानी दूसरे खेत में जाने लग जाता है। मैं संसारी विषयों से उपराम होने में सुख मानता हूँ, इस लिये मेरी रुचि स्वाभाविक ही भीतर की ओर हो रही है। बहुत अस्त्र शस्त्र तो दूसरों को मारने के लिये होते हैं, अपना घात करने के लिये तो दृढ़ सङ्कल्प ही काफी है, ऐसे ही अपने सुधार के लिये बहुत पढ़ने पढ़ाने की जरूरत नहीं केवल सदाचारी बन कर नाम रटन पूर्ण औषध है।

राम नाम रटते रहो , वृथा स्वास मत खो।
न जाने इसी स्वास में , अन्तिम स्वास न हो॥

कहने से करना अच्छा है, हो सके तो कबीर जी की रीस करो।

कबीरा जब तुम आये , जग हंसे तुम रो।
ऐसी करनी कर चलो , तुम हंसो जग रो॥

जीवन का मुख्य कर्तव्य तो मुझे ऐसा ही महात्मा-जनों ने बता रखा है। मैं उस को पालने का यत्न करता हूँ, परमात्मा मुझे बल दें यही मेरी उत्कट इच्छा है। मैं ने पण्डित जी का कहना मान लिया वरना मैं क्या कह सकता था।

अभयराम— सज्जनो! तुम भी नाम रूप में छिपी हुई सत्ता का अनुभव करना परम पुरुषार्थ जानो इन्द्रियों ने अपना २ कार्य करना है जैसे आँख भले बुरे सभी पदार्थ देखेगी, आप ने तो विचार से मन का दृष्टिकोण बदलना है। आप ने एक रूपवती पर-स्त्री देखी, मन में कुसङ्ग के दोष से व्यभिचार के भाव प्रकट होने लगे, मन का कांटा बदलो और समझो कि यदि यही तुम्हारी बहिन, लड़की और माता होती तो इसके विषय में तुम्हारे क्या विचार होते अथवा यूं सोचो

कि त्वचा की रङ्गत में मोहित क्यों हो रहे हो, बनाने वाले की कारागरी को लखो जिस ने हाड़, माँस, रुधिर, मज्जा और मल मूत्र के पिञ्जर को ऐसा ढाँप रखा है कि घृणा के स्थान में प्यार उत्पन्न होता है। ओ दुराचारी! जब तू किसी के रूप और कद को अपने रूप रङ्ग और कद से बदलने में असमर्थ्य है तो किसी क यौवन छीन कैसे सकता है, तू प्रभु की महिमा देख और इस संसार में ऐसा रह जैसे जल में कमल। विषययों में दोष दृष्टि रख और संसार की अस्थिरता का चिन्तन करता हुआ नाशवान पदार्थों के लिये पाप मत कर। जो तू चाहता है वही कुछ दूसरे चाहते है, अपनी प्रारब्ध के भोग समाप्त होने पर देश काल और निमित्त के अकट्ठे होते ही तेरा कूच अवश्य भावी है, ऐसा हुये विना तेरा शरीर छूटने से रहा। जब तक शरीर है ऐसे काम कर कि तेरे मरने के पीछे भी तेरा नाम बाकी रहे। यह सौभाग्य संसार के महा पुरुषों को ही प्राप्त होता है जिन के नाम लेवा आज भी उन के नाम पर तन, धन, जन से जनता रूप जनार्दन की सेवा के काम में लगे हुये है। यह पद ब्रह्म-विद्या से ही प्राप्त होगा और भारतीय सभ्यता में ही यह रहस्य छुपा हुआ है न कि पश्चिमी भोग विलास के जीवन में। हमारी तो यह दशा है

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ वर्ष का कल की खबर नहीं॥

हमारे एक समय पहनने में एक एक जोड़ा जुराब, बूट और वस्त्र काम आते हैं, पर हम ने अपने घरों में इन के सटोर बना रखे हैं, इस भान्ति देश की उपज को होड़ने से हम

वस्तुओं की मँहगाई का ही कारण नहीं बनते किन्तु दूसरों को नंगे रहने पर भी मजबूर करते हैं। ऐसे ही अन्न को छुपाने से हम अपने भाइयों को ही भूखे मारते है। यह सब किस जीवन के लिये जिस का कि एक दिन का भी भरोसा नही और जो सामग्री मरने के पीछे उस के अपने किसी काम नहीं आती। परिवार के मोह में जकड़े हुये भी सोच लें कि अमीरों की सन्तान भूखी मरती और गरीबों के बच्चे अमीरी करते भी देखे जाते हैं। इसलिये नाहक के ठेकेदार बनने में और फिर पाप की कमाई से, तुम्हारी हानि ही है लाभ कुछ नहीं। अपनी असलियत को जानों और संसार में इस नियम का पालन करो—

धर्म ग्रन्थ सब जगत के बात बतावें तीन।
राम हृदय मन दया तन सेवा में लीन॥

जभी तुम ने अपने आप को पहचान लिया फिर द्वेष किस से और ईर्षा कैसी? अपनी गुत्थी से तो सराफ चोरी नहीं करता। दूई मिटी फिर दुःख कैसा? इस मंजल तक पहुँचने के लिये जो साधन हैं वह सदाचार की जड़ हैं। सदाचार ही परम धर्म है। धर्म का फल सुख है। स्वयं धर्मात्मा बनो इसी में कल्याण है, शिक्षा देनी है तो अपने जीवन से दो बातों से नहीं। मनुष्यों के नाना रुचि होने से साधनों की भिन्नता के होते हुये भी साध्य एक ही है, सनातनधर्म इसी कारण हर एक को उस के पैर के नाप का जूता पहनने का आदेश देता है, इसी में उस का कल्याण है। सभी साधन सदाचार पर निर्भर हैं, असली सदाचार आत्म-उपमेन वृत्ति से वर्तने का ही नाम है। इस सिद्धान्त का विरोध कोई मूर्ख ही करे तो करे, मेरा तो

अन्तिम यही कहना है कि 'तुम्हें राम न विसरे' बाकी फिर सही। पहले विवेक वैराग्य अथवा यम नियम की वर्णमाला तो पढ़ो जो तुम्हें मन और इन्द्रियों को काबू करना सिखाये और आत्म-ज्ञान का अधिकारी बनाये। इन के विना तो परमानन्द की प्राप्ति के स्वप्न लेना ऐसा ही है जैसे सूत न कपास जुलाहे से लट्ठम लट्ठा। अपने ही मत की शुभ शिक्षा धारण किये विना आप को उस से कोई लाभ नहीं, उस की विशेषता जनाने के लिये व्यर्थ मगज पच्ची करनी छोड़ दो और पहले अपना सुधार करो। सत आदि की शिक्षा सभी मतों में एक समान है, यदि हम इसी को अपनालें तो फिर संसार में अशान्ति का क्या काम ? आर्य जाति अपनी दैनिक प्रार्थना में 'सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयः' को कार्य क्रम में लाकर प्राणी-मात्र के आरोग्य और सुखमय जीवन के लिये अमली तौर पर कुछ कर भी दिखाये तो फिर कौन होगा जो उस के धर्मोपदेश से लाभ उठाने का यत्न न करेगा। बातों से तो अपना सुधार भी स्वप्न तुल्य है। प्रभु कृपा करें कि हम मनुष्य बन जायें। इसी में कल्याण है न कि पशुओं की नाईं केवल भोगवाद में, जिस की ओर हम सरपट दौड़े जा रहे हैं और शान्ति चाहते हुये शान्ति के रहस्य को समझने तक का यत्न नहीं करते।

भली करियो कर्तार आशा पूर्ण होय हमारी।

हम धर्म परायण हों और आततताईयों का नामोनिशान मिटाने में तत्पर रहें। अन्तष्करण शुद्धि, व्यवहारिक शुद्धि के नियमों पर निर्भर है, इस को सदाचार कहते हैं और यही सत्त सनातनधर्म है, जो लोक परलोक सुधारने, राम राज्य की

स्थापना और आत्म साक्षात्कार का एक मात्र उपाय है। आत्म स्थिति ही वास्तविक स्वतन्त्रता है जो सर्व सुखों का मूल श्रोत है, इस का अनुभव उसी को होता है जो तन मन धन से ऊपर उठ कर कर्तव्य परायण होता हुआ इसे ही पाने का परम पुरुषार्थ करता है।

इति समाप्तम्

॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

नोट— शीघ्रता के कारण इस ग्रन्थ में भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने में रह गई त्रुटि जानने जनाने पर अगले संस्करण में शुद्ध कर दी जायगी।

मन वस कियो न आपना, स्वतंत्रता का अभिमान।
ऐसे चतुर मनुष्य को, लखिये मूरख जान॥

आत्म-पद चीन्यो नहीं, विषय भोग गलतान।
ऐसे नर और पशु में, लखिये भेद न मान॥

पुस्तक मिलने का पता—
वैद्य कविराज पं० विद्यारत्न कालिया
गेट माई हीरां, जालंधर शहर।